भारतीय संस्कृति

प्रो० शिवदत्त ज्ञानी, एम० ए०

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली : बम्बई : नई दिल्ली

मूल्य पाँच रुपये

कमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, बम्बई द्वारा, भारतीय विद्याभवन
बम्बई की आज्ञा से प्रकाशित।

गोपीनाथ सेठ द्वारा, नवीन प्रेस दिल्ली से मुद्रित।

प्राक्कथन

ज्ञानीजी की यह पुस्तक मेरी सूचना से लिखी गई है। आर्य संस्कृति का समग्र दिग्दर्शन एक ही पुस्तक में हो जाय, इस उद्देश्य को लेकर लेखक ने यह पुस्तक लिखी है। ज्ञानीजी ने इस पुस्तक के लिए बहुत मेहनत उठाई है।

'भारतीय विद्याभवन' का परम लक्ष्य है कि आर्य संस्कृति को जाग्रत करे तथा उसे दृढ बनाए। इस कार्य में यह पुस्तक मदद करेगी, ऐसी मेरी हार्दिक इच्छा है। संस्कृति-सम्बन्धी परीक्षाओं के लिए भी इसका पूरा उपयोग हो सकेगा।

बम्बई
५, सितम्बर, १९४४

—क० मा० मुन्शी

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक पू० मुन्शीजी की प्रेरणा का फल है। लेखक ने इस पुस्तक द्वारा जनसाधारण के सम्मुख भारत की प्राचीन सस्कृति के विभिन्न पहलुओं को उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। उक्त सस्कृति के आधारभूत सिद्धान्तों का विवेचन करके उसने यह समझाने का प्रयत्न किया है कि प्राचीनकालीन अन्य सस्कृतियों की अपेक्षा भारतीय संस्कृति अधिक सर्वतोमुखी, लोक-कल्याणकारी तथा उपादेय है, क्योंकि वह सत्य सनातन सिद्धान्तो पर स्थित है।

भारतीय सस्कृति के सर्वाङ्गीण विकास का विवेचन करते हुए लेखक को कितने ही विवादास्पद विषयो का विवेचन करना पडा है, यथा आर्यों का आदिम निवास-स्थान, वेदकाल-निर्णय, भारतीय सस्कृति का विश्वव्यापी प्रभाव आदि। ऐसे अवसर पर विभिन्न मतों को समझाते हुए लेखक ने अपना भी मत दिया है, किन्तु उसका यह आग्रह कदापि नही रहा है कि उसका मत ही ग्राह्य माना जाय। सुज्ञ पाठको को स्वय निर्णय का पूर्ण अधिकार तथा स्वातन्त्र्य है। लेखक की तो यही इच्छा रही है कि गुरुजनों की कृपा से जिस प्रकार उसने भारत माँ के प्राचीन गौरव के दर्शन किये है, उसी प्रकार जनसाधारण भी दर्शन करे।

पू० मुन्शीजी के अतिरिक्त गुरुवर्य डॉ० अ० स० अलतेकर (काशी विश्वविद्यालय) भी हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं। अनेको आवश्यकीय कार्य रहते हुए भी आपने अपने शिष्य की प्रार्थना मानकर प्रस्तुत पुस्तक की हस्तलिखित प्रति आदि से अन्त तक पढकर कितनी ही बहुमूल्य बातें सुझाई थीं, जिनका लेखक ने पूरा-पूरा लाभ उठाया, यद्यपि कहीं-कहीं विचार-भिन्नता के लिए भी स्थान था। गुरुवर्य डॉ० अलतेकर की

इस कृपा के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए लेखक के पास शब्द नहीं हैं।

निर्णयसागर मुद्रणालय के प्रति भी लेखक अपनी कृतज्ञता प्रकट किये बिना रह नहीं सकता, जिसने इतनी योग्यता के साथ पुस्तक-मुद्रण का कार्य सम्पादित किया। साथ ही, वहाँ के पंडित भी धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने समय-समय पर कुछ बातें सुझाई जिनसे लेखक को बहुत लाभ हुआ।

सुज्ञ पाठकों के कर-कमलों में प्रस्तुत पुस्तक को रखते हुए लेखक को आनन्द होता है। यदि यह पुस्तक पाठकों के मन में भारतीय संस्कृति के प्रति सच्चा प्रेम व सच्ची लगन उत्पन्न करने में सफल हो सके तो लेखक अपने प्रयत्नों को कृतकृत्य समझेगा।

बम्बई
भाद्रपद शुक्ला, १,
वि० सं० २०००

विनीत,
शिवदत्त ज्ञानी

पुनश्च—

परिवर्तित व सशोधित रूप में 'भारतीय सस्कृति' का द्वितीय सस्करण पाठको की सेवा मे प्रस्तुत करते हुए लेखक को आनन्द होता है। इस संस्करण में पुस्तक का कलेवर कुछ कम कर दिया गया है, साथ ही कुछ नई बाते भी जोड दी गई है, तथा विषय का प्रतिपादन इस तरह किया गया है, जिससे विद्यार्थी और साधारण पाठक दोनों की समझ मे सरलता से आ सके। अतएव इतिहास के क्षेत्र मे विवादास्पद व कम महत्त्वपूर्ण बातो तथा टिप्पणियो को आवश्यकता से अधिक स्थान नहीं दिया गया है।

लेखक 'भारतीय विद्या भवन' बम्बई का कृतज्ञ है, जिसने उसे इस पुस्तक का द्वितीय संस्करण पाठकों को भेंट करने का अवसर प्रदान किया है।

आशा है, सुज्ञ पाठक इस संशोधित संस्करण का स्वागत कर तथा प्राचीन भारतीय सस्कृति के तत्त्वों को अपने जीवन में अनुवादित कर विश्व शान्ति का मार्ग ढूँढने मे अग्रसर होंगे। इसी में लेखक के प्रयास व प्रयत्न की कृतकृत्यता है।

विनीत,

शिवदत्त ज्ञानी

बराणपुर

वि० स० २००८

विषय-सूची

१	भौगोलिक विवेचन	९
२.	सस्कृति	१७
३	हमारा नाम	२६
४	ऐतिहासिक दृष्टि	३२
५	पारिवारिक जीवन	८४
६	प्राचीन शिक्षा-प्रणाली	१०१
७	सामाजिक जीवन	११२
८	आर्थिक विकास	१५०
९	राजनीतिक विकास	१७३
१०	धर्म व दर्शन	२०१
११	साहित्यिक विकास	२३९
१२	कला व विज्ञान	२९१
१३	शारीरिक विकास	३२४
१४	विदेशो मे भारतीय सस्कृति	३३८
१५	उपसहार	३६४

१

भौगोलिक विवेचन

विस्तार व सीमा—यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से भारतवर्ष हिन्दुस्तान व पाकिस्तान ऐसे दो विभागो मे विभाजित किया गया है, तथापि भौगोलिक व सास्कृतिक दृष्टि से इस विभाजन का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। अतएव भौगोलिक विवेचन मे इस विभाजन का कोई स्थान नहीं है।

भौगोलिक दृष्टि से भारतवर्ष एक छोटा महाद्वीप ही है। यूरोप में से यदि रूस निकाल लिया जाय तो क्षेत्रफल मे यह यूरोप के बराबर हो जायगा। इसका क्षेत्रफल १,०००,००० वर्गमील है, उत्तर से दक्षिण तक इसकी लम्बाई लगभग २००० मील है व ब्रह्म देश को सम्मिलित करने पर पूर्व से पश्चिम तक इसकी चौडाई २५०० मील है।

इसके उत्तर मे पर्वतराज हिमालय है, जो हमेशा बर्फ से ढका रहता है। उत्तर छोर पर वह एक सिरे से दूसरे सिरे तक चला गया है। आजकल की परिभाषा मे ब्रह्मपुत्र और सिन्धु नदियो के दक्षिणी मोडो को उसकी पूर्वी व पश्चिमी सीमा माना जाता है। हिमालय शब्द मुख्यत उन दोनो के बीच सनातन हिम से ढकी उस परम्परा के लिए प्रयुक्त किया जाता है जिसमे नागा, नुनकुन, बन्दरपूँछ, केदारनाथ, नन्दादेवी, धौलगिरि, गोसाईंथान, गौरीशकर, कान्चनचगा, चुमलारी आदि प्रसिद्ध पहाड हे। उत्तर भारतीय मैदान व उसके बीच के पहाड-पहाडियो को और दो शृङ्खलाओ मे बॉटा गया है जिन्हे क्रमश भीतरी

या छोटी हिमालय-श्रृङ्खला और बाहरी या उपत्यका-श्रृङ्खला कहते है, और जिन्हे असली हिमालय की निचली सीढियाँ कहना चाहिए। भीतरी श्रृङ्खला का नमूना काश्मीर की पीरपन्चाल-श्रृङ्खला, कागडा-कुल्लू की धौलाधार आदि है। उपत्यका-श्रृङ्खला का अच्छा नमूना शिवालक पहाडियाँ है। यह हिमालय कम-से-कम १४०० मील लम्बाई मे है और लगभग १९००० फुट ऊँचाई मे है। इसकी चोटियाँ २५००० से २९००० फुट ऊँची है। इस पर्वतमाला मे से कही-कहीं उत्तर की ओर जाने का मार्ग भी है, जैसे गिलगिट से पामीर, लेह से तिब्बत आदि जाने का रास्ता।

भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर मे भी हिन्दुकुश, सुलेमान आदि पर्वत-श्रेणियाँ हैं। इन्ही मे खैबर, कुर्रम, बोलन आदि प्रसिद्ध घाटियाँ हैं, जिनके द्वारा कितने ही विदेशी व आक्रमणकारी भारत मे आकर बसे थे व उन्होने यहाँ के राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन मे उथल-पुथल मचाई थी। कहा जाता है कि ये घाटियाँ पहले नदियाँ थीं।

पूर्व की ओर भी भारत घने जगलों व नागा, पतकुई, आराकान आदि पर्वतो के कारण दुर्गम है, अतएव सुरक्षित है। साधारण आवा-गमन के लिए इनमे मार्ग अवश्य हैं, किन्तु इनसे बडी-बडी सेनाएँ नहीं आ सकतीं। यही कारण है कि इस दिशा से भारत पर कोई भी आक्र-मण नही हुआ।

दक्षिण में पूर्व व पश्चिम की ओर झुकता हुआ समुद्र है। ठीक दक्षिण मे हिन्द महासागर लहराता है, तथा पूर्व व पश्चिम मे क्रमश बंगाल की खाडी व अरब का समुद्र है। इस प्रकार दक्षिण भारत भौगो-लिक दृष्टि से प्राय द्वीप कहा जा सकता है। यह भाग भी प्राचीन काल में विदेशियो के आक्रमणों से सुरक्षित ही था। किन्तु व्यापार आदि के लिए विदेशियों का नौका द्वारा आना-जाना प्राचीन काल से ही जारी था। समुद्र के किनारे रहने वाले भारतीय अत्यन्त ही प्राचीन काल से दूर-दूर के देशो से व्यापार करते थे।

जलवायु, पर्वत, नदी आदि—यहाँ का जलवायु उष्ण है, क्योंकि भूमध्यरेखा इसके पास से ही जाती है व उष्ण-कटिबन्ध इसके दो त्रिकोण बनाता है। समुद्र-तटवर्ती प्रदेशो का जलवायु समशीतोष्ण व हिमालयनिकटवर्ती का अत्यन्त ही शीत है। इस प्रकार यहाँ हर प्रकार के जलवायु का अनुभव किया जा सकता है। पर्वत व नदियो के कारण भी जलवायु पर प्रभाव पडता है। पर्वत के निकटवर्ती प्रदेश साधारणतया शीत-प्रधान रहते है।

यहाँ कितने ही छोटे-बडे पर्वत है। मध्य मे विन्ध्य है, जो भारत के दो भाग करता है, यथा उत्तरभारत व दक्षिण भारत जोकि प्राचीन काल मे क्रमश उत्तरापथ व दक्षिणापथ कहलाते थे। इसके दक्षिण मे सतपुडा पर्वत है, जो दक्खन-उच्चसम भूमि पर फैला हुआ है। पश्चिम मे राजपूताने के मध्य मे अरावली पर्वत है। पश्चिमोत्तर व उत्तर-पूर्व के पर्वतो का उल्लेख तो पहले ही कर दिया गया है। दक्षिण के दोनों किनारो पर पूर्वी घाट व पश्चिमी घाट (सह्याद्रि) पर्वत स्थित हैं। मैसूर के दक्षिण में नीलगिरि पर्वत है।

इन पर्वतो से कितनी ही छोटी-बडी नदियाँ निकलकर भारत के विभिन्न भागों को सींचती हुई समुद्र मे जा मिलती है। सिन्धु नदी हिमालय मे तिब्बतवर्ती कैलाश-पर्वतश्रेणी से निकलकर आधी दूर तक उत्तर-पश्चिम की ओर बहती है, फिर हिमालय के छोर से घूमकर दक्षिण की ओर बहती हुई अरब समुद्र मे गिरती है। यह अपने उद्गम से मुख तक लगभग १५०० मील लम्बी है। यह जिस भाग में से बहती है उसको इससे जीवन मिलता है। प्राचीन काल में पंजाब व सिन्ध अत्यन्त ही उपजाऊ प्रदेश थे। इसके किनारे कितने ही बडे-बडे शहर थे। शक लोग तो इसी के किनारे आकर बस गए थे। यही कारण है कि इसका कछार 'शाकद्वीप' नाम से जाना जाता था। पंजाब की झेलम, चिनाब, सतलज, रावी, व्यास आदि नदियाँ भी इसमे मिल जाती है। इस प्रकार यहाँ नदियों का एक जाल सा बिछ गया है। यहाँ

की भूमि अत्यन्त ही उपजाऊ है। यही कारण है कि वैदिक काल से ही यह भाग बहुत आबाद था। यही नदी-जाल ऋग्वेद मे 'सप्त-सिन्धव' नाम से उल्लिखित किया गया है, जहाँ कि आर्य लोग बस गए थे। मोहन्जोदडो के स्थान पर प्राचीन सुसस्कृत नगर भी सिन्धु नदी के ही किनारे पर स्थित था।

गगा नदी हिमालय मे गगोत्री से निकलकर दक्षिण-पूर्व की ओर से उत्तरप्रदेश, बिहार व बगाल मे बहती हुई बंगाल की खाडी मे गिरती है। यह गोआलद के पास ब्रह्मपुत्र की सबसे बडी धारा मेघना से मिल जाती है। इसकी लम्बाई लगभग १५४० मील है। भारत के सास्कृतिक इतिहास मे यह नदी अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। भारतीय संस्कृति का विकास अधिकाश इसी के किनारे हुआ है। गगा और इसकी सहायक नदी यमुना दोनो ही भारत के धार्मिक जीवन मे महत्त्व का स्थान रखती है। राम और कृष्ण इन्ही नदियो के किनारे खेले व कूदे है। अधिकतर तीर्थ-स्थान इन्ही के किनारे है। प्राचीन ऋषि मुनि भी अधिकाश इन्ही के किनारे अपने-अपने आश्रमो को बसाते थे। कितने ही बडे-बडे साम्राज्य इन्ही के किनारे बने व बिगडे व इनके द्वारा कितना ही व्यापार किया गया। इस प्रकार भारतीय जीवन के हर एक पहलू मे इन नदियो का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

ब्रह्मपुत्र मानसरोवर के पूर्व से निकलकर तिब्बत मे पूर्व की ओर बहती हुई बगाल की खाडी मे गिरती है। यह लगभग १८०० मील लम्बी है। नर्मदा विन्ध्याचल मे अमरकण्टक से निकलकर उत्तर दिशा मे जबलपुर की ओर बहती हुई पश्चिम मे मुडती है और भडोच के पास खम्भात की खाडी मे गिरती है। यादव, हैहय आदि के साम्राज्य इसीके किनारे पुष्पित व पल्लवित हुए। सहस्रार्जुन कार्तवीर्य की प्रसिद्ध नगरी माहिष्मती भी इसी के किनारे थी। ताप्ती नदी मध्यप्रान्त के बैतूल जिले मे मुलताई के तालाब से निकलकर पश्चिम की ओर बहती हुई सूरत के पास अरब समुद्र मे जा गिरती है। गोदावरी, कृष्णा,

कावेरी आदि दक्षिण की नदिया पश्चिमी घाट पर्वत से निकलकर पूर्व की ओर बहती हुई बंगाल की खाडी मे गिरती है।

प्राकृतिक सम्पत्ति—प्राकृतिक सम्पत्ति की दृष्टि से भारत की बराबरी और कोई देश नही कर सकता। भारत उष्ण-प्रधान देश होने से व हिमालय के समान पर्वत के रहने से यहा मौसमी हवा का खूब दौर-दौरा रहता है, व वर्षा भी पर्याप्त मात्रा मे होती है। इसीलिए यह कृषि-प्रधान देश है। नाना प्रकार के अन्न, कपास आदि यहाँ बहुतायत से होते हैं। पजाब, उत्तरप्रदेश आदि गेहूँ के लिए, बंगाल, मद्रास आदि चावल के लिए व गुजरात, बराड आदि कपास के लिए प्रसिद्ध हैं। गोपालनादि द्वारा यहाँ घी-दूध भी बहुतायत से होता है। दक्षिण भारत मे काली मिर्च, दालचीनी, लौंग आदि गरम मसाले की सामग्री खूब होती है, जिसके व्यापार के लिए यूरोप के लोग पहले-पहल यहाँ आये थे। समस्त भारत मे नाना प्रकार के फल-फूल आदि भी बहुत होते है। इसके अतिरिक्त लोहा, कोयला, सोना, मेंगेनीज आदि कितने ही खनिज पदार्थ भी यहाँ होते है। इस प्रकार भारत-भूमि हर तरह से "रत्नगर्भा वसुन्धरा' प्रमाणित होती है।

प्राकृतिक विभाग—प्राकृतिक दृष्टि से भारत के तीन विभाग किये जा सकते हैं, जैसे उत्तरीय मैदान, दक्षिण उच्च समभूमि व दक्षिण भारत। भारत के प्राचीन इतिहास को समझने के लिए इन विभागों को समझना आवश्यक है। उत्तरीय मैदान हिमालय व विन्ध्याचल के मध्य मे स्थित है, व इसमे पजाब, उत्तरप्रदेश, बिहार व बंगाल का समावेश होता है। इस मैदान मे पत्थर का नाम नहीं है व इसमे से बहुत-सी नदियाँ बहती है। परिणामत यह बहुत उपजाऊ है। इसीलिए यहाँ मनुष्यो की आबादी भी बहुत घनी है। प्राचीन काल से ही यह भाग राजनीतिक परिवर्तनो का केन्द्र रहा है। आर्यों ने इसी मे अपनी संस्कृति को विकसित किया, बडे-बडे साम्राज्य स्थापित किये, व यही से दक्षिण पर अधिकार जमाया था। यहीं पर मानव व ऐल-

वशीय इक्ष्वाकु व पुरूरवस् के वंशजो ने अपने-अपने राज्य का विस्तार किया था। बार्हद्रथ, शैशुनाग, नन्द, मौर्य, गुप्त आदि साम्राज्य यही पर बने व बिगडे। इस प्रकार भारत के राजनीतिक इतिहास मे उत्त-रीय मैदान बहुत महत्त्वपूर्ण है।

दक्षिण की उच्चसमभूमि के दोनो सिरो पर पूर्वी व पश्चिमी घाट पहाड है व विन्ध्याचल से तुङ्गभद्रा तक इसका विस्तार है। यह भाग उत्तरीय मैदान के समान उपजाऊ नही है। इसके मध्य-भाग मे घना जंगल है, जोकि आजकल मध्यप्रदेश के बैतूल, भडारा, बालाघाट, मंडला आदि जिलो मे स्थित है। इसे आजकल 'गोंडवाना' कहते है। प्राचीन काल मे यह 'महाकान्तार' कहलाता था, जिसका उल्लेख समुद्रगुप्त के स्तम्भ लेख मे किया गया है। इस भाग ने भी भारत के प्राचीन राजनीतिक इतिहास में अपना हाथ बँटाया था। यह उत्तरीय मैदान की बराबरी नही कर सका। चन्द्रवशी ययाति के ज्येष्ठ पुत्र यदु ने यही पर राज्य स्थापित करके अपना वंश चलाया था। राष्ट्रिक, आन्ध्र, चालुक्य, राष्ट्रकूट आदि राजवशो ने यहाँ राज्य किया व भार-तीय सस्कृति के विकास मे अपना हाथ बँटाया।

दक्षिण भारत मे प्राचीन काल से ही पाण्ड्य, चोल, केरल आदि राज्य स्थापित हुए थे। पुराण तो उन्हे भी उत्तर भारतीयो से ही सम्बन्धित करते हैं, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह कथन कहाँ तक ठीक है, यह कहना कठिन है। सिहल द्वीप से इस भाग का राजनीतिक सम्बन्ध विशेष रूप से रहा है। सास्कृतिक दृष्टि से तो यह भाग भी अत्यन्त ही प्राचीन काल से भारत का एक अविकल अग बन गया था। इस भाग का वैदेशिक व्यापार बहुत बढा-चढा था।

भौगोलिक परिस्थिति व सास्कृतिक विकास—सास्कृतिक दृष्टि से यदि भारत की भौगोलिक अवस्था पर विचार किया जाय, तो कितनी ही महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होगी। नदियो को पवित्र माना जाकर पूजा जाना स्पष्टतया बताता है कि सास्कृतिक जीवन मे नदियों का

कितना महत्त्व है। भारतीय संस्कृति के बारे मे तो यह बात बिलकुल ही ठीक सिद्ध होती है। आज भी भारत मे नदियाँ देवियो के समान पवित्र मानी जाकर पूजी जाती है। इन सबमे गगा तो साक्षात् माता ही समझी जाती है। इसी नदी के किनारे प्राचीन आर्यों ने अपनी संस्कृति को विकसित किया था। चीन, बाबुल, मिस्र आदि देशो की प्राचीन संस्कृतियाँ भी नदियो के किनारे ही विकसित हुई थी। निसर्ग ने भारत पर जितनी कृपा की है, उतनी कदाचित् ही किसी अन्य देश पर की हो। अच्छे-से-अच्छा जलवायु, सुन्दर नदियाँ व झरने, मलयाचल की शीतल, मन्द, सुगन्धित वायु आदि इसे प्राप्त है। अन्न, वस्त्र, फल, फूल आदि यहाँ बहुत ही सरलता से प्राप्य है। प्रकृति देवी ने अपने सौन्दर्य को यही के जगलो, नदियो, पर्वतो आदि मे बिखेर दिया है जिससे कितने ही कवि-हृदयो ने प्रेरणा प्राप्त की है। इस बात को कौन अस्वीकार कर सकता है कि कालिदास, भवभूति, बाण आदि श्रेष्ठ कवियो ने प्रकृति देवी के ही सौन्दर्य को अपनी रचनाओ मे भर दिया है? यदि भारत मे घने जगल, नदी, पर्वत आदि न होते तो यहाँ ऐसा काव्य विकसित ही न हो पाता।

भौगोलिक परिस्थिति के कारण ही भारत-भूमि शस्यश्यामला रहती है। यहाँ रोटी का सवाल बिलकुल जटिल नही हो सकता, यदि कोई बाह्य शक्ति या बाह्य जीवन-क्रम यहाँ न रहे। प्राचीन काल मे यही हाल था। अन्न, वस्त्र आदि बहुत ही सरलता से प्राप्त होते थे, इसीलिए यहाँ के निवासी जीवन के अन्य पहलुओ पर भी अच्छी तरह से विचार कर सके। पेट खाली रहने पर ईश-भजन भी नही सूझता। भरपेट खाने के पश्चात् यहाँ के निवासी जीवन की पहेलियों को सुलझाने लगे, जीवन-मरण, जीव, ब्रह्म, जगत् आदि सम्बन्धी प्रश्न उन्हे क्षुब्ध करने लगे। परिणामत इस दिशा मे अथक प्रयत्न किये गए, जिनको हम उपनिषदादि दार्शनिक ग्रन्थों के रूप मे देख सकते है। इन्ही प्रयत्नो के परिणामस्वरूप पुनर्जन्म, ब्रह्म, जीव, योग आदि

पारलौकिक तत्त्वो व सिद्धान्तो को समझा गया। भारतीय सस्कृति मे जो पारलौकिक जीवन को महत्त्व दिया गया है, उसका यही कारण है। इस प्रकार भारतीय सस्कृति दार्शनिक भूमि पर स्थित है। भारत के निवासियो ने जीवन के हर एक अग को विकसित किया। अन्न-वस्त्रादि के सरलता से मिलने पर वे आलसी व निकम्मे नही बने, किन्तु उन्होने अपने आर्थिक, सामाजिक आदि जीवन को अधिक सुन्दर, व्यवस्थित सुसगठित बनाया। इस प्रकार मानव हित को सामने रखकर एक सुन्दर सर्वाङ्गीण सस्कृति का विकास किया गया जिसका प्रचार विदेशो मे भी हुआ था।

भारत की भौगोलिक परिस्थिति ने उसके सास्कृतिक विकास मे पूरी-पूरी सहायता दी है। यदि हिमालय, गगा, यमुना, समुद्र-तट पर्वत आदि भारत को प्राप्त न होते तो कदाचित् भारत का वही हाल होता जो अधिकाशत अफ्रीका का है, व भारतीय संस्कृति 'हब्शी-संस्कृति' से कुछ बढकर न रहती।

२

संस्कृति

◎◎◎◎◎◎

संस्कृति का भावार्थ—'संस्कृति' शब्द संस्कृत भाषा की 'संस्कृ' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय लगाने से बनता है। इसका शाब्दिक अर्थ 'अच्छी स्थिति', 'सुधरी हुई स्थिति' आदि का बोधक है। यह अर्थ तो व्याकरण की दृष्टि से हुआ। किन्तु इसका भावार्थ अधिक विशद व विस्तृत है। 'संस्कृति' से मानव-समाज की उस स्थिति का बोध होता है जिससे उसे 'सुधरा हुआ', 'ऊँचा', 'सभ्य' आदि विशेषणों से आभूषित किया जा सकता है। देश-देश के आचार-विचार भिन्न रहने से सुधार-सम्बन्धी भावना भी भिन्न रहती है। इसलिए अलग-अलग देशों की संस्कृति में भिन्नता पाई जाती है। यदि इस पर अच्छी तरह विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि इस भिन्नता के अन्तर्गत एकता अवश्य है। इसलिए भिन्नता केवल बाह्य है न कि आन्तरिक। संस्कृति के मूल तत्त्व तो सब देशों में एक-से रहते हैं, देश-काल के अनुसार बाह्य स्वरूप में अन्तर होना स्वाभाविक ही है।

संस्कृति के उद्देश्य—निसर्ग ने मनुष्य में बीज रूप से तीन प्रकार की शक्तियाँ भर दी हैं, जिनका सम्बन्ध शरीर, मन व आत्मा से है। शारीरिक, मानसिक व आत्मिक शक्तियों का विकास ही संस्कृति का मुख्य उद्देश्य है। जिस संस्कृति में इस विकास का जितना आधिक्य है, वह उतनी ही ऊँची मानी जायगी। इसे संस्कृति की कसौटी भी कहा जा सकता है।

निसर्ग ने प्राणी मात्र को शरीर दिया है, जिसे चर्मचक्षुओ से देख सकते है, व जिसे भारत की दार्शनिक भाषा मे 'स्थूल शरीर' कहते है। गर्भस्थिति से लेकर चितारोहण या गर्त-प्रवेश तक पाँच तत्त्व के इस पुतले का कैसा विकास होता है, यह एक पहेली है। इस विकास का व शरीर के विभिन्न अगो का सम्यक् अध्ययन किया जाय तो रहस्य कुछ-कुछ समझ मे आने लगेगा। इसी प्रकार तो 'शरीर-शास्त्र' के विभिन्न अङ्गो का विकास हुआ है। इन शास्त्रो को समझकर ऐसा जीवन-क्रम तैयार किया जाना चाहिए, जिससे शारीरिक शक्ति का विकास अच्छी तरह हो सके। किन्तु यह विकास ऐसा न हो जिससे अन्य शक्तियों के विकास मे किसी प्रकार भी बाधा पहुँचे। अगर ऐसा हुआ तो संस्कृति अधूरी हो रह जायगी, जैसा कि प्राचीन स्पार्टा मे हुआ था। वहाँ शारीरिक शिक्षा को ही सब-कुछ माना गया था। बालक छः महीने का हुआ कि राज-नियम के अनुसार सरकार को सौंप दिया जाता था। यदि बालक अशक्त पाया जाता तो उसे नगर के बाहर की टेकडी पर से नीचे फेंककर मार डाला जाता था। इस प्रकार स्पार्टा मे केवल शारीरिक शक्ति के वीर ही पनप पाते थे। इसके परिणामस्वरूप संसार को 'लियोनीडास' व उसके वीर सिपाही अवश्य प्राप्त हुए जिन्होने अपनी वीरता से 'थर्मोपली' को अमर बना दिया, किन्तु मानसिक व आत्मिक विकास की दृष्टि से उन्होने समय पर अपनी कोई छाप न छोडी व मानव-विकास मे अपना हाथ नहीं बँटाया। एथेन्स की संस्कृति मे मानसिक विकास पर ही अधिक जोर दिया गया था। रोम, मिस्र, बाबुल आदि की प्राचीन संस्कृतियो में भी यही अधूरापन दीखता है। इसीलिए वे संस्कृतियाँ काल की कसौटी पर सच्ची न उतर सकी, व आज केवल स्मर्तव्य शेष ही हैं। यूरोप की आधुनिक संस्कृति भी सर्वाङ्गीण नही है। आत्मिक शक्ति को तो उसने पहचानना भी नहीं सीखा। स्वार्थ से प्रेरित होकर वह भौतिक चकाचौंध मे अन्धी हुई जाती है, व उसने आसुरी सम्पत्ति का माया-जाल चहुँओर फैला दिया है। उसे तो 'संस्कृति' शब्द से सम्बोधित

करनी भी आत्मवञ्चना के समान प्रतीत होता है ।

यदि भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति को इस कसौटी पर कसें तो वह बिलकुल ही ठीक उतरेगी, क्योंकि प्राचीन भारत मे शारीरिक, मानसिक व आत्मिक शक्ति के सामञ्जस्यपूर्ण विकास को मानव-जीवन का उद्देश्य माना गया था । मानव जीवन को ऐसे ढाँचे मे ढाला गया था, जिससे निसर्ग-सिद्ध शक्तियो का सानुपातिक विकास हो सके ।

शक्तियो के विकास के साधन—प्राचीन भारत मे शारीरिक शक्ति के विकास के लिए इस प्रकार का जीवन क्रम व ऐसे नियम बनाये गए थे, जिससे शारीरिक विकास मानसिक व आत्मिक विकास के मार्ग मे रोडा न अटककर उनका सहायक ही बने । शरीर के विकास के लिए शरीर-शास्त्र को समझना आवश्यकीय माना गया था । व्यायाम, यम, नियम, प्राणायाम, आसन, ब्रह्मचर्य आदि के द्वारा शरीर के भिन्न-भिन्न अङ्गो को पुष्ट किया जाता था । यही कारण है कि प्राचीन काल के भारतीय दीर्घजीवी होते थे । वेद मे 'पश्येम शरद शतं जीवेम शरद शतम्' आदि द्वारा कम-से-कम सौ वर्ष तक जीवित रहने का सकल्प दरसाया गया है । आज तो भारतीयो की औसत आयु बाईस वर्ष के लगभग है व उन्हे साठ या सत्तर वर्ष की अवस्था मे ही ऐहिक यात्रा समाप्त करके इस दुनिया से सिधारना पडता है ।

व्यायाम के द्वारा शारीरिक शक्ति का विकास होता है जो यम, नियम आदि की सहायता से सञ्चालित किया जाता है । यह विकास मानसिक शक्ति के विकास के लिए भूमिका भी तैयार करता है । यम-नियम आदि के द्वारा इन्द्रियो पर सफल अधिकार रखना सीखा जाता है । प्राणायाम व आसन चंचल चित्तवृत्ति का निरोध करके उसे एकाग्र बनाते है । प्राणायाम फेफडो को अधिक शक्तिशाली बनाकर हृदय को शक्ति प्रदान करता है, जिससे मानसिक शक्ति के विकास मे सहायता मिले । मस्तिष्क मे शुद्ध रक्त अधिक मात्रा में पहुँचने से विचार शक्ति बढ जाती है । इस प्रकार प्राचीन भारत ने शारीरिक विकास की एक

ऐसी योजना बनाई थी जिससे मानसिक व आत्मिक विकास को पूरी-पूरी सहायता मिले। शारीरिक विकास की ऐसी व्यवस्था अन्यत्र कही नही दीखती।

सांस्कृतिक विकास मे मानसिक शक्ति का स्थान कुछ कम महत्त्वपूर्ण नही है। विश्व के प्राचीन व अर्वाचीन सभी देशो ने इसके महत्त्व को पहचानकर अपनी-अपनी योग्यतानुसार इस दिशा मे प्रयत्न किया है। प्राचीन बाबुल, मिस्र, यूनान, रोम आदि मे इस शक्ति के विकास का उत्तरदायित्व साधारणतया धर्माचार्यों पर ही था। यूनान, रोम आदि में शासन की ओर से भी नियन्त्रण रहता था, किन्तु मानसिक विकास सर्वाङ्गीण नही हो पाता था। इसका कारण यही है कि इन देशो ने निसर्ग सिद्ध शक्तियों का वैज्ञानिक अध्ययन नही किया था। जिन-जिन बातों की उन्हें आवश्यकता हुई उन-उनकी पूर्ति के लिए जितने मानसिक विकास की आवश्यकता थी उतना ही उन्होने किया। अन्य संस्कृति के संसर्ग से प्राप्त नई सामग्री को भी उन्होने स्वीकार कर लिया। प्राचीन यूनान, रोम, मध्यकालीन यूरोप आदि की संस्कृतियाँ इसी सिद्धान्त के उदाहरण हैं।

प्राचीन भारत मे मनुष्य के अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग को अच्छी तरह से समझा गया था। सांख्य, योग आदि दर्शनो ने इस दिशा में विशेष प्रगति की थी। कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि, सूक्ष्म-शरीर, स्थूल-शरीर आदि के ज्ञान द्वारा भारत मे मानसिक विकास की एक सुन्दर योजना बनाई गई थी, जिसे आश्रम व्यवस्था की सहायता से सफल बनाया जाता था। मानसिक विकास की ऐसी व्यवस्था अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं है।

प्राचीन भारत के ऋषियों ने विश्व की पहेलियों को समझना ही मानसिक विकास का उद्देश्य माना। उन्होंने जीव व ब्रह्म की गुत्थियों को सुलझाकर उनमें भी एकत्व के दर्शन करने का प्रयत्न किया जैसा कि वेद, उपनिषद् आदि मे उल्लिखित है। उन्होंने परमात्मा को उसकी कृति

से समझने की कोशिश की, मानव-सेवा को ही परमात्म-सेवा समझा, जिस प्रकार कवि सम्राट रवीन्द्र ने तेज धूप में खेत जोतने वाले किसानो मे परमात्मा के दर्शन किए, किसी मन्दिर मस्जिद या गिरजे मे नहीं।

परमात्मा की महिमा को उसकी कृति से समझने के भाव से प्रेरित होकर प्राचीन भारत के ऋषियो ने जगल में बसना उचित समझा, क्योकि वहीं तो परमात्मा के रहस्यो को समझाने वाली प्रकृति देवी के साक्षात्कार हो सकते है, वही पुरुष व प्रकृति का नग्न अट्टहास देख व समझ सकते है। यही कारण है कि आश्रम-व्यवस्था की प्रथा के अनुसार ब्रह्मचारियो व वानप्रस्थियो को अपना जीवन जगल मे ही व्यतीत करना पडता था। वहाँ के शुद्ध वातावरण मे गुरुकुल रहते थे, जहाँ प्राचीन भारत के ब्रह्मचारी ब्रह्म-प्राप्ति मे प्रयत्नशील होते थे। वे केवल विद्या मे ही रत न रहते थे। उपनिषदो के अनुसार केवल विद्या मे रत रहने वाले महान् अन्धकार मे रहते हैं। अन्य देश तो केवल विद्यार्थी पैदा करते थे, किन्तु भारत ब्रह्मचारियों को जन्म देता था। जो आजन्म ब्रह्मचारी रहते थे, वे समय की गति व इतिहास के पृष्ठो को भी बदल देते थे। हनुमान, भीष्म पितामह, रामदास, दयानन्द आदि ऐसे ही ब्रह्मचारी थे। इस प्रकार गुरुकुल के ब्रह्मचारी परमात्मा की कृति का अध्ययन करके उसकी लिखी हुई पुस्तक को अच्छी तरह पढकर, मानसिक विकास में अग्रसर होते थे, जिससे आत्मिक विकास मे पूरी-पूरी सहायता मिले। आत्मिक विकास के महत्त्व को जितना पहले व जितना अधिक प्राचीन भारत समझा था, उतना और कोई देश न समझ सका। आधुनिक यूरोप तो आत्म-चिन्तन की जरा भी परवाह नहीं करता। आत्मिक विकास के लिए प्राचीन भारत के ऋषियो ने जो साधन बनाये थे, उनमे अष्टाङ्ग-योग का स्थान बहुत ऊँचा है, पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी आत्मिक विकास मे सहायक बनता है।

सचमुच मे जब तक आत्मा को नही समझा जाता, तब तक सब ज्ञान अधूरा ही रहता है। हम स्वत यह भी नहीं जान पाते कि हम

कौन है, किस प्रकार इस हाड, मांस, चाम के पुतले मे समा गए, व जब निकलते है, तब कहाँ जाते है। हमने उत्तर व दक्षिण ध्रुव को खोज डाला, अफ्रिका के घने जगल मथ डाले, दुनिया-भर को ढूँढ मारा, जंगल के जानवरो व आकाश मे उडने वाले पक्षियो को समझ लिया, किन्तु हम अपने-आपको न समझ पाए। प्रचीन भारत के ऋषियो ने यही कहा कि "आत्मान विजानीहि" (अपने-आपको पहचानो)। यूनान के दार्शनिक सुकरात ने भी कहा—"Know thyself" (अपने-आपको पहचानो), जिसके लिए उसे विष का प्याला पीना पडा।

आत्म-दर्शन व भारतीय सस्कृति—आत्म-दर्शन ही भारतीय संस्कृति का निचोड है। आज भी भारत का चरवाहा गाता सुनाई देता है—"प्यारे मन की गठरी खोल, उसमे लाल भरे अनमोल।" ध्रुव, प्रह्लाद, बुद्ध, महावीर, शकर, कबीर, तुलसी, नरसिह मेहता, तुकाराम आदि के जीवन-चरित्र भी आत्म जागृति की ओर ही ले जाते है। भारतीय सस्कृति के अनुसार, आत्मा को समझकर उसे जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त करना ही मानव-जीवन का एक-मात्र ध्येय है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि की प्राप्ति के लिए ही मनुष्य को जीवित रहना चाहिए, न कि किसी देश-विशेष या राष्ट्र-विशेष की राज्य-पिपासापूर्ण महत्त्वाकाक्षाओ की तृप्ति के लिए। भारत के दर्शन, साहित्य, काव्य, कला आदि इसी वर्ग चतुष्टय की प्राप्ति के लिए विकसित हुए थे।

आत्म-विकास के मार्ग मे कठिनता—आत्म-विकास का मार्ग बहुत ही कठिन माना जाता था। इस पर चलने वाले तो बिरले ही रहते थे, जो तप व परिश्रम से आत्म-सिद्धि करके जन साधारण के हित के साधन ढूँढते थे। भले ही जन-साधारण इस मार्ग पर चल न पाते हों, किन्तु उन्हे इसका पता तो अवश्य रहता था। वे यह भी भली भाँति जानते थे कि इसी मार्ग पर चलना मानव-जीवन का अन्तिम ध्येय है। इसी भावना से प्रेरित होकर वे अपनी शारीरिक व मानसिक शक्तियों को सञ्चालित करते थे।

प्राचीन काल की अन्य सुस्कृतियो मे आत्म तत्त्व को कोई महत्त्व का स्थान नही दिया गया था। इस सम्बन्ध मे उनका ज्ञान अधूरा ही था अथवा वे अपनी बाल्यावस्था मे ही थी। इतिहास इस बात की साची देता है कि आत्म-तत्त्व के कितने ही सिद्धान्त अन्य देशों ने प्राचीन भारत से सीखे थे। इस प्रकार प्राचीन भारत की सस्कृति पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि उसने सर्वांगीण मानव विकास को ही अपना ध्येय माना था।

प्राचीन भारत मे सास्कृतिक विकास—सास्कृतिक विकास विभिन्न रूपो से देखा जाता है। एक सुसस्कृत व्यक्ति ससार की पहेलियो को समझने का प्रयत्न करता है, तथा प्रकृति के भिन्न-भिन्न अंगो को जानने का इच्छुक भी रहता है। इस प्रकार विभिन्न विद्या, शास्त्र, कला आदि के विकास का प्रारम्भ होता है। सस्कृति के विकास मे इन सबका अपना-अपना स्थान है। किसी भी देश की सस्कृति तब तक समझी नहीं जा सकती, जब तक कि वहाँ के भिन्न भिन्न शास्त्र, विद्या, कला आदि भली भाँति जान न लिये जायँ। प्राचीन भारत मे विभिन्न शास्त्र, विद्या, कला आदि का पर्याप्त विकास हुआ था, जिसका बीज वेदो में पाया जाता है। प्राचीन भारत के धर्म, दर्शन, राजनीति, समाज शास्त्र, अर्थ शास्त्र, विज्ञान, कला आदि पर आगे विस्तृत रूप से विचार किया जायगा, जिससे प्राचीन भारतीय सस्कृति अपने सच्चे स्वरूप में देखी जा सके।

भारतीय सस्कृति का महत्त्व—निसर्ग सिद्ध शक्तियो के विकास की कसौटी पर चढाने से प्राचीन भारतीय संस्कृति सच्ची उतरती है, इसलिए वह देश, काल आदि से बाधित नही हो सकती। वह सब देशों के लिए व सब समय के लिए उपयोगी हो सकती है। इसलिए इस प्राचीन सस्कृति को केवल ऐतिहासिक बताकर आजकल के लिए अनुपादेय मानना उचित नहीं है। इसने प्राचीन कालीन सस्कृतियो को किसी न-किसी रूप मे प्रभावित किया था। प्राचीन चीन, बाबुल, मिस्र,

यूनान, रोम आदि की सस्कृतियो पर प्राचीन भारत के दर्शन, धर्म साहित्य, भाषा, कला आदि का प्रभाव स्पष्टतया दिखा देता है। यूरोप की जिस सस्कृति ने आज विश्व को प्रभावित किया है उसकी जड़ो मे भी भारतीय सस्कृति की छाप दिखाई देती है। यूरोप की वर्तमान सस्कृति के मूलभूत सिद्धान्त समता, स्वातन्त्र्य व भ्रातृत्व हैं, जिनको रूसो ने अपनी क्रान्तिकारी पुस्तक 'सोशल कॉण्ट्रैक्ट' मे प्रतिपादित किया था। रूसो ने इस पुस्तक के लिए प्रेरणा प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू से प्राप्त की थी, और अरस्तू पर भारतीय सस्कृति का प्रभाव सर्वमान्य है। यूरोप की मध्यकालीन शैक्षणिक सस्थाओ पर तत्कालीन ईसाई मठो का अधिक प्रभाव था, व इन मठो पर बौद्ध मठो का असर साफ-साफ दिखाई देता है। ईसा की ११वी तथा १२वी शताब्दी मे यूरोप ने विभिन्न शास्त्र तथा विद्याएँ स्पेन के अरब-विश्वविद्यालयो मे सीखी। अरबो ने यह सब ज्ञान भारत से ही लिया था, जैसा कि वे स्वत स्वीकार करते है। इस प्रकार यूरोप की वर्तमान सस्कृति की जड़ों मे प्राचीन भारतीय सस्कृति का प्रभाव स्पष्ट है।

बीसवी शताब्दी की कृत्रिमता—इस बीसवी शताब्दी मे कृत्रिमता ने मानव-समुदाय पर पूरा अधिकार जमा लिया है, दैवी सम्पत्ति के बदले आसुरी सम्पत्ति का साम्राज्य छा गया है, स्वार्थ, द्वेष, वैमनस्य आदि का दौरदौरा है, प्रत्येक बात धन की तराजू पर तोली जाती है, धनवान् ही विद्वान्, कुलीन, ज्ञानवान् आदि माना जाता है, साराश में, जिसके पास धन है वही सुसंस्कृत माना जाता है। यह बात अवश्य है कि वर्तमान युग के वैज्ञानिक विकास के द्वारा प्रकृति के कुछ रहस्यों को समझ लिया गया है, किन्तु उस ज्ञान का उपयोग भी एक दूसरे के नाश के लिए किया जा रहा है। इतना सब होते हुए भी पाश्चात्य जगत् अपने को सुसस्कृत तथा अपनी संस्कृति को एक आदर्श सस्कृति मानने में नहीं हिचकिचाता। आजकल जो बुराइयाँ दीख रही है उनमे से अधिकांश का कारण १८वी शताब्दी की औद्योगिक क्रान्ति है, जिसके परिणाम-

स्वरूप मनुष्य की शक्ति का स्थान यन्त्रो की शक्ति ने लिया। यन्त्र युग के प्रादुर्भाव ने समाज की सम्पूर्ण व्यवस्था को बदल दिया। इससे समाज मे ऐसी विषमता उत्पन्न हो गई है कि उसे दूर करना बहुत ही मुश्किल हो गया है। इन यन्त्रो ने गरीबो के सूखे टुकडे छीनकर धनवानो को हलुआ पूडी खिलाया है। परिणामत एक ओर तो निर्धनता अपना नग्न अट्टहास करने लगी व दूसरी ओर धन-बाहुल्य से स्वार्थपूर्ण विलासिता अपना साम्राज्य स्थापित करने लगी, पूँजीपति व मजदूरो के झगडे खडे हुए, शक्तिशाली राष्ट्र अशक्त व असभ्य देशो को व्यापार, वाणिज्य, सत्ता आदि के क्षेत्र बनाने लगे। यूरोप के राष्ट्रों मे यह अहमहमिका इतनी बढ़ी कि वे स्वार्थान्ध होकर एक-दूसरे का गला घोटने लगे। ऐसी परिस्थिति मे विश्व को कहीं शान्ति मिल सकती है तो भारत की प्राचीन सस्कृति से ही मिल सकती है।

बीसवी शताब्दी व भारतीय सस्कृति—इस कृत्रिमतापूर्ण बीसवीं शताब्दी मे तो भारतीय सस्कृति का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। जबकि ससार का एक व्यक्ति दूसरे का गला घोटता हो, एक समाज दूसरे समाज का खून चूसने को तैयार हो, जबकि चहुँ ओर स्वार्थ, द्वेष, वैमनस्य के वातावरण में हिसा का साम्राज्य छाया हो, ऐसे समय मे मानव-जाति की रक्षा सनातन सिद्धान्तो पर स्थित भारतीय संस्कृति ही कर सकती है, वह सस्कृति जिससे अहिसा सत्य व तप की त्रिवेणी आदि काल से बहती हो। इन्ही सिद्धान्तो की भूमिका पर राष्ट्र-पिता महात्मा गांधी ने स्वतन्त्र भारतीय राष्ट्र का निर्माण किया है। हिसा से परितप्त विश्व भी यदि शाश्वत शान्ति का अनुभव करना चाहता है तो उसे भी भारतीय सस्कृति के मूलभूत सिद्धान्त अहिसा, सत्य व तप को अपनाना होगा।

३

हमारा नाम

आर्य-हिन्दू विवाद—आज हमारा देश 'हिन्दुस्तान' नाम से जाना जाता है, तथा हम लोग 'हिन्दू' नाम से सम्बोधित किये जाते है। साथ ही एक पक्ष इस बात का भी समर्थन करता है कि यह नाम हमारे लिए सास्कृतिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से उपयुक्त नही है। हमारा प्राचीन नाम 'आर्य' है व हमारा देश 'आर्यावर्त' व 'भारतवर्ष' कहलाता था। अतएव इस पक्ष के अनुसार हम 'हिन्दू' व 'हिन्दुस्तान' के स्थान मे 'आर्य' व 'आर्यावर्त' या 'भारतवर्ष' स्वीकार लें। वास्तविक रूप मे, हमारे समाज में 'आर्य' शब्द से किसी को घृणा नहीं थी। आर्यसमाज के प्रादुर्भाव के पश्चात् उसके विरोधियों ने 'आर्य' शब्द का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। परिणामस्वरूप, आर्य-हिन्दू विवाद का जन्म हुआ। निष्पक्ष भाव से इस प्रश्न पर दृष्टि डालने से स्पष्ट होगा कि मुस्लिम आक्रमणों के पूर्व हमारे पूर्वज अपने को आर्य ही कहते थे, तथा इस देश को आर्यावर्त या भारतवर्ष कहते थे।

सस्कृत साहित्य मे 'हिन्दू' शब्द अप्राप्य—सस्कृत साहित्य में हिन्दू नाम का उल्लेख नहीं आता। कुछ लोग 'हिन्दू' शब्द को ऋग्वेद से सिद्ध करने का प्रयत्न करते है। उनके मतानुसार वेदकालीन आर्य जिस देश में रहते थे, उसका नाम 'सप्तसिन्धु' था। उसी सप्तसिन्धु से 'हप्तहिन्दु' हुआ व बाद मे 'हिन्दुस्थान' 'हिन्दू' आदि शब्द बन गए। किन्तु इस मन्तव्य के लिए ऐतिहासिक, साहित्यिक आदि कोई भी

प्रमाण नही है , भाषा-शास्त्र के नियमो से भी यह सिद्ध नहीं किया जा सकता। ऋग्वेद मे किसी देश-विशेष के नाम का उल्लेख नहीं है, किन्तु नदी तथा पर्वतों के नाम निदिष्ट है। इसी प्रकार भरत, द्रुह्यु, अणु आदि राजाओं के नामो का भी उल्लेख है। ऋग्वेद मे 'सप्तसिन्धु' शब्द का उल्लेख कुछ स्थलो पर आता है। सायण आदि ने उसका अर्थ 'सात नदियाँ' किया है। वे नदियाँ इस प्रकार है—सिन्धु, वितस्ता, शुतुद्री, असिक्नी, परुष्णी, सरस्वती, कुम्भा (अथवा गगा व यमुना)। कदाचित् यह शब्द सात नदियो से घिरे हुए देश विशेष का भी द्योतक हो, किन्तु इससे यह कदापि प्रमाणित नहीं हो सकता कि वैदिक काल मे समस्त देश 'सप्तसिन्धु' कहलाता था।

प्राचीन साहित्य में उल्लिखित नाम—मनुस्मृति (ई० पू० २०० वर्ष के लगभग) के दूसरे अध्याय (श्लोक १७-२२) मे भारतवर्ष की भौगोलिक सीमा का वर्णन आता है, जोकि इस प्रकार है

"सरस्वती व दृषद्वती नदियो के मध्य जो है, वह देवनिर्मित देश 'ब्रह्मावर्त' कहाता है। उस देश मे परम्परागत जो आचार है वही भिन्न-भिन्न शाखाओ सहित वर्णों के लिए सदाचार है। कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पान्चाल, शूरसेनक आदि सब मिलकर ही ब्रह्मर्षि देश बनता है, जो ब्रह्मावर्त के पश्चात् है। इस देश मे उत्पन्न हुए ब्राह्मणों से भूमण्डल के सब लोगो को अपना-अपना चरित्र सीखना चाहिए। हिमालय तथा विन्ध्याचल के मध्य, विनशन के पूर्व तथा प्रयाग के पश्चिम मे जो देश है वह मध्य देश कहा जाता है। पूर्वीय समुद्र से लेकर पश्चिमी समुद्र तक तथा हिम-विन्ध्य पर्वतों के मध्य मे जो देश है वह विद्वानों द्वारा 'आर्यावर्त' नाम से जाना जाता है।"

गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त (ई० स० ३३०–३७९ वर्ष) के प्रयाग-स्थित स्तम्भ-लेख में, उसकी दिग्विजय का वर्णन है, जिसमें इस देश के विभिन्न भागों के नामो का उल्लेख है, यथा (१) दक्षिणापथ—कोसल, महाकान्तार, केरल, पिष्टपुर, महेन्द्रगिरि, कौट्टूर, एरण्डपल्ल,

काची, अवमुक्तक व वेङ्गी, (२) आर्यावर्त, (३) प्रत्यन्त—समतट, डवाक कामरूप नेपाल व कर्तृपुर।

पौराणिक साहित्य मे भी विभिन्न स्थलो पर 'आर्य', 'आर्यावर्त,' 'भारतवर्ष' आदि नामो का उल्लेख आता है, 'हिन्दू' शब्द कही भी उल्लिखित नही है। विष्णु पुराण (२।३।१) में कहा है कि समुद्र के उत्तर में व हिमालय के दक्षिण मे जो 'वर्ष' है, उसका नाम भारत है, जहाँ 'भारती' सन्तति है। वायु पुराण (४५।६६) मे कहा है कि यह वही भारतवर्ष है जिसमे स्वायम्भुव आदि ने जन्म लिया है। विष्णु पुराण (२।१।१८–२३) मे जम्बूद्वीप के विभागो का वर्णन आता है, जहाँ हेमकूट, नैषध, इलावृत, गन्धमादन आदि वर्षों का उल्लेख है। उसी पुराण (२।१।४१) में आगे चलकर कहा गया है कि भारतवर्ष नौ भेदो से अलकृत है। वायु पुराण (४५।७५, ७६) मे एक स्थल पर आया है कि समुद्र के उत्तर व हिमालय के दक्षिण में जो वर्ष है वह 'भारत' है, जहाँ भारती प्रजा रहती है। प्रजा के भरण-पोषण के कारण मनु ही भरत कहलाता है। इसीलिए यह वर्ष निरुक्त-वचन के अनुसार 'भारत' कहाता है। 'काव्य मीमासा' (ईसा की १०वी शताब्दी) मे भौगोलिक दृष्टि से भारत के विभिन्न भागो का वर्णन किया है, जोकि इस प्रकार है

"वह भगवान् मेरु प्रथम वर्ष-पर्वत है। उसके चारो ओर 'इलावृत्तवर्ष' है। उसके उत्तर में श्वेत, नील, श्रृङ्गवान् नामी तीन वर्ष हैं। रम्यक, हिरण्यमय, उत्तर कुरु आदि उनके देश है। दक्षिण में भी निषध, हेमकूट, हिमवान् तीन (वर्ष) पर्वत हैं। हरिवर्ष, किम्पुरुष, भारत आदि (उनके) तीन देश है। उनमे यह 'भारतवर्ष' है। और इसके नौ भेद है, यथा इन्द्र द्वीप, कसेरुमान्, ताम्रपर्णा गभस्तिमान्, नागद्वीप, सौम्य, गन्धर्व, वरुण व कुमारी। पूर्वीय व पश्चिमीय समुद्र तथा हिमालय व विन्ध्याचल के मध्य में आर्यावर्त है। यहीं पर चार वर्ण व चार आश्रम पाये जाते हैं। सदाचार की जड भी वही पर है।"

इन प्रमाणो के अतिरिक्त अन्य कितने ही साहित्यिक तथा ऐतिहासिक प्रमाण दिये जा सकते है, जिनसे स्पष्टतया यह प्रमाणित होता है कि हमारा देश 'आर्यावर्त', 'भारतवर्ष' आदि नामो से ही सम्बोधित किया जाता था, तथा हमारे पूर्वज अपने को 'आर्य' ही कहा करते थे, न कि 'हिन्दू'। 'नाट्य-शास्त्र' (ईसा की दूसरी शताब्दी) के नियम के अनुसार सस्कृत नाटक मे नायिका अपने नायक को 'आर्य पुत्र' नाम से सम्बोधित करती है। किसी भी धार्मिक कृत्य का सकल्प लेते समय आज भी "जम्बू द्वीपे भरत खण्डे ..." आदि शब्दों को उच्चारित किया जाता है। इन प्रमाणों के आधार पर यह निर्विवाद रूपसे कहा जा सकता है कि मुस्लिम आक्रमण के पूर्व हमारे पूर्वज अपने को 'आर्य' तथा अपने देश को 'आर्यावर्त्त', 'भारतवर्ष' आदि कहते थे। ऐसी परिस्थिति मे स्वभावत यह शङ्का हो सकती है कि यदि 'हिन्दू' शब्द प्राचीन व हमारा नहीं है तो आज हम सब अपने को एक स्वर से 'हिन्दू' क्यों कहते है? इतिहास की सहायता से यह बात भी समझ मे आ जाती है।

'हिन्दू' शब्द का ऐतिहासिक विवेचन—'हिन्दू' शब्द का जन्म सिन्धु शब्द से होता है। आधुनिक पारसियो के पूर्वज, जो कि ईरान देश मे बसे थे, भारतीय आर्यों को 'हिन्दू' नाम से ही जानते थे। वे स्वत भी आर्य थे तथा भारतीय भी आर्य थे। ऐसी अवस्था मे भारतीयों को विशिष्ट रूप मे सम्बोधित करना स्वाभाविक ही था। इसलिए कदाचित् उन्होंने भारतीयो को 'हिन्दु' नदी के पारवर्ती आर्य या 'हिन्दु-आर्य' कहकर हिन्दू नाम को उपयुक्त किया होगा। यहाँ यह जानना आवश्यकीय है कि प्राचीन ईरान-निवासी सस्कृत 'स' के स्थान में 'ह' का उच्चारण करते थे। सस्कृत भाषा का 'स' जेन्द भाषा मे 'ह' हो जाता है। इस प्रकार प्राचीन ईरानियों ने सर्वप्रथम हमारे लिए 'हिन्दु' शब्द प्रयुक्त किया। उनके धर्मग्रन्थ अवेस्ता (वेनिदाद १।१८) मे इन सब बातो का स्पष्ट उल्लेख है। यह ग्रन्थ ईसा के पूर्व सातवीं शताब्दी के लगभग का है।

प्राचीन अरब के निवासी भी हमे 'हिन्दू' व हमारे देश को 'हिन्द' कहते थे। अङ्क-गणना का नाम उन्होने 'हिसा' रखा था, जो 'हिन्द-सा' से बना है, जिसका मतलब होता है हिन्द अथवा भारतवर्ष के समान। कुछ विद्वानों का यह भी मन्तव्य है कि प्राचीन अरबी साहित्य मे 'हिन्द' 'हिन्दू' आदि नामो का उल्लेख आता है। अरब के निवासी भी ईरानियों के समान 'हिन्दू' नामो का प्रयोग करने लगे। प्राचीन यूनानियों का भारतीयो से प्रत्यक्ष सम्पर्क सर्वप्रथम ईरान मे हुआ था। इसलिए उन्होने भी ईरानियों के समान भारतीयो के लिए 'हिन्दू' शब्द प्रयुक्त किया। किन्तु यह 'हिन्दू' शब्द यूनानी भाषा मे 'इण्डु' अथवा 'इण्डो' हो गया, और भारतवर्ष 'इण्डिका' कहलाने लगा जिस पर से 'इण्डिया' व 'इण्डियन' नाम पडे। जिन-जिन विदेशियो के सम्पर्क में भारतीय आये, उन्होने 'हिन्दू' शब्द के किसी विकृत रूप का प्रयोग किया। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनत्सेङ् (ईसा की ७वी शताब्दी का पूर्वार्ध) भी अपने ग्रन्थ मे भारत के लिए 'यिन्दु' नाम प्रयुक्त करता है और यह शब्द 'हिन्दू' से बना है। इसी प्रकार मुसलमानों ने भी भारतीयों को 'हिन्दू' तथा भारतवर्ष 'हिन्द' अथवा हिन्दोस्ताँ नाम से सम्बोधित किया। कतिपय सज्जनों का मत है कि 'हिन्दू' शब्द' फारसी भाषा का है, तथा इसका अर्थ काला, बदमाश, गुलाम आदि होता है, व मुसलमानो द्वारा ही यह नाम सर्वप्रथम हमको दिया गया। किन्तु ऐतिहासिक प्रमाण तो यह सिद्ध करते हैं कि मुसलमानों के जन्म के पूर्व भी 'हिन्दू' शब्द का अस्तित्व था। यदि किसी शब्द का अर्थ अन्य भाषा मे बदल जाय तो उससे भयभीत नहीं होना चाहिए।

'हिन्दू' शब्द का अपनाया जाना—मुसलमानों के आगमन-काल में हिन्दी आदि विभिन्न भाषाओ ने अपना आधुनिक रूप धारण करना प्रारम्भ कर दिया था। इस विकास पर मुस्लिम शासकों का भी प्रभाव पड़ा। अरबी, फारसी आदि भाषाओ के कितने ही शब्द हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओ मे पाये जाते हैं। उर्दू भाषा का प्रादुर्भाव

भी इस प्रभाव का एक उदाहरण कहा जा सकता है। इसी प्रकार इन भाषाओं मे 'हिन्दू', 'हिन्दुस्तान' आदि शब्द भी अपना लिये। इसी समय भारत का सामाजिक सगठन ढीला-सा पड गया था। शक, हूण आदि के समान मुस्लिमो को पचा लेने के बदले भारतीय समाज अपनापन खोकर उनसे प्रभावित हुआ व उसने 'हिन्दू', 'हिन्दुस्तान' आदि नाम अपना लिये। हिन्दी आदि भाषाओ के साहित्य मे भी 'आर्य' आदि के बदले 'हिन्दू' शब्द ही प्रयुक्त किया जाने लगा। हिन्दी साहित्य मे तो प्रारम्भिक काल से ही इन शब्दो को अपना लिया गया था जैसा कि चन्दबरदाई के 'पृथ्वीराज रासौ' मे स्पष्ट होता है। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'हिन्दू' तथा 'हिन्दुस्तान' नाम मुस्लिम आक्रमणो के पश्चात् भारतीय साहित्य तथा बोलचाल मे प्रचलित हुए। किन्तु सस्कृत साहित्य मे तो 'आर्य', 'आर्यावर्त', 'भारतवर्ष' आदि नाम ही प्रयुक्त होते रहे।

भारत के विभिन्न नामो का ऐतिहासिक विवेचन—भारतवर्ष के विभिन्न नामों पर ऐतिहासिक दृष्टि डालने से पता लगेगा कि वे नाम किस प्रकार भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक युगो के सूचक हैं। 'आर्यावर्त' उस अत्यन्त ही प्राचीन काल की स्मृति दिलाता है, जबकि आर्य-सस्कृति का सूर्य निकल रहा था, आर्य-ऋषि अपने आत्मिक विकास के द्वारा वैदिक ऋचाओ के दर्शन कर रहे थे और इस प्रकार आश्चर्यजनक वैदिक वाड्मय का निर्माण किया जा रहा था। 'आर्यावर्त' नाम सुनकर ही हमारे मानस चक्षुओ के सामने वेदकालीन आर्यों का चित्र खिच जाता है, जिन्होने प्राचीन काल मे अपनी विजय-पताका विश्व के विभिन्न भागों मे फहराई थी। 'भारतवर्ष' नाम सुविख्यात भरत-वश से सम्बन्धित है। यह नाम एक ऐसे युग का द्योतक है, जबकि आर्य-संस्कृति का सूर्य ऊँचा उठ चुका था व उसकी तीव्र किरणें चहुँ ओर फैल रही थी। प्राचीन साहित्य का विद्यार्थी भरत-वंश के ऐतिहासिक महत्त्व को भली भाँति समझ सकता है। यह नाम आर्यों के

राजनीतिक विकास का भी द्योतक है। इसको सुनते ही तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति का साक्षात्कार हो सकता है। 'हिन्दुस्थान' व 'इण्डिया' नाम एक ऐसे युग के सूचक है, जब इस देश के निवासी अपने सच्चे अस्तित्व को भूल चुके थे और आर्य सस्कृति का सूर्य अस्ताचल के निकट पहुँच रहा था। ये नाम भारतीयो की मानसिक दासता के सूचक हैं और यह दासता राजनीतिक दासता से ही उत्पन्न होती है। विदेशी नाम व रीति-रिवाजो को अपनाना यह स्पष्टतया बताता है कि सास्कृतिक श्रेष्ठता भुला दी गई है। विजेताओ के द्वारा पद दलित किये जाने पर यह मान लिया जाता है कि विजेताओ का सास्कृतिक प्रभुत्व भी स्थापित हो गया है।

उपसहार—साराश में यह कहना चाहिए कि वैदिक काल से 'आर्य', 'आर्यावर्त', 'भारतवर्ष' आदि नाम प्रचलित थे। 'हिन्दू' नाम का सर्वप्रथम प्रयोग ईरानियो ने किया। अरब, यूनान, चीन आदि देशों के प्राचीन निवासियों ने भी इसी शब्द के विभिन्न अपभ्रंशो का प्रयोग किया। मुस्लिमों ने भी इसी नाम को अपनाया। मुस्लिम-शासन में भारतीय अपनी सस्कृति से बिछुडने लगे व विदेशियों से प्रभावित होकर 'हिन्दू', 'हिन्दुस्तान' आदि नामों का प्रयोग करने लगे। किन्तु भारतीयों को चाहिए कि वे अपने प्राचीन नामों को ही अपनाएँ, क्योकि 'आर्य', 'आर्यावर्त', 'भारतवर्ष' आदि नाम हृदय में प्राचीन गौरव की दिव्य छटा का आभास करा सकते हैं। राष्ट्रीय भावना की जागृति इन्हीं प्राचीन नामो से हो सकती है न कि विदेशियो द्वारा दिये गए 'हिन्दू' आदि नामों से। प्रत्येक भारतीय को अपने गौरवान्वित प्राचीन नामो को अपनाना चाहिए।

४

ऐतिहासिक दृष्टि

(१)

ऐतिहासिक समस्या

(क) आर्य लोग

आर्यों का ऐतिहासिक महत्त्व—भारत की सस्कृति व उसके इतिहास का सूत्रपात आर्यों से ही होता है। आर्य लोग कौन थे व उनका आदिम निवास-स्थान कहाँ था, आदि प्रश्न इतिहासकारो के लिए बडे जटिल बन गए है। किन्तु ऐतिहासिक खोज के परिणामस्वरूप आर्यों का ऐतिहासिक महत्त्व बहुत बढ़ गया है। प्राचीन कालीन विभिन्न भाषाओ व सस्कृतियो के आश्चर्यजनक साम्य और उन पर आर्यत्व की छाप के स्पष्टतया दृष्टिगोचर होने के कारण यह मन्तव्य उपस्थित किया जाता है कि प्राचीन काल मे आर्यों का विस्तार व प्रभाव समस्त यूरोप व अधिकाश एशिया मे था, और कदाचित् अन्य भूभाग पर भी हो। इस मन्तव्य की मुख्य आधारशिला भाषा-साम्य व सास्कृतिक साम्य है।

भाषा-साम्य व तुलनात्मक भाषा-शास्त्र—यूरोप व एशिया में बोली जाने वाली कितनी ही भाषाओ के रूप व उच्चारण का शास्त्रीय परीक्षण करने पर ज्ञात हुआ है कि वे एक-दूसरे से सम्बन्धित है व उनका आदिमूल एक ही है। इस प्रकार उन भाषाओ का एक परिवार बनाया गया जिसमे हेलेनिक, इटेलिक, केल्टिक, ट्यूटोनिक, स्लेव्हो-

निक, लिथ्यूनिक या लेटिक अल्बेनियन आदि यूरोप की भाषाएँ, सस्कृत से बनी चौदह भारतीय भाषाओ का समुदाय, इण्डिक, जेन्द, फारसी, पुश्तु या अफगान, बलूची, कुर्दिश व ओसेटिक भाषाओ का समुदाय इरानिक, आर्मेनियन आदि एशिया की भाषाएँ समाविष्ट की जाती है। पाश्चात्य विद्वानो ने इन भाषाओ को 'इण्डो जर्मनिक' या 'इण्डो आर्यन' नाम दिया है। इन भाषाओ के तुलनात्मक अध्ययन का सूत्रपात ई० स० १७८६ मे बगाल के मुख्य न्यायाधीश सर विलियम जोन्स ने किया। 'एशियाटिक सोसाइटी' के सभापति की हैसियत से भाषण देते हुए उन्होने कहा था कि भारत की पवित्र भाषा सस्कृत ईरान की भाषा, यूनान व रोम की भाषाएँ, केल्ट, जर्मन व स्लेव्ह लोगो की भाषाएँ परस्पर निकटतम सम्बन्ध रखने वाली है। उनके इस युग-प्रवर्तक भाषण ने तुलनात्मक भाषा-शास्त्र को जन्म दिया। ज्यों-ज्यो समय बीतता गया त्यो-त्यों विद्वानो ने इस दिशा मे अधिक परिश्रम किया, जिसके परिणामस्वरूप वे इस निर्णय पर पहुँचे कि यूरोप, अमरीका, भारत आदि की भाषाएँ एक ही परिवार की है व ईसा के बहुत पहले ही से इनकी जन्मदातृ भाषाएँ अटलांटिक महासागर से लेकर गगा व टेरिम नदी तक के प्रदेश में फैली हुई थीं। उन विद्वानों ने यह भी निश्चय किया कि वे सब प्राचीन भाषाएँ किसी एक भाषा से बनी है। तुलनात्मक भाषा-शास्त्र की सहायता से इस मूल भाषा को जानने का प्रयत्न किया गया। उन सब प्राचीन भाषाओ के कुछ शब्दों के प्राचीनतम रूप व सर्वसाधारण धातुओ को लेकर एक मौलिक भाषा बना दी गई। साथ ही यह भी निष्कर्ष निकाला गया कि उस मौलिक भाषा को बोलने वाली विशिष्ट संस्कृतियुक्त कोई जाति-विशेष रही होगी। उसी जाति को 'आर्य' नाम से सम्बोधित किया गया। साथ ही, यह मत भी स्थिर किया गया कि ये ही आर्य यूरोप, सीरिया, ईरान, भारत आदि में फैल गए थे।

इस भाषा-साम्य के सहारे इतना तो निश्चित रूप से कहा जा

सकता है कि प्राचीन आर्य-भाषा ने एशिया व यूरोप की भाषाओं पर जबरदस्त प्रभाव डाला था। भाषा का प्रभाव व उसका प्रभुत्व सास्कृतिक प्रभुत्व के (कदाचित् राजनीतिक प्रभुत्व के भी) अस्तित्व को सिद्ध करता है। ऐतिहासिक खोज ने इन देशो पर आर्यों के सास्कृतिक प्रभाव पर भी अच्छा प्रकाश डाला है।

सांस्कृतिक साम्य—विभिन्न प्राचीन संस्कृतियो के तुलनात्मक अध्ययन से उन पर आर्य-सस्कृति के प्रभाव का अस्तित्व स्पष्ट होता है। ऋग्वेद व अवेस्ता के धार्मिक सिद्धान्त तथा भारत व ईरान के सामाजिक सगठन की समानता से प्रमाणित होता है कि प्राचीन ईरान के निवासी आर्य थे। इसी प्रकार ईरानियों के ज़रतुस्त्र-धर्म के सिद्धान्तों का प्रभाव यहूदी, ईसाई, इस्लाम आदि धर्मों पर स्पष्टतया दिखाई देता है। प्राचीन बाबुल व मिस्र के लेखों मे आर्य देवताओ तथा आर्य राजाओ के नामों का उल्लेख स्पष्टतया सिद्ध करता है कि ईसा के लगभग १६०० व १७०० वर्ष पूर्व आर्य लोग बाबुल आदि देशों मे बस गए थे, जहाँ उनके देवता पूजे जाते थे व उनके राजा राज्य करते थे। प्राचीन यूनान व रोम के निवासियो के आर्य होने के सम्बन्ध में किसी भी इतिहासकार को लेश मात्र भी शका नही है। उनके देवता धार्मिक सिद्धान्त, सामाजिक संगठन, यज्ञ, श्राद्ध, मृतक-दाह आदि रीति-रिवाज इस मत की पुष्टि करते हैं। इस प्रकार सास्कृतिक साम्य से भी आर्यों के विस्तार व प्रभाव का पता चलता है।

आर्यो का आदिम निवास-स्थान—इस प्रकार भाषा-साम्य व सांस्कृतिक साम्य के द्वारा आर्यों के बृहत् विस्तार को समझकर उनके आदिम निवास-स्थान को ढूँढने का भी प्रयत्न प्रारम्भ किया गया। विभिन्न विद्वानो ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार इस प्रश्न को हल करने की कोशिश की। परिणामत आर्यों के आदिम निवास-स्थान के बारे मे कितने ही सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये। इन सिद्धान्तो को दो विभागों में बाँटा जा सकता है, जैसे (१) एशिया के किसी भाग

मे आर्यों का आदिम निवास-स्थान, (२) यूरोप के किसी भाग मे मध्य-एशिया, कॉकेशस-प्रदेश, हिमालय-पारवर्ती प्रदेश, भारत, उत्तर ध्रुव-प्रदेश आदि एशिया के प्रदेशो को तथा ऑस्ट्रिया-हंगरी, उत्तर यूरोप, जर्मनी, पोलेण्ड व यूक्रेन का प्रदेश, रूसी-स्टीपीज का प्रदेश, इटली की पो नदी का कछार आदि यूरोप के प्रदेशो को आर्यों के आदिम निवास-स्थान से सम्बन्धित किया जाता है।

आर्यों के आदिम निवास-स्थान के सम्बन्ध मे इतना मतभेद रहना ही यह सिद्ध करता है कि ये इतिहासकार अभी सत्य से कोसो दूर है। तुलनात्मक भाषा शास्त्र इस प्रश्न को कभी भी हल नही कर सकता। प्राचीन व अर्वाचीन भाषाओ के कुछ सर्वसाधारण शब्दो को एकत्रित करके उनकी सहायता से उन भाषाओ की जननी किसी प्राचीन मूल भाषा का स्वरूप निश्चित करना निरा काल्पनिक ही होगा एव सत्य से कोसों दूर रहेगा। भाषा-साम्य की सहायता से मूल भाषा व उसको बोलने वाली किसी जाति की कल्पना तथा उसके सास्कृतिक जीवन का चित्र खींचना हास्यास्पद ही होगा। भाषा की समानता का जाति की तथा संस्कृति की समानता से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रह सकता।

भारत आर्यों का आदिम निवास-स्थान क्यो नहीं? यह समझना सचमुच मे कठिन है कि भारतवर्ष को ही आर्यों का आदिम निवास-स्थान क्यों नही माना जाता? भारत के आदिम निवास-स्थान न होने के सम्बन्ध में जो दलीलें दी जाती है वे बिलकुल ही निर्जीव हैं। भाषा-साम्य की सहायता से जिन-जिन पशु, पक्षी, वृक्ष आदि का आर्यों के आदिम निवास-स्थान मे पाया जाना आवश्यकीय समझा गया है, उनमें से लगभग सब भारत मे पाये जाते है। बैल, गाय, भेड, घोडा, कुत्ता, सूअर, हरिण आदि भारत के लिए नये नही है। भूर्ज वृक्ष भी हिमालय-प्रदेश में पाया जाता है। भारत तो ऐसी पुण्यभूमि है कि यहाँ पर हर प्रकार का जलवायु, हर प्रकार के वृक्ष, फल, पुष्प, पशु, पक्षी आदि पाये जाते हैं। यूरोप में आर्यों का आदिम निवास-स्थान सिद्ध

करते समय अक्सर यह दलील भी दी जाती है कि वहां खेती करने व घोडे आदि के चरने के लिए अच्छी भूमि है। किन्तु भारत मे भी ये सब बातें पाई जाती है।

भारत के आदिम निवास-स्थान होने के पक्ष में सबसे बडी दलील यह है कि दुनिया को 'आर्य' नाम 'आर्य' जाति व 'आर्य' संस्कृति का सर्वप्रथम ज्ञान भारत से ही हुआ है, न कि और किसी देश से। भारत की ही प्राचीन भाषा के अध्ययन ने उन्नीसवी शताब्दी में पाश्चात्य विद्वानों की आँखें खोली और उन्हे पाश्चात्य भाषा व सस्कृति पर आर्यत्व की छाप का भास कराया। उन विद्वानो ने तुलनात्मक भाषा-शास्त्र को जन्म दिया। भारत के ऋग्वेद को पढ़कर ही पाश्चात्य विद्वान् आर्यों के स्वरूप व संस्कृति को समझ पाए। बाबुल तथा मिस्र आदि के प्राचीन लेखों मे पाये गए इन्द्र, वरुण, अग्नि, नासत्य आदि देवताओ व अर्ततम, दुसरत्त, सुवरदत्त आदि राजाओ के आर्यत्व को भी विद्वानो ने भारत की सहायता से ही समझा व पहचाना। प्राचीन काल मे यदि किसी देश ने अपने को 'आर्यों का निवास-स्थान' कहा हो तो वह भी भारत का 'आर्यावर्त' ही है, जिसका उल्लेख पुराणो और मन्वादि स्मृतियों में आता है। ईरान के अतिरिक्त, यूरोप में या और कही ऐसा कोई देश नहीं हे, जिसका नाम आर्यों से सम्बन्धित हो। साराश मे, यह कहना पर्याप्त होगा कि ऐतिहासिक जगत् आज जो-कुछ भी आर्यों के सम्बन्ध मे जानता है वह सब प्राचीन भारतीय साहित्य के ही कारण है। प्राचीनतम काल से आज तक 'आर्य', 'आर्यत्व', 'आर्य-सस्कृति' आदि को जिस प्रकार निसर्ग की लाडिली भारत-भूमि ने अपनाया है, वैसा किसी अन्य देश ने नही अपनाया।

इतिहासकारो ने आर्यों को समझने मे सबसे बडी गलती यह की है कि उन्होने 'आर्य' शब्द जातिवाचक ही मान लिया। किन्तु उन विद्वानो ने यह सोचने का कष्ट नहीं उठाया कि 'आर्य' शब्द कभी भी जातिवाचक नहीं रहा; वह तो पूर्णतया सास्कृतिक अर्थ वाला है, जैसा

कि "कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्" (ऋ० ९ ६३ ५), "आर्या व्रता विसृजन्तो अधिक्षमि" (ऋ० १० ६५ ११) आदि ऋग्वेद के वचनो से स्पष्ट हो जाता है। 'आर्य' शब्द के सास्कृतिक अर्थ को ध्यान मे रखते हुए यह तो कहा जा सकता है कि आर्यों का आदिम निवास-स्थान भारत के अतिरिक्त अन्यत्र नही हो सकता। ऋग्वेद व सस्कृत भाषा की सहायता से जिन सुसभ्य व सुसस्कृत आर्य लोगों के सम्बन्ध मे विचार किया जाता है, वे तो भारत के ही थे, कही बाहर से नहीं आये। उनके प्राचीन साहित्य मे उनके बाहर से आने का किञ्चिन्मात्र भी उल्लेख नहीं है, और न कोई ऐसी ऐतिहासिक खोज ही की गई है जो इस सम्बन्ध मे प्रमाणभूत हो सके। इस प्रकार कम-से-कम इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जिन आर्यों को व जिनकी सस्कृति के महत्त्व को आज दुनिया मान रही है और जिस सस्कृति ने प्राचीन संस्कृतियों को प्रभावित किया था, वे आर्य और वह आर्य-सस्कृति भारतवर्ष ही मे पैदा हुए, फले फूले, तथा यहीं से अन्य देशो मे उन्होने अपना सास्कृतिक सौरभ फैलाया। यदि कोई बाहर से आये हों तो इन सभ्य आर्यों के असभ्य पूर्वज कहीं से आये होंगे, किन्तु उस समय वे आर्य न कहलाते होंगे। अतएव यह कथन उचित ही होगा कि सभ्य व सुसंस्कृत आर्यों को भारत ने ही जन्म दिया है।

(ख) सिन्धु-सस्कृति

कुछ वर्षों पूर्व भारतीय 'पुरातत्त्व विभाग' की ओर से सिन्धु नदी के कछार में जब खुदाई शुरू हुई तो पजाब मे माटगुमरी जिले के हड़प्पा और सिन्ध में लरकाना जिले के मोहन्जोदड़ो नामक स्थान पर एक प्राचीन शहर के खण्डहर निकले और बहुत-सी पुरानी चीजें निकलीं, जिनके सहारे विद्वानो ने यह निष्कर्ष निकाला कि आज से लगभग पाँच-साढ़े पाँच हजार वर्ष पूर्व उन स्थानों पर एक बड़ा शहर था, जिसके मकान पकाई हुई बडी-बडी ईंटों के बने थे, सडकें बहुत ही अच्छे ढग पर बनाई गई थीं, और जहाँ कुएँ व स्नानागार भी थे। प्रत्येक घर मे नालियाँ

की व्यवस्था थी जोकि घर के बाहर गलियो व सडको तक बनी हुई थीं, शहर के बाहर नही ले जाई गई थी। वहा बहुत बडे-बडे मकान थे तथा सर्वसाधारण के नहाने के लिए बडे-बडे स्नानागार थे।

इस शहर के निवासियो के रहन-सहन के सम्बन्ध मे भी बहुत-कुछ मालूम होता है। वे लोग गेहू, बाजरा बोते थे, भेड, सूअर आदि मवेशी पालते थे तथा भोजन के लिए मुर्गी आदि भी रखते थे। वे सिन्धु नदी की मछलियो को भी भोजन के काम मे लाते थे। भैंस, ऊँट, हाथी एव कई प्रकार के मृगों के मृत शरीर इस स्थान से प्राप्त हुए है। व्याघ्र, घोडा व बन्दर तत्कालीन मुद्राओं पर खुदे हुए हैं। कुत्ते तथा घोडे के अस्तित्व के भी कुछ चिह्न मिले है। सोना, चॉदी, तावा, सोसा, नाना प्रकार के रत्न, हाथी-दांत आदि का पता भी उन लोगो का था। भाला, फरसा, कटार, धनुष आदि का भी ज्ञान उन्हे था। यहॉ बच्चो के मिट्टी के खिलौने भी पाये गए हैं।

इन स्थानो मे बहुत सी मुद्राएँ भी पाई गई है जिन पर चित्र लिपि मे कुछ लिखा हुआ है। कुछ इतिहासकारों का मत है कि इन मुद्राओं की लिपि सुमेर की प्राचीन लिपि से मिलती है। बहुत से मिट्टी के बरतन आदि पर भी कुछ-कुछ लेख मिलते है। इन लेखो को अभी तक कोई पढ़ नहीं सका है।

इन लोगों के धर्म के बारे मे भी बहुत-कुछ मालूम होता है। उस समय मूर्ति-पूजा का प्राबल्य था, क्योंकि बहुत सी मूर्तियाँ भी मिली हैं। पृथ्वी की मूर्तियां बहुतायत से पाई जाती हैं। इससे मालूम होता है कि पृथ्वी ही मुख्य देवता मानी जाती थी। किसी दो सींग वाले देव की एक मूर्ति पाई गई है, जो कि कुछ विद्वानो के मतानुसार पशुपति शिव की मूर्ति है। वृक्ष तथा पशु भी पूजे जाते थे। मृतकों को गाड दिया जाता था या जलाया जाता था।

इन स्थानों के निवासियों ने वाणिज्य-व्यवसाय को भी विकसित किया होगा जैसा कि तत्कालीन मुद्राओ के बाहुल्य से जाना जा सकता

है। सामाजिक जीवन पूर्णतया विकसित रहा होगा। तत्कालीन नगर की व्यवस्था आदि का विचार करने से विकसित नागरिक जीवन का पता चलता है। इस प्रकार इन स्थानो के निवासी पूर्णतया समृद्धिशाली रहे होगे।

पाश्चात्य विद्वान् इन खण्डहरो मे प्राप्त हुई वस्तुओ के सहारे यह कहते है कि प्राचीन काल मे कोई विदेशी संस्कृति सिन्धु नदी के किनारे फैली थी, जिसका प्राचीन भारतीय सस्कृति से कोई भी सम्बन्ध नहीं था। वह सस्कृति प्राचीन बाबुल, सुमेर आदि की सस्कृतियो से मिलती-जुलती थी, क्योंकि उनके मध्य बहुत सी समानता पाई जाती है, जो कि इस प्रकार है—चित्रलिपि की समानता, मुद्राओ की समानता तथा मिट्टी के बरतन और उन पर खुदी हुई चित्रकला की समानता। इस समानता के जोर पर पाश्चात्य इतिहासकारो ने यह तय कर लिया कि यह सस्कृति प्राचीन बाबुल से यहा आई तथा वहाँ की सस्कृति के समान ई० पू० ३००० वर्ष के पहले की होनी चाहिए। उन्होने इस सस्कृति को प्राचीन भारतीय सस्कृति से बिलकुल पृथक् सिद्ध करने के बहुत से प्रयत्न किए हैं। सस्कृत के विख्यात विद्वान् सर ए० बी० कीथ ने नीचे लिखे मुद्दो के आधार पर यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि इस सस्कृति से भारत के आर्यो का कोई सम्बन्ध नहीं था। वे मुद्दे इस प्रकार है

(१) इतिहास तथा सस्कृत साहित्य का कोई भी विद्वान् यह मानने को तैयार न होगा कि ई० पू० ३००० वर्ष के लगभग आर्य लोग भारत में पहुँच गए थे। ई० पू० २००० वर्ष तक भी आर्य लोग भारत में नहीं पहुँचे थे। इसलिए सिन्धु-संस्कृति से उनका कोई सम्बन्ध नहीं रह सकता।

(२) ऋग्वेद मे नगर के जीवन का उल्लेख नहीं आता, किन्तु सिन्धु संस्कृति में नगरों का बाहुल्य है।

(३) ऋग्वेद में चाँदी का उल्लेख नही आता, किन्तु सिन्धु-

सस्कृति मे सोने की अपेक्षा चाँदी का उपयोग अधिक होता था।

✓ (४) ऋग्वेद मे शिरस्त्राण और कवच का उल्लेख है, किन्तु गदा हथियार के रूप मे कही उल्लिखित नही है। इसके विपरीत सिन्धु-सस्कृति मे गदा का तो पता लगता है, किन्तु कवच का कोई पता नहीं।

✓ (५) ऋग्वेद-कालीन आर्य लोग मछली नही खाते थे, किन्तु सिन्धु-सस्कृति के लोग मछली बहुत खाते थे।

✓ (६) मोहञ्जोदडो में घोडा नही पाया जाता, किन्तु ऋग्वेद में घोडे का आधिक्य है।

✓ (७) ऋग्वेद मे बैल की अपेक्षा गाय का अधिक सत्कार किया गया है, किन्तु सिन्धु सस्कृति मे गाय का इतना महत्त्व नही था।

(८) ऋग्वेद मे मूर्ति-पूजा का कोई उल्लेख नहीं आता, किन्तु सिन्धु-संस्कृति मे मूर्ति-पूजा धर्म का मुख्य अङ्ग थी। पशुपति एव योगिराज के रूप मे सिन्धु-संस्कृति के लोगो द्वारा शिव की पूजा की जाती थी, जो ऋग्वेद-काल मे ज्ञात नहीं थी।

इन आठ युक्तियो के सहारे कीथ महाशय सिद्ध करना चाहते है कि सिन्धु सस्कृति से आर्यों का कोई भी सम्बन्ध नही था। किन्तु ये दलीलें पूर्णतया निर्जीव हैं। निश्चित रूप से यह कोई नही कह सकता कि ई० पू० ३००० वर्ष के लगभग आर्य लोग भारत में नही थे। अभी तो ऋग्वेद के काल का निर्णय ही नही हो सका है। ऋग्वेद मे नगर का उल्लेख नहीं है, इसलिए यह तो कदापि नही कहा जा सकता कि उस काल मे नगर थे ही नही। ऋग्वेद इतिहास का ग्रन्थ तो नहीं है कि उसमें इन सब बातो का उल्लेख होना ही चाहिए। वह तो एक धार्मिक ग्रथ है, जिसमे उन ऋषियो के मन्त्रो को सग्रहीत किया गया है, जो जंगलो मे आश्रम बसाकर रहते थे। इसलिए उसमे बडे बडे नगरों का कोई प्रत्यक्ष उल्लेख न मिलना स्वाभाविक ही है। किन्तु परोक्ष रूप से यह पता अवश्य लगता है कि ऋग्वेद-काल मे बडे-बडे नगर भी थे। ऋग्वेद मे सभा एव समिति का उल्लेख कितने ही

स्थलों पर आता है। समिति वेदकालीन 'पार्लामेण्ट' थी तथा कुछ इतिहासकारों के मतानुसार जिस विशाल भवन में उसकी बैठक होती थी, वह सभा कहलाता था। इस सभा मे लोग अन्य कार्यों के लिए भी एकत्रित होते थे। यह वर्णन जिस रूप मे किया गया है, उससे मालूम होता है कि वहाॅ का वातावरण एक नगर का वातावरण हो सकता है। कीथ की अन्य दलीलो का भी यही हाल है। गाय व बैल का कम या अधिक महत्त्व, सोने व चाॅदी का कम या अधिक उपयोग, शिरस्त्राण, कवच, गदा आदि का पाया जाना या न पाया जाना, मछली खाना या न खाना आदि के सहारे सास्कृतिक भिन्नता सिद्ध नही की जा सकती। एक ही सस्कृति के मानने वाले समाज मे ये सब भेद एक ही समय पाये जा सकते है।

यह समझना भी कठिन है कि इसे प्राचीन सुमेर, बाबुल आदि से क्यों सम्बन्धित किया जाता है? केवल मिट्टी के बरतनो व उनके ऊपर की चित्र-कला की समानता के सहारे तो एकदम यह नही कह सकते कि यह सस्कृति प्राचीन बाबुल, सुमेर आदि से ही आई थी, जबकि प्राचीन भारतीय सस्कृति के साथ उसकी समानता स्पष्टतया दीखती है। त्रिमूर्ति, योगिराज, पशुपति, शिव, पृथ्वी माता आदि भारत के अपने देवता है, प्राचीन बाबुल, सुमेर आदि के नहीं है। इन देवताओं के मानने वाले अवश्य भारतीय सस्कृति के रंग मे रँगे होने चाहिएँ। सोना, चाँदी, गाय, बैल, गेहूॅ, बाजरा आदि जो-कुछ उन खण्डहरो से मिला है, वह सब पूर्णतया भारतीय ही है। अतएव यह कहा जा सकता है कि अभी तक इतिहासकारों ने सिन्धु-संस्कृति के लिए जो-कुछ मत स्थिर किये हैं, उनमें अधिक खोज के परिणामस्वरूप बहुत सुधार की आवश्यकता है। फिर भी निष्पक्ष वृत्ति से इतना तो कहा जा सकता है कि सिन्धु-संस्कृति को भारतीय आर्यों से पृथक् करना कोई सरल काम नहीं है।

(२)
इतिहास निर्माण की सामग्री

भारत इतना प्राचीन देश है कि उसका क्रमबद्ध इतिहास लिखना कोई सरल बात नही है। फिर भी भारत के प्राचीन इतिहास के निर्माण के लिए जितनी सामग्री वर्तमान है, उनका विनियोग अच्छी तरह नहीं किया गया है। यह सामग्री चार प्रकार की है— (१) अनुश्रुति, (२) प्राचीन भग्नावशेष, लेख, सिक्के आदि, (३) ऐतिहासिक साहित्य, (४) विदेशियों द्वारा किया गया भारत-वर्णन। प्राचीन इतिहास के निर्माण मे अनुश्रुतियो का बहुत ही महत्त्व है। ये अनुश्रुतियाँ, ब्राह्मण, बौद्ध, जैन आदि साहित्य में समाविष्ट है। पुराणो मे इनका विशेष भण्डार है। उनमे से ऐतिहासिक सामग्री ढूँढ निकालना कोई मामूली बात नही है। वैदिक काल से लेकर तो मौर्य काल के प्रारम्भ तक के इतिहास के लिए यही एक साधन है। प्राचीन भग्नावशेष, लेख, सिक्के आदि का प्रारम्भ मौर्यकाल से हो जाता है व मौर्य, गुप्त आदि कालों के इतिहास पर ये पर्याप्त प्रकाश डालते है। बैक्ट्रियन, पार्थियन, कुशान, आन्ध्र आदि राज-वंशों के इतिहास के लिए सिक्के ही एक-मात्र साधन हैं। ऐतिहासिक साहित्य में कल्हण-कृत 'राजतरङ्गिणी' (१२ वी शताब्दी), बाण-कृत 'हर्ष चरित' (ई० स० ६२० के लगभग) भिल्हण-कृत 'विक्रमाङ्कदेव चरित' (ईसा की १२ वी शताब्दी) आदि का समावेश होता है। विदेशियो द्वारा भारत का सर्वप्रथम उल्लेख ईरानी राजा डेरियस के ई० पू० पाँचवी शताब्दी के लेखों में मिलता है। यूनानी इतिहासकार हीरोडोट्स (ई० पू० ५ वी शताब्दी), सिकन्दर (ई० पू० चौथी शताब्दी) के कर्मचारी मेगास्थनीज आदि यूनानी राजदूत, व अन्य यूनानी इतिहासकारो ने भारत का वर्णन किया है। चीनी इतिहासकारो ने भी भारत का उल्लेख किया है। फाहियान (चौथी शताब्दी), यूएनच्वाङ्ग (सातवीं शताब्दी) आदि चीनी यात्रियो ने

तथा अलबेरुनी नामी अरब यात्री (ग्यारहवीं शताब्दी) ने अपने ग्रन्थो मे भारत का विशद वर्णन किया है।

(३)

पुराणो के द्वारा इतिहास-निर्माण

भारतीय इतिहास के विभाग—भारत की प्राचीनता को ध्यान मे रखते हुए भारतीय इतिहास के दो मोटे विभाग किये जा सकते हैं, जैसे (१) महाभारत-काल के पूर्व का इतिहास व (२) महाभारत-काल के पश्चात् का इतिहास। पुराणो ने भी भारतीय इतिहास का विभाजन इसी प्रकार किया है। उनमे भूत व भविष्यत् काल के प्रयोग द्वारा इस विभाजन को कायम रखा गया है।

भारत-युद्ध का समय—भारत-युद्ध के समय के बारे मे निश्चित रूप से कहना बहुत मुश्किल है, फिर भी इतिहास के विद्वानों ने इस दिशा मे जो प्रयत्न किया है, उस पर प्रकाश डालना आवश्यकीय है। ज्योतिष-शास्त्र के अनुसार कलियुग का प्रारम्भ ई० पू० ३१०१ वर्ष मे होता है। 'महाभारत' में विभिन्न स्थलो पर कहा गया है कि कलियुग का प्रारम्भ या तो युद्ध के समय हुआ अथवा युधिष्ठिर के राज्यारोहण के समय या कृष्ण की मृत्यु के पश्चात् हुआ। इसलिए कुछ विद्वान् भारत-युद्ध को ई० पू० ३००० वर्ष तक ले जाते हैं। किन्तु यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि कलियुग के प्रारम्भ-सम्बन्धी सिद्धान्त को सर्व-प्रथम आर्य भट्ट (भारत-युद्ध के ३५०० वर्ष पश्चात्) ने प्रतिपादित किया। कोई-कोई विद्वान् 'महाभारत' मे वर्णित नक्षत्रों व ग्रहो की स्थिति के सहारे भारत-युद्ध का समय जानने का प्रयत्न करते हे, किन्तु उक्त ग्रन्थ में बाद मे जो मिलावट हुई है, उसके कारण यह कहना मुश्किल है कि कौनसा उल्लेख प्राचीन व कौनसा अर्वाचीन है।

वैदिक साहित्य मे वर्णित ऋषियो की परम्परा व भारत-युद्ध के पश्चात् तथा शैशुनाग वंश के पूर्व के राजाओ की सख्या की सहायता से रायचौधरी इस युद्ध को ई० पू० ९वी शताब्दी मे निर्धारित करते

है। पार्जिटर के मतानुसार इस युद्ध का समय ई० पू० १०वी शताब्दी है। राजा नन्द व जनमेजय 'द्वितीय' के नाती अधिसीमकृष्ण के बीच के समय मे जिन वशो ने राज्य किया, उनका काल पुराणों की सहायता से निश्चित करके पार्जिटर कहते है कि इन दो घटनाओं के मध्य २६ राजा हुए। जिनमे से प्रत्येक को १८ वर्ष दिये गए है। ब्राह्मण, उपनिषद् आदि मे वर्णित गुरु-शिष्य-परम्परा के सहारे डॉ० अल्तेकर यह सिद्ध करते है कि पुराणो के आधार पर स्वीकृत भारत युद्ध काल, जो कि ई० पू० १४०० वर्ष के लगभग आता है, बिलकुल ठीक है। इसी प्रकार जायसवाल आदि विद्वान् पुराणो के सहारे भारत युद्ध को ई० पू० १४२४ वर्ष या उससे भी पूर्व ले जाने का प्रयत्न करते है। इन विभिन्न सिद्धान्तो को ध्यान मे रखते हुए कहा जा सकता है कि भारत-युद्ध के समय के बारे मे अभी तक कोई निश्चय नही हो सका है।

महाभारत के पूर्व का काल—इस काल का क्रमबद्ध इतिहास लिखना बडा कठिन काम है। कपोल-कल्पित कथाओं में मिश्रित ऐतिहासिक सामग्री को पृथक् करना कोई साधारण बात नही है। पुराण, महाभारत आदि से पता चलता है कि अत्यन्त ही प्राचीन काल से भारतवर्ष मे दो राज-वश प्रसिद्ध थे—(१) सूर्य-वंश व (२) चन्द्र-वश। आज भी भारत के क्षत्रिय अपने को इन दो राज-वशो से सम्बन्धित करते है। पौराणिक कथा के अनुसार ये वश सूर्य व चन्द्र से उत्पन्न हुए थे। ऐतिहासिक दृष्टि से इस कथा का इतना ही महत्त्व है कि इसके द्वारा उक्त राज-कुलो की प्राचीनता का पता चलता है। सूर्य-वश को मानव-वश भी कहा जाता हैं, क्योकि पुराणो के अनुसार उक्त वंश का सर्वप्रथम राजा मनु था।

सूर्य (मानव) वश के राजा—मनु के दस पुत्रो मे केवल इक्ष्वाकु शर्याति, दिष्ट आदि का ही वश-विस्तार हुआ, व कारूष नामी पुत्र ने 'कारूष-क्षत्रियो' को जन्म दिया। दिष्ट के पुत्र नाभाग के बारे मे कहा गया है कि वह वैश्य बन गया व दसवॉ पुत्र पृषध्र गुरु-गोवध के कारण

शूद्र बन गया। इसी प्रकार नाभाग के पाँचवे वशज रथीतर की सन्तान ब्राह्मण बन गई व 'आङ्गिरस' कहलाई। उन्हे "क्षत्रोपेतद्विजातय" (क्षत्रिय से ब्राह्मण बने हुए) कहा गया है। इक्ष्वाकु वशज प्रसिद्ध क्षत्रिय थे ही। इस प्रकार चारो वर्णों की उत्पत्ति को भी मनु से सम्बन्धित करने का प्रयत्न किया गया है। मनु के वशजो में इक्ष्वाकु का वश ही ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक विचारणीय है। यह वश भारत के प्राचान इतिहास मे अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है, क्योंकि हरिश्चन्द्र, राम आदि नर-पुङ्गवो ने, जिनके कारण आज भी भारत गौरव से अपना सिर ऊँचा उठा सकता है, इसी वंश मे जन्म लिया था। यह वश भारतीय राज-वशो मे प्राचीनतम प्रतीत होता है। महाभारतकाल तक इस वंश के लगभग ६८ राजाओं का उल्लेख है। वशिष्ठ मुनि इस वश के कुल-गुरु थे। भारत युद्ध के पश्चात् भी इस वंश के राजा राज्य करते रहे। इस वश की एक और शाखा थी जिसका प्रारम्भ इक्ष्वाकु के द्वितीय पुत्र निमि से होता है। इसी वंश मे राम दाशरथि की पत्नी सीता के पिता सीरध्वज जनक ने जन्म लिया था। इस वंश के राजाओ को 'आत्मविद्यारत' कहा गया है।

चन्द्र-वश—पुराणो ने चन्द्र को इस वश का सस्थापक माना है। इस वंश का प्रारम्भ मनु की पुत्री इला से होता है। इला का पुत्र पुरूरवस ऐल ही इस वश का सर्वप्रथम ऐतिहासिक राजा था, जिसका उल्लेख ऋग्वेद (१०।९५) मे भी आता है। पाजिटर महाशय का कथन है कि यही वश आर्य वंश है जो कि हिमालय पर्वत से भारत मे आकर प्रतिष्ठान (प्रयाग के निकट) मे बस गया। उसके मन्तव्यानुसार सूर्य-वशी भारत के आदिम निवासी द्रविड थे। इस सिद्धान्त के अनुसार कितने ही ऋषियो व राजाओ को, यहाँ तक कि हरिश्चन्द्र, राम आदि सबको अनार्य प्रमाणित किया जा सकता है। इस विचित्र मन्तव्य की पुष्टि में चन्द्र-वश का विस्तार व उसके बहुसख्यक चक्रवर्ती व प्रतापी राजाओं का हवाला दिया गया है। किन्तु यदि जरा विचार

से काम लिया जाय तो स्पष्ट होगा कि यह मन्तव्य किस प्रकार भ्रमपूर्ण है। चन्द्र-वश व सूर्य-वश के राजाओ के आचार-विचार रहन-सहन आदि मे कोई अन्तर नहीं दिखाई देता। उनमे परस्पर विवाहादि सम्बन्ध भी वर्तमान था। यदि चन्द्र-वश का विस्तृत वर्णन मिलता है तो इसका यही कारण हो सकता है कि यह वश इतना पुराना नहीं है जितना कि सूर्य-वश। इसीलिए इसके सम्बन्ध मे विस्तारपूर्वक लिखा जा सका। इस वश के सम्बन्ध मे 'विष्णु पुराण' मे लिखा है कि "यह वश अतिबलपराक्रमद्युतिशीलचेष्टायुक्त व अतिगुणान्वित नहुष, ययाति, कार्तवीर्य, अर्जुन आदि भूपालों द्वारा अलकृत किया गया है।" इस वश की एक विशेषता यह भी है कि इस वंश के राजा ऋग्वेद के कितने ही मन्त्रो के द्रष्टा भी थे, जैसे पुरूरवस (ऋ० १०।६५) गाधि (ऋ० १६-१२), विश्वामित्र (ऋ० ३।१-२, २४-२७, ३६-५३, ५७ ६२) गृत्समद (ऋ० ६।८६।४६-४८) प्रतर्दन (ऋ० ६।६६) ययाति (ऋ० ६।१०१। ४-६) आदि।

चन्द्र-वंश के राजा—ऐतिहासिक दृष्टि से इस वश का मूल पुरुष पुरूरवस ऐल प्रतीत होता है, जिसने उर्वशी नामी एक अप्सरा को ब्याहा था। इन दोनो के प्रेम-सम्बन्ध का उल्लेख ऋग्वेद में आता है तथा इसकी विस्तृत कथा पुराणों मे दी है। कविकुलगुरु कालिदास ने अपने 'विक्रमोर्वशीय' नाटक द्वारा इस प्रतापी राजा की प्रेम कहानी को अमर बना दिया है। इन सब उल्लेखो से स्पष्ट है कि पुरूरवस् ऐल ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण राजा था। अपनी पत्नी के साथ यह राजा ऋग्वेद का मन्त्र-द्रष्टा भी है। इसके ज्येष्ठ पुत्र आयुस तथा नाती नहुष ने इस वश का खूब विकास किया। नहुष के पुत्र ययाति के पाँच प्रतापी पुत्रो यदु, दुर्वसु, द्रुह्यु, अनु, पुरू,—ने समस्त भारत मे अपना शासन स्थापित किया था। इनमे से यदु ने, जो कि दक्षिण मे जाकर बसा था, एक ऐसे राजवश की स्थापना की, जिसमे योगिराज कृष्ण

ने जन्म लिया और जिसके अवशेष आज भी वर्तमान हैं। ययाति के पाँचो पुत्र ऋग्वेद मे उल्लिखित है।

महाभारत के पश्चात् का काल—पुराणो ने इस काल के राज-वशों का भी उल्लेख किया है। इस काल के राज-वशो मे परीक्षित वश, इक्ष्वाकु-वश व बार्हद्रथ आदि मागधेयो के वश विशेष उल्लेखनीय है। परीक्षित-वश मे २७ राजा हुए। इक्ष्वाकु-वंश मे २८ राजा हुए। इस वंश का राजा बृहद्बल महाभारत-युद्ध मे मारा गया। बार्हद्रथ-मागधेयों के वंश मे २२ राजा हुए। इस वश के राजाओं ने सब मिलकर १००० वर्ष तक राज्य किया। इस वश का अन्तिम राजा रिपुञ्जय अपने मन्त्री मुनिक द्वारा मारा गया व उस मन्त्री का पुत्र प्रद्योत राज्यगद्दी पर बैठा। इस प्रद्योत के बलाक, विशाखयूप, जनक, नन्दीवर्धन, नन्दी आदि पांच वशज हुए, जिन्होने लगभग १४६ वर्ष तक राज्य किया। इसके पश्चात् शिशुनाक राजा बना। इसके वंश मे १० राजा हुए, जिन्होने लगभग ३६२ वर्ष तक राज्य किया। इसके पश्चात् मौर्य-वंश के १० राजाओं ने १३७ वर्ष तक राज्य किया। मौर्यों के पश्चात् १० शुङ्गों का राज्य हुआ। अन्तिम मौर्य राजा के सेनापति पुष्यमित्र ने राजा को मारकर अपना राज्य स्थापित किया। अग्निमित्र आदि इसके ६ वशज हुए, जिन्होने ११२ वर्ष तक राज्य किया। इस वंश के अन्तिम राजा देवभूति को, जोकि व्यसनी था, उसके मन्त्री वसुदेव ने मार डाला व राज्य अपने अधिकार में कर लिया। इस नये वश के ४ राजाओ ने ४५ वर्ष तक राज्य किया। अन्तिम राजा सुशर्मा को उसके आन्ध्र-जातीय मन्त्री बलिपुच्छक ने मार डाला व स्वय राजा बन गया। उसके पश्चात् उसका भाई कृष्ण राजा हुआ। आन्ध्र-वंश मे २४ राजा हुए, जिन्होने लगभग ४८६ वर्ष तक राज्य किया।

इस प्रकार पुराणो की सहायता से भारत के प्राचीन राज वंशों का एक क्रम तैयार किया जा सकता है। इस दिशा में अभी विशेष प्रयत्न नही किया गया।

(४)
क्रमबद्ध इतिहास

इतिहासकारो के मतानुसार भारत का क्रमबद्ध इतिहास सिकन्दर के आक्रमण (ई० पू० ३२६) के पश्चात् से प्रारम्भ होता है, जबकि मौर्य-साम्राज्य का सूत्रपात हुआ किन्तु जैन, बौद्ध व ब्राह्मण साहित्य के सहारे इस इतिहास को ई० पू० सातवी शताब्दी तक भी ले जाया जा सकता है।

बौद्ध साहित्य मे वर्णित जनपद व प्रजातन्त्र (ई० पू० सातवीं व छठी शताब्दी)—बौद्ध साहित्य मे प्रत्यक्ष रूप से तो किसी इतिहास का पता नही लगता, किन्तु परोक्ष रूप से कुछ ऐतिहासिक बातो का उल्लेख अवश्य है। इस साहित्य मे उत्तर भारत के लगभग सोलह जनपदो का उल्लेख है जैसे अङ्ग, मगध, काशी, कोसल, वज्जी, मल्ल, चेति, वंश, कुरु, पाञ्चाल, मच्छ, सूरसेन, अस्सक, अवन्ति, गान्धार, काम्बोज। इस उल्लेख के सहारे कहा जा सकता है कि ई० पू० सातवी शताब्दी मे उत्तर भारत लगभग १६ स्वतन्त्र राज्यो मे विभाजित था, जिनका विस्तार आधुनिक बङ्गाल से पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त तक था। इसी प्रकार गौतम बुद्ध के समय (ई० पू० छठी शताब्दी) के कुछ प्रजातन्त्रो का भी उल्लेख है, जैसे साक्यि (राजधानी कपिलवस्तु), बुलि (राजधानी अल्लकप्प), कालाम (राजधानी केसपुत्त), भग्ग (राजधानी सुंसुमारगिरि), कोलिय (राजधानी रामगाम), मल्ल (राजधानी पावा), मल्ल (राजधानी कुसीनारा), मोरिय (राजधानी पिप्पलीवन), विदेह (राजधानी मिथिला), लिच्छवी (राजधानी वेसाली) आदि। ये प्रजातन्त्र कोसल के पूर्व मे, तथा हिमालय और गङ्गा के मध्य मे स्थित थे। ये सब आपस मे लडते थे और इन्हे आसपास के शक्तिशाली राज्यो की वक्र दृष्टि का सामना भी करना पडता था, जिसके परिणाम स्वरूप इनका स्वतन्त्र अस्तित्व भी जाता रहा।

इन सबमें शाक्य प्रजातन्त्र का वर्णन विस्तृत रूप से दिया गया है, क्योंकि गौतम बुद्ध वहीं के नागरिक थे।

बौद्ध साहित्य से पता चलता है कि शाक्य प्रजातन्त्र मे राजधानी के अतिरिक्त कितने ही नगर थे, जैसे चातुमा, सामगाम, खोमदुस्स, सिलावती, मेदलुम्प, नगरक, उलुम्प, देवदह, सक्कर आदि। शासन, न्याय आदि सम्बन्धी सब कार्य सार्वजनिक सभा-भवन मे सम्पादित किए जाते थे, जहाँ वृद्ध व नवयुवक सब ही समता के भाव से एकत्रित होते थे। सभा भवन को 'सथागार' कहा जाता था। इस प्रकार के सथागार बहुत से नगरों मे थे। ग्राम्य-जीवन भी सुसगठित रूप से सञ्चालित किया जाता था। प्रत्येक ग्राम मे भी सार्वजनिक कार्य सब ग्रामीणों द्वारा सञ्चालित किये जाते थे। इनकी भी सार्वजनिक सभाएँ हुआ करती थी। इस प्रकार प्रत्येक ग्राम एक छोटा प्रजातन्त्र ही था।

कोसल-राज्य—राजतन्त्र वाले राज्यो मे कोसल का राज्य अधिक महत्त्वपूर्ण था। तत्कालीन राजनीतिक जीवन का केन्द्र यही था। यहाँ के शक्तिशाली राजाओ ने आसपास के छोटे-छोटे राज्यों को जीतकर इस राज्य की शक्ति को खूब बढ़ा दिया था। इस सम्बन्ध मे कोसल-नरेश कस द्वारा काशी राज्य का जीता जाना विशेष उल्लेखनीय है। गौतम बुद्ध के समय यहाँ का राजा पसेन्दी (प्रसेनजित्) था, जो मगधराज अजातसत्तु (अजातशत्रु) से अनेकों बार लड़ा, व अन्त मे अपनी पुत्री का विवाह उससे कर दिया। इसकी अनुपस्थिति में प्रजा ने इसके पुत्र विडुदाभ (निरुद्धक) को राजगद्दी पर बैठा दिया। इस नये राजा ने शाक्यो पर आक्रमण किया व कितने ही बालको व कितनी ही स्त्रियों को तलवार के घाट उतार दिया। अजातसत्तु ने कोसल पर आक्रमण किया, जिसके परिणाम स्वरूप कुछ समय पश्चात् यह राज्य मगध-राज्य मे मिला लिया गया।

उत्तर भारत की आर्थिक परिस्थिति (ई० पू० सातवीं शताब्दी)—बौद्ध साहित्य से पता लगता है कि ग्रामो का संगठन

उत्तर भारत के आर्थिक जीवन की भूमिका था। यद्यपि राजाओ के अधिकार एक प्रकार से निरङ्कुश थे, फिर भी वे राजा ग्राम्य जीवन की व्यवस्था मे हस्तक्षेप नही करते थे। वे केवल खेतो की उपज के दशांश के मालिक थे, जिसकी वसूली प्रतिवर्ष होती थी। राजभाग कभी कभी षष्ठांश से द्वादशांश तक रहता था। ग्रामीण लोग अपनी भूमि के पूर्णतया मालिक थे, व उनका दैनिक जीवन भी उनकी अपनी पञ्चायत द्वारा सञ्चालित होता था। गॉव के बाहर चारागाह जगल आदि रहते थे। सावत्ती (श्रावस्ती) का 'जेतवन' व साकेत का 'अञ्जनवन' इसी प्रकार के थे। खेती के लिए नहरो की व्यवस्था भी की गई थी। चावल भोजन का मुख्य अग था, किन्तु सात प्रकार के अन्य धान्य भी बौद्ध साहित्य मे उल्लिखित है। इनके अतिरिक्त गन्ना, फल, शाक-भाजी, फूल आदि की भी खेती होती थी। इन गॉवों मे सहकारित्व के सिद्धान्त के अनुसार कार्य करने की प्रथा प्रचलित थी, जिससे तत्कालीन नागरिकता के भाव की जागृति का पता चलता है। गॉवो के ऊपरी अधिकारी को 'भोजक' कहते थे, जो केन्द्रीय शासन मे अपने गॉव का प्रतिनिधित्व करता था।

खेती के अतिरिक्त विभिन्न दस्तकारी, उद्योग-धन्धे आदि भी द्रव्योत्पादन के लिए प्रयुक्त किये जाते थे, जिससे तत्कालीन औद्योगिक विकास का भी पता चलता है। उनमे से कुछ के करने वाले ये है—धनुष-बाण बनाने वाले, अनाज उडाने का धन्धा करने वाले, धातु का काम करने वाले, जहाज, गाडी, घर आदि बनाने वाले, तथा 'थपति', 'थच्छक', 'भमकार' आदि, पत्थर का काम करने वाले, चमडे का काम करने वाले, चितेरे, लकडी का काम करने वाले, सुनार, लुहार आदि। ये सब व्यवसाय 'सेणि' आदि द्वारा सगठित रूप से चलाये जाते थे। इनके अतिरिक्त हाथी दॉत का काम, कपडा बुनना, मिठाई बनाना, मणिकार का काम, फूलो की माला आदि बनाने का काम इत्यादि भी

पूर्णतया प्रचलित थे। इस समय में, आन्तरिक व बाह्य व्यापार भी खूब उन्नति मे था।

मगध का शिशुनाग-वश—पुराणो के अनुसार इस वश का सस्थापक शिशुनाग या शिशुनाक था, जो कि कदाचित् आधुनिक पटना व गया जिलो के भूमि भाग पर राज्य करता था, व उसकी राजधानी राजगृह थी, जो कि गया के निकट पहाडियो पर बसी हुई थी। इस राजा के सम्बन्ध मे इतना ही ज्ञात है कि इसने अपने पुत्र को बनारस मे रखा, व स्वत राज गृह के 'गिरिव्रज' मे रहने लगा।

बिम्बिसार (ई० पू० ५५४–५२७)—इस वश के पाँचवें राजा बिम्बिसार या श्रेणिक (जैनियो के अनुसार) के बारे मे बहुत कुछ मालूम होता है। पुराणो के अनुसार इसने २८ वर्ष तक राज्य किया। इसने नये राजगृह का सूत्रपात किया। इसके कोसल तथा लिच्छवी राज-वशो की राजकुमारियो से विवाह करके पडोसी राज्यो से अच्छा सम्बन्ध स्थापित किया था। यह गोतम बुद्ध व महावीर दोनों का समकालीन था। इस प्रकार मगध के राजनीतिक महत्त्व का प्रारम्भ इसी के समय से होता हे।

अजातशत्रु (ई० पू० ५५४–५२७)—अजातशत्रु बिम्बिसार की लिच्छवी वशीय रानी का पुत्र था। जैन साहित्य मे इसे कुणिक कहा गया है। पुराणो के अनुसार इसने २७ वर्ष तक राज्य किया। बौद्ध दन्तकथा के अनुसार बुद्ध के विरोधी चचेरे भाई देवदत्त द्वारा उकसाए जाने पर इसने अपने पिता की हत्या की व बाद मे परिताप से परितप्त होकर वह गौतम बुद्ध की सेवा मे उपस्थित हुआ। ऐतिहासिक दृष्टि से इस कथा मे कितना तथ्याश है यह कहना मुश्किल हे। कोसल-राज्य से इसने कितने ही युद्ध किये, जिनमे इसकी हार भी हुई थी, किन्तु ऐसा मालूम होता है कि अन्त मे कोसल-राज्य जीतकर मगध मे मिला लिया गया था। इसके पश्चात् इसने गगा के उत्तरवर्ती लिच्छवी-प्रदेश को जीता व उसकी राजधानी वैशाली पर अपना अधिकार जमा लिया।

इस प्रकार गङ्गा नदी व हिमालय के मध्य का सब प्रदेश मगध राज्य के अन्तर्गत आ गया। उसने सोन नदी के उत्तरी किनारे पर जहाँ वह गगा से मिलती है, पाटली गाँव मे किला बनाकर भावी पाटलीपुत्र के गौरव का सूत्रपात किया। इसके पश्चात् इसका पुत्र दर्शक (ई० पू० ५२७-५०३) राजा बना। उसने २४ वर्ष तक राज्य किया। 'स्वप्न-वासवदत्तम्' नाटक में इसका उल्लेख आता है। इसके पश्चात् उदय (ई० पू० ५०३-४००) राजा हुआ। इसने पाटलीपुत्र नगर को बसाया।

नन्द-वश—पुराणो की वशावलियो के अनुसार उदय के पश्चात् नन्दीवर्धन व महानन्दिन राजा हुए, जिन्होने क्रमश ४० व ४३ वर्ष तक राज्य किया। महानन्दिन का शूद्रा पत्नी के उत्पन्न महापद्मनन्द नामी पुत्र था, जो पिता के पश्चात् सिहासन पर बैठ गया। इस प्रकार नन्द-वश की स्थापना हुई। इसने ८८ वर्ष व इसके आठ पुत्रो ने १२ वर्ष तक राज्य किया। ये ही राजा पुराणो मे 'नव नन्द' कहे गए है। इनके राज्य काल के बारे मे ऐतिहासिको मे बहुत मतभेद है, किन्तु सिकन्दर के आक्रमण को ध्यान मे रखते हुए नन्दकाल को साधारणतया ६१ वर्ष का बताया जाता है।

पश्चिमोत्तर भारत की परिस्थिति (ई० पू० चौथी शताब्दी)—जबकि पूर्व में एक शक्तिशाली साम्राज्य विकसित किया जा रहा था, उस समय पश्चिम और विशेषकर पश्चिमोत्तर भारत मे एक प्रकार से राज-नीतिक अराजकता छाई हुई थी। यहाँ कितने ही प्रजातन्त्र और राज-तन्त्र राज्य वर्तमान थे, जो राज्य-वृद्धि की पिपासा से आपस मे लडते थे। हिन्दुकुश पर्वत के निकटवर्ती प्रदेश मे शशिगुप्त नामी भारतीय राजा राज्य करता था व काबुल के उत्तर के पर्वतीय प्रदेश मे भारतीय जातियाँ बसी हुई थी। यह शशिगुप्त सिकन्दर से लडने ईरान गया था, किन्तु बाद में उसका मित्र बन गया। आम्भी नामी राजा सिन्धु और झेलम नदियो के मध्यवर्ती प्रदेश मे राज्य करता था। उसकी राज-

धानी तक्षशिला थी। झेलम व रावी नदी के मध्यवर्ती प्रदेश पर पौरव (जिसे यूनानियों ने 'पोरस' कहा है) राजा राज्य करता था। उत्तर मे 'अभिसार' (काश्मीर के पूँच व नौशेरा जिलो का भूमि भाग)— राज्य था, जहाँ का राजा पौरव का मित्र था। इनके अतिरिक्त कितने ही प्रजातन्त्र भी वर्तमान थे जैसे अग्रष्ट, क्षत्रिय, मालव, क्षुद्रक, शिवि इत्यादि।

सिकन्दर का आक्रमण (ई० पू० ३२६)—यूरोप के मेसिडोनिया प्रदेश के शासक फिलिप का पुत्र सिकन्दर यूनान, मिस्र, सीरिया, ईरान आदि जीतता हुआ ई० पू० ३२६ में ओ हिन्द के विकट सिन्धु नदी को पार करके भारत मे आया। तक्षशिला के राजा आम्भी ने उसका स्वागत किया, क्योंकि उसे अपने शत्रु पौरव से बदला लेना था। पौरव ने अभिसार आदि के राजाओ से मिलकर सिकन्दर के आक्रमण का सामना करने का निश्चय किया व खूब तैयारियाँ करने लगा। झेलम नदी के किनारे सिकन्दर व पौरव की भयकर लडाई हुई, जिसमे सिकन्दर जीता व पौरव ने उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया। इसके पश्चात् सिकन्दर और आगे बढा। अग्रष्ट, क्षत्रिय आदि प्रजातन्त्रों ने उसका सामना किया किन्तु वे हार गए। इस प्रकार अपनी विजय-पताका फहराता हुआ सिकन्दर व्यास नदी के किनारे पहुँचा जहाँ उसे पता लगा कि पूर्व मे एक अत्यन्त ही शक्तिशाली साम्राज्य है। कहा जाता है कि यहाँ चन्द्रगुप्त मौर्य से भी उसकी भेंट हुई थी। उसके सिपाही बहुत थक गए थे। इसलिए उसे अपनी इच्छा के विरुद्ध लौटना पडा। झेलम व सिन्धु नदी से होता हुआ वह सिन्ध पहुँचा। मार्ग मे मालव, क्षुद्रक आदि प्रजातन्त्रों से उसे खूब लडना पडा। इसके पश्चात् वह स्थल-मार्ग से ईरान पहुँचा, जहाँ उसकी मृत्यु हो गई।

सिकन्दर के आक्रमण का प्रभाव—सिकन्दर ने जीते हुए प्रदेशो में अपने शासकों को नियुक्त किया था, इनमें आम्भी व पौरव भी सम्मिलित थे। उसकी इच्छा थी कि भारत छोडने के पश्चात् भी उस

पर अधिकार रहे। किन्तु उसकी पीठ फिरते ही उसकी व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई। सब राज्य पुन स्वतन्त्र हो गए, सिकन्दर की सत्ता का कोई चिह्न बाकी न रहा। कुछ यूरोपीय विद्वानो का मत है कि इस आक्रमण के परिणामस्वरूप भारत ने यूनान से बहुत-कुछ सीखा। कहा जाता है कि यूनानी कला, साहित्य, संस्कृति आदि आदि ने भारत को प्रभावित किया। किन्तु, यदि निष्पक्ष वृत्ति से विचार किया जाय तो पता लगेगा कि इस मन्तव्य में कोई तथ्य नही है। सिकन्दर कुल उन्नीस मास भारत मे रहा, और वह भी केवल पंजाब व सिन्ध मे। इस अल्पकाल मे उसे कितने ही युद्ध करने पडे। पंजाब के भारतीय उसे एक राज्य-लोलुप विजेता के रूप मे देखते थे। इसलिए, सिकन्दर उन्हे क्या सिखा सकता था ? इसके अतिरिक्त भारत का सर्वांगीण सास्कृतिक विकास तो कब से हो चुका था। भारत को सिखाने के बदले उसने तक्षशिला के नगे सन्यासियो से ही बहुत कुछ सीखा।

मौर्य-साम्राज्य (ई० पू० ३२२–१८५)—चन्द्रगुप्त मौर्य (ई० पू० ३२२–२९८)—दन्तकथा के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य मगध के राजवश से सम्बन्धित था, व उसकी माता या दादी मुरा नाम की शूद्रा स्त्री थी। कहा जाता है कि इसी से वह मौर्य कहलाया। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि चन्द्रगुप्त पिप्पलीवन (हिमालय तटवर्ती) के मोरिय लोगों का वशज था। कुछ विद्वान् उसे अन्तिम नन्द राजा के सेनापति का पुत्र भी मानते है।

चन्द्रगुप्त ने अपने मन्त्री विष्णुगुप्त चाणक्य की सहायता से एक बडे भारी साम्राज्य की स्थापना की। उसने अन्तिम नन्द राजा को हराकर समस्त उत्तरी भारत पर अधिकार जमा लिया और पश्चात् पजाब आदि प्रान्तो को भी जीत लिया। ई० पू० ३०५ के लगभग सिकन्दर के उत्तराधिकारी सेल्युकस निकॉटर ने भारत पर आक्रमण किया, किन्तु चन्द्रगुप्त की सुव्यवस्थित सेना ने उसे पूर्णतया हरा दिया। परिणामस्वरूप चन्द्रगुप्त को पेरोपेनोसेदाय (काबुल) एरिया (हेरात) व

एरेकोजिया (कन्दहार) आदि प्रदेश प्राप्त हुए, तथा यूनानी राजकन्या से उसका विवाह भी हो गया। सेल्युकस ने मेगास्थनीज नामी अपना राजदूत मौर्य-राजधानी पाटलिपुत्र में रखा। कदाचित् दक्षिण भारत को भी चन्द्रगुप्त ने जीता हो, क्योकि जैन-कथाओ के अनुसार वह जैन था व भद्रबाहु के साथ दक्षिण मे श्रावण बेल गोला (मैसूर) तक गया था।

चन्द्रगुप्त की शासन-व्यवस्था—चन्द्रगुप्त की शासन-व्यवस्था के बारे मे कौटिल्य के अर्थशास्त्र व यूनानी लेखको से बहुत कुछ मालूम होता है। साम्राज्य के शासन के लिए सम्पूर्ण राज्य विभिन्न प्रान्तो में विभाजित किया गया था, जिनकी देख रेख के लिए 'स्थानीय' (प्रान्त का अधिकारी) 'गोप' (५ या १० गाँवो का अधिकारी), 'ग्रामणी' (गाँव का अधिकारी) आदि कर्मचारी नियुक्त किये गए थे। केन्द्रीय शासन पर राजा का पूर्ण अधिकार था, किन्तु उसकी सहायता के लिए मन्त्रि मण्डल भी रहता था, जिसके सदस्य अर्थशास्त्र के अनुसार ये थे—समाहर्तृ, सन्निधातृ, प्रदेष्टि, प्रशास्तृ, दौवारिक आन्तर्वंशिक, मन्त्रिन्, पुरोहित, सेनापति व युवराज। सम्पूर्ण राज्य की तथा राजकर्मचारियो की देख-भाल के लिए गुप्तचरो की भी अच्छी व्यवस्था थी। केन्द्रीय शासन अष्टादश तीर्थों (विभाग) मे विभाजित किया गया था, जिसके ऊपरी अधिकारियो को तीर्थाध्यक्ष कहते थे। इन सब पर सम्राट् का वैयक्तिक नियन्त्रण रहता था।

यूनानी लेखकों से ज्ञात होता है कि मौर्य-सेना का सचालन तीस सदस्यो की एक 'युद्ध-समिति' द्वारा होता था, जो पाँच सदस्यो की छ उपसमितियो में विभाजित की गई थी, जिनके आधिपत्य मे क्रमश नौका-सेना, सैनिक सामानादि, पैदल, घुडसवार, रथ व हाथी की व्यवस्था थी। इस प्रकार मौर्य-सेना सुचारु रूप से संगठित की गई थी। यूनानी लेखकों ने पाटलिपुत्र की व्यवस्था के बारे मे लिखा है कि -नगर की व्यवस्था तीस सदस्यों की एक समिति द्वारा की जाती थी। इसकी भी

पाँच पाँच सदस्यो की छ उपसमितियाँ थी, जिन्हे क्रमश इन कार्यों की व्यवस्था करनी पडती थी—विभिन्न उद्योग-धंधे, विदेशियो की देख-रेख, जन्म-मरण का लेखा, वाणिज्य, तैयार किया हुआ माल व बिके हुए माल पर दशाश की वसूली। अर्थशास्त्र से भी नगर की व्यवस्था के सम्बन्ध मे पता लगता है। नगर का मुख्य अधिकारी नागरिक कहलाता था। स्थानिक, गोप आदि कर्मचारी उसके हाथ के नीचे काम करते थे। इनके अतिरिक्त अन्य कितने ही कर्मचारी थे।

बिन्दुसार (ई० पू० २९८-२७३)—बौद्ध साहित्य में चन्द्रगुप्त के पुत्र व उत्तराधिकारी का नाम बिन्दुसार दिया है, पुराणो मे नन्दसार या भद्रसार नाम आता है व यूनानियो ने उसका नाम 'अमित्रघात' लिखा है। बौद्ध साहित्य का नाम अधिक प्रमाणयुक्त माना गया है। इसके राजत्वकाल के बारे में कुछ अधिक नही मालूम होता। बौद्ध-साहित्य से पता लगता है कि तक्षशिला मे बलवे को दबाने के लिए इसने अपने पुत्र अशोक को भेजा था। इसका सम्बन्ध सेल्युकस निकॉटर से भी था, जिसने अपने दूत डायामेकस को इसके दरबार मे भेजा था। मिस्र के राजा टोलेमी-फिलाडेलफोस ने भी डॉयोनिसियस को दूत बनाकर भारत भेजा था। सेल्युकस ने बिन्दुसार से भारतीय दार्शनिको की भी माँग की थी।

अशोक (ई० पू० २७३-२३२)—बिन्दुसार के पश्चात् उसका पुत्र अशोक राज्यगद्दी पर बैठा। युवराज की हैसियत से उसे तक्षशिला व उज्जयिनी मे शासन-कार्य का पर्याप्त अनुभव प्राप्त हो चुका था। उसके राजत्व-काल के बारे मे उसके शिला व स्तम्भो पर के लेखो से बहुत-कुछ मालूम होता है। इन लेखो मे वर्ष-गणना अभिषेक के वर्ष से की गई है। सिहल द्वीप की दन्तकथा के आधार पर इतिहासकार यह मानते है कि अशोक का राज्याभिषेक उसके सिहासनारूढ होने के चार वर्ष पश्चात्, अर्थात् ई० पू० २६९ वर्ष मे हुआ। अशोक ने अपने राज्याभिषेक के नवें वर्ष मे कलिङ्ग को जीता, किन्तु इस विजय ने

उसके जीवन को बिलकुल पलट दिया। कलिङ्ग-युद्ध मे अगणित निरपराध जीवो की हत्या का उसके मन पर इतना जबरदस्त असर पडा कि उसने भविष्य मे राज्य-वृद्धि के लिए रक्तपात को हमेशा के लिए बन्द करने का निश्चय किया, व 'धम्म-विजय' का मार्ग ग्रहण किया, जिसके कारण उसे विश्व के इतिहास मे एक अद्वितीय स्थान प्राप्त हो गया।

कलिङ्ग-युद्ध के परिणाम-स्वरूप, अशोक बौद्ध सङ्घ मे सम्मिलित हो गया व उसके कार्य मे उत्साहपूर्वक दिलचस्पी लेने लगा। राज्याभिषेक के ग्यारहवे वर्ष मे उसने विभिन्न स्थानो की यात्रा की, व ब्राह्मण, श्रमण, वृद्ध आदि जनो को बहुत दान दिया, तथा विद्वानो के ससर्ग से बौद्ध धर्म का सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त किया। यात्रा के पश्चात् उसने अपने कर्मचारियो के लिए आज्ञा जारी की—"मेरे समान तुम लोग धर्म-मार्ग मे अधिक उत्साहशील बनो, और मेरी धर्म-आज्ञाएँ शिलाओ व स्तम्भो पर खुदवा दी जायँ।" राज्याभिषेक के चौदहवे वर्ष मे उसने अपनी सोलह धर्म-आज्ञाएँ घोषित की। इनमे से चौदह गिरनार (काठियावाड), मानसेरा, शाहबाज़गढ़ी (पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त) आदि स्थानो मे चट्टानो पर खुदवाई गई। इन्हीं मे से बारह व अन्य दो उडीसा के धौली व जौगडा स्थानो मे शिलाओ पर अङ्कित की गई। इसी समय प्रजा के धर्मोत्कर्ष के लिए 'धर्म-महामात्य' के नये पद पर योग्य विद्वानों की नियुक्ति की गई। धर्म-महामात्य की नियुक्ति के पहले ही उसने सब कर्मचारियों के लिए यह आवश्यकीय कर दिया था कि वे प्रति पॉचवें वर्ष दौरे पर जायँ व अपने कार्यों के साथ साथ धर्म-प्रचार का काम भी करे। इसी समय के लगभग उसने अपने धर्म-प्रचारक सीरिया, मिस्र, सायरिनी, मेसिडोनिया, एपिरस, आदि विदेशों में भेजे थे, जहॉ कि क्रमश एण्टिअॉकस थिओस, टोलेमी-फिलाडेल्फस, मगस, एण्टिगोनस व एलेक्जेण्डर राज्य करते थे। उसके बौद्ध प्रचारकों ने अपने धर्म का प्रचार करके उन देशो मे ईसाई-मत के लिए भूमिका

तैयार की। इस प्रकार एशिया, अफ्रीका, यूरोप आदि महाद्वीपो मे बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। काम्बोज, गान्धार, यवन, भोज, पुलिन्द, पिटेनिक आदि अर्ध सभ्य जातियो मे भी धर्म प्रचारक भेजे गए, साथ ही सिहल द्वीप मे भी बौद्ध धर्म का प्रचार किया गया।

यह भी कहा जाता है कि अशोक ने कितनी ही धार्मिक, विशेषकर बौद्ध धर्म से सम्बन्धित, इमारते भी बनवाई। उनकी सख्या ८४००० मानी जाती है। किन्तु इसमे तथ्याश कितना है यह कहना मुश्किल है। राज्याभिषेक के तेरहवे व बीसवे वर्ष मे उसने आजीविकों के लिए बिहार की 'बराबर-पहाडी' मे वर्षावास बनवा दिए, व पन्द्रहवे वर्ष मे कपिलवस्तु के निकट बुद्ध कनकमुनि के स्तूप को सुधरवा दिया। राज्याभिषेक के इक्कीसवे वर्ष मे वह बुद्ध के जन्म-स्थान मे गया व वहाँ उसने स्मारक-रूप स्तम्भ बनवाए तथा उन पर लेख खुदवाए। अपने राज्याभिषेक के सत्ताईसवें वर्ष मे उसने उत्तर भारत के विभिन्न स्थानो मे स्तम्भ बनवा-कर उन पर अपनी सात धर्म-आज्ञाएँ खुदवाई। बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि अशोक ने काश्मीर मे श्रीनगर व नेपाल में देवपाटन आदि नगरो को बसाया। उसके राजत्वकाल मे पाटलिपुत्र के अशोकाराम मे तृतीय बौद्ध महासम्मेलन हुआ था, जिसमे बडे बडे बौद्ध विद्वानों ने भाग लिया था। अशोक के कार्यों पर आलोचनात्मक दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उदात्त विचारो व भावनाओं के कारण, जिनको व्यवहार मे लाने मे उसने कोई बात उठा न रखी थी, उसका स्थान विश्व के सम्राटो मे सर्वोपरि है।

अशोक के धर्म-लेख—अशोक ने अपने लेखो को 'धम्म-लिपि' कहा है। उनकी जो दो प्रतियाँ पेशावर व हजारा जिलों मे हैं वे खरोष्ठी लिपि में हैं, बाकी सब ब्राह्मी मे। ये लेख स्तम्भ, चट्टान, पर्वत आदि पर खुदे हुए हैं। प्रधान शिलालेख चौदह है, और एक के बाद एक ऐसे सब खुदे हुए हैं। सात विभिन्न स्थानों मे उनकी पूरी या अधूरी प्रतियाँ मिली हैं एक आठवीं प्रति और मिली है। सब प्रतियों की इबारत

लगभग एक-सी है। पुरानी सात प्रतियाँ इन स्थानों मे मिली है—(१) शाहबाजगढ़ी जिला पेशावर (सीमा प्रान्त) (२) मनसेहरा, जिला हजारा (सीमा प्रान्त), (३) कालसी, जिला देहरादून (उत्तर प्रदेश), (४) गिरनार, जूनागढ़ से एक मील पूर्व का ओर (सौराष्ट्र), (५) मोपारा, जिला थाना (बम्बई प्रदेश), (६) धाली, जिला पुरी भुवनेश्वर से सात मील (उडीसा), (७) जौगडा, जिला गजाम (उडीसा)। आठवी प्रति अब आन्ध्र के कुनूंल जिले मे मिली है। धौली व जौगडा की चट्टानो पर बारहवे व तेरहवे लेखों के स्थान मे दो अन्य लेख है, जिन्हे 'कलिङ्ग-लेख' कहा जाता है।

प्रधान स्तम्भ-लेख सात है, जो इन स्थानो पर स्थित स्तम्भो पर मिलते है—दिल्ली मे दो स्तम्भ है, जिन्हे फीरोज़शाह तुगलक (ई० स० १३५१-१३८८), अम्बाला (तोपरा) व मेरठ से उठवा लाया था, बिहार के चम्पारन जिले मे अरराज नन्दनगढ व रामपुरवा मे एक-एक स्तम्भ है, और प्रयाग के किले मे एक स्तम्भ है। सात प्रधान स्तम्भ-लेखो म से सातवाँ, जो सबसे लम्बा है, केवल दिल्ली—तोपरा(अम्बाला)—स्तम्भ पर है। प्रयाग स्तम्भ पर दो गौण लेख भी है—एक रानी कारुवाकी का दान-विषयक और दूसरा सघ में भेद डालने के बारे मे कौसाम्बी के महामात्यों के नाम। कौसाम्बी वाले उस लेख की एक प्रति भेलसा के निकट साँची (मध्यभारत मे भोपाल के पास) मे तथा एक सारनाथ (बनारस) मे भी है। इन दो के अतिरिक्त दो और गौण स्तम्भ-लेख नेपाल-तराई मे स्थित बुटौल जिले मे है, एक स्तम्भ रुम्मिनदेई मे है, जिसका केवल ठूँठ बचा है, और जिस पर यह लिखा है कि "राज्याभिषेक के बीसवे वर्ष राजा प्रियदर्शी शाक्यमुनि बुद्ध की इस जन्मभूमि में आया।" एक उसके तेरह मील उत्तर पश्चिम मे निगलीवा गाव के निकट है जिसमे लिखा है कि "कोनाकमन बुद्ध के इस स्तूप को प्रियदर्शी ने दूना करवाया।"

गौण शिलालेख इन स्थानो पर है—(१) रूपनाथ, जिला जबलपुर

(मध्यप्रदेश), (२) सहसराम, जिला शाहाबाद (बिहार), (३), (४) बैराट, जयपुर (मध्यभारत), (५) मास्की, जिला रायचूर (हैदराबाद स्टेट), (६), (७), (८) जिला चीतलद्रुग (मैसूर स्टेट)। इन सबके अतिरिक्त बिहार के गया जिले की बराबर नामक पहाड़ियों की तीन गुफाओं मे अशोक के तीन दानसूचक लेख है। इस प्रकार उसके कुल तैंतीस छोटे-बडे धर्म-लेख हैं।

अशोक के उत्तराधिकारी—अशोक की मृत्यु के पश्चात् मौर्य साम्राज्य एक प्रकार से छिन्न-भिन्न हो गया। कुनाल, जलौक, तिवर आदि उसके पुत्रों के बारे मे कुछ पता नहीं लगता, केवल उनके नामों का उल्लेख मिलता है। उसके नाती दशरथ का पता बिहार की नागार्जुन की गुफाओ (बराबर गुफाओ के पास) के लेख से चलता है, जोकि आजीविकों के लिए बनवाई गई थीं। जैनो की दन्तकथाओं से मालूम होता है कि उसका सम्प्रति नामी एक और नाती उज्जयिनी में राज्य करता था। इससे स्मिथ ने यह निष्कर्ष निकाला है कि अशोक के पश्चात् मौर्य साम्राज्य के दो टुकडे हुए। पूर्व मे दशरथ व पश्चिम में सम्प्रति राज्य करने लगा, जिनकी राजधानियाँ क्रमश पाटलिपुत्र और उज्जयिनी थी। पुराणो से ज्ञात होता है कि मौर्य वश का अन्तिम राजा बृहद्रथ अपने सेनापति पुष्यमित्र (पुष्पमित्र) द्वारा मारा गया, और शुङ्गवश (ई० पू० १८५–७३) की स्थापना हुई। इसके पश्चात् कण्व वश (ई० पू० ७३-२८) का आगमन हुआ। किन्तु मौर्य-साम्राज्य की बराबरी कोई न कर सका।

मौर्य-साम्राज्य मे सांस्कृतिक विकास—मौर्य-काल सर्वाङ्गीण सांस्कृतिक विकास का समय था। कला, साहित्य, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, धर्म आदि का पर्याप्त विकास हुआ था। कला के क्षेत्र मे अशोक के स्तम्भ, स्तूप, गुफाएँ उल्लेखनीय हैं, जिनका यथास्थान विवेचन किया जायगा।

कुशानवंश (ई० स० ४०-२६०)—यह वंश यूशी नाम की

एक विदेशी जाति का था। इसके संस्थापक केडफिसेस 'प्रथम' (ई० स० ४०-७८) ने हिन्दुकुश के कापिश आदि प्रान्त जीते थे, और इसके पुत्र केडफिसेस 'द्वितीय' (ई० स० ७८-१२०) ने पंजाब, सिन्ध, उत्तर प्रदेश आदि भारत के भागों पर अपना राज्य स्थापित किया था, क्योंकि इसके सिक्के इन स्थानों में पाये जाते हैं। इसके पश्चात् कनिष्क (ई० स० १२०-१६०) राजा हुआ। इसके सिक्के भी दूर-दूर तक मिलते हैं तथा इसकी एक मूर्ति बनारस के पास सारनाथ में मिली है। इसने मध्य एशिया के काशगर, यारकन्द, खोटान आदि देश भी जीते थे। इस प्रकार यह एक विस्तृत साम्राज्य का शासक था। यह पूर्णतया भारतीय रंग में रँग गया था। अशोक के समान बौद्ध धर्म को अपनाकर उसके प्रचार में इसने कोई कसर न उठा रखी। इसके समय में बौद्ध धर्म के तत्त्वों को निश्चित करने के लिए काश्मीर में बौद्ध विद्वानों की एक सभा भी बुलवाई गई थी। इसने अपने राज्य में स्थान-स्थान पर कितने ही बौद्ध मठ बनवाए थे, जहाँ बौद्ध भिक्षुओं के रहने की उत्तम व्यवस्था रहती थी। आज भी अफगानिस्तान में इन मठों के खण्डहर पाए जाते हैं। इसके राज्य-काल में 'गान्धार-कला' ने खूब विकास किया। अश्वघोष आदि बौद्ध विद्वान् भी इसकी छत्र-छाया में रहते थे। इसकी मृत्यु के पश्चात् वाजेष्क, हुविष्क आदि ने राज्य किया। इस वंश के अन्तिम राजा का नाम वासुदेव था, जिससे मालूम होता है कि यह वंश पूर्णतया भारतीय बन गया था।

गुप्तवंश (ई० स० ३२०-६०६)—इस वंश का आदि पुरुष श्री-गुप्त था, जिसका उल्लेख इस काल के लेखों में आता है, जहाँ उसे 'महाराज' शब्द से सम्बोधित किया गया है। उसके पुत्र घटोत्कच गुप्त को भी इसी प्रकार सम्बोधित किया गया है। इससे मालूम होता है कि ये दोनों किसी छोटे-से राज्य पर शासन करते होंगे और किसी के माण्डलिक होंगे। घटोत्कच गुप्त के पुत्र चन्द्रगुप्त 'प्रथम' (ई० स० ३२०-३३०) को 'महाराजाधिराज' कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि

इस वंश की राजनीतिक महत्ता चन्द्रगुप्त 'प्रथम' से ही प्रारम्भ होती है। उसने लिच्छवी वंशीय कुमारदेवी से विवाह किया, जिसके परिणाम-स्वरूप गुप्त-वंश का उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ। उसने 'गुप्त-संवत्' को भी चलाया, जिसका प्रारम्भ ई० स० ३२० से होता है। उसके राज्य मे तिरहुत, दक्षिण बिहार, अवध आदि सम्मिलित थे। उसके पश्चात् उसका पुत्र समुद्रगुप्त राजगद्दी पर बैठा।

समुद्रगुप्त (ई० स० ३३०-३७५)—सिंहासन पर बैठते ही समुद्र गुप्त ने विभिन्न प्रदेशो को जीतने का कार्यक्रम प्रारम्भ कर दिया। उसके प्रयाग-स्थित स्तम्भ-लेख मे उसके विभिन्न राजाओ के हराने का वर्णन है। इस लेख से उसकी वैयक्तिक व राजनीतिक महत्ता का अच्छा ज्ञान होता है। इस लेख से मालूम होता है कि उसने उत्तर भारत के दस राजाओ को हराकर उनका राज्य छीन लिया। उसने दक्षिणापथ (दक्षिण भारत) के लगभग बारह राजाओ को जीता, किन्तु उसने अपना आधिपत्य स्वीकार कराके राज्य लौटा दिए। इनके अतिरिक्त समतट, डवाक, कामरूप, नेपाल, कर्तृपुर आदि सीमा-राज्य तथा मालव, अर्जुनायन, यौधेय, माद्रक, आभीर, प्रार्जुन, सनकानीक, काक, खरपरिक, दैवपुत्र, शाहि, शाहानुशाहि, शक, मुरुण्ड, सैंहलक आदि सब उसके प्रभुत्व को स्वीकार करते थे। इस प्रकार उत्तर भारत का सम्पूर्ण प्रदेश उसके प्रत्यक्ष अधिकार मे था, जिसका विस्तार पूर्व मे ब्रह्मपुत्र से लेकर पश्चिम मे चम्बल तक, उत्तर मे हिमालय पर्वत से लेकर दक्षिण में नर्मदा तक था। पूर्वी सीमा के आसाम आदि राज्य, राजपूताना व मालवा के प्रजातन्त्र तथा दक्षिण भारत के लगभग समस्त राज्य उसके प्रभुत्त्व को स्वीकार करते थे। पश्चिमोत्तर के विदेशी कुशान राजाओ व सिंहल द्वीप के बौद्ध राजा मेघवर्मा से भी उसका सम्बन्ध था। उनके राजदूत गुप्त-दरबार मे रहते थे।

समुद्रगुप्त धार्मिक वृत्ति का था। अपनी विजय के पश्चात् उसने अश्वमेध यज्ञ किया, जिसमे ब्राह्मणो को कितना ही दान दिया। इस

यज्ञ की स्मृति मे उसने सुवर्ण-पदक भी बनवाए थे। उसके स्तम्भ-लेख से पता लगता है कि वह गायन-कला मे निपुण व सिद्धहस्त कवि था। कुछ सोने के सिक्को पर यह वीणा बजाता हुआ बतलाया गया है। वह धार्मिक साहित्य का भी पठन-पाठन खूब करता था।

चन्द्रगुप्त 'विक्रमादित्य' 'द्वितीय' (ई० स० ३७५-४१३)—'देवी चन्द्रगुप्त' नाटक के प्राप्त उद्धरणों से मालूम होता है कि समुद्रगुप्त के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त सिहासन पर बैठा। शको के आक्रमण से डरकर उसने अपनी रानी शकराज को सौपना स्वीकार किया। किन्तु उसके छोटे भाई चन्द्रगुप्त ने रानी का रूप धारण करके शत्रु का वध किया, और रामगुप्त को मारकर वह स्वत राज्य-सिहासन पर बैठ गया। उसने अपने पिता के पद-चिह्नो पर चलकर मालवा, गुजरात, सौराष्ट्र आदि राज्य जीते, जहाँ विदेशी शक-क्षत्रप राज्य करते थे। इन राज्यो को जीतने से गुप्त साम्राज्य का सम्बन्ध विदेशो से स्थापित हो गया। चन्द्रगुप्त ने 'विक्रमादित्य' की पदवी भी धारण की।

फाहियान का भारत-वर्णन (ई० स० ४०५-४११)—चन्द्रगुप्त 'विक्रमादित्य' के राजत्वकाल मे बौद्ध धर्म का अनुयायी चीनी यात्री भारत-यात्रा के लिए आया था। वह यहाँ के विभिन्न भागो मे गया व वहाँ पर जो-कुछ देखा व सुना उसको उसने अपनी 'भारत यात्रा' नामक पुस्तक मे लिख दिया। उसके वर्णन से मालूम होता है कि उस समय देश बहुत समृद्धिशाली था, शासन व्यवस्था उत्तम थी और लोगो का नैतिक जीवन भी बहुत बढ़ा चढ़ा था। उसने पाटलीपुत्र की समृद्धि व सौन्दर्य का वर्णन किया है, जहाँ अशोक के सुन्दर महल वर्तमान थे। उत्तर भारत में मुफ्त अस्पताल तथा यात्रियो के लिए सराय आदि की अच्छी व्यवस्था थी। उसने मालवा की समृद्धि व सौन्दर्य का भी अच्छा वर्णन किया है। फाहियान के मतानुसार उस समय भारतवासी बौद्धधर्म के अहिसा आदि सिद्धान्तो को अपने जीवन मे ओत-प्रोत करते थे।

कुमारगुप्त, 'प्रथम' (ई० स० ४१३-४५५)—चन्द्रगुप्त 'विक्रमादित्य' के पश्चात् रानी ध्रुवदेवी से उत्पन्न उसका पुत्र कुमारगुप्त 'प्रथम' सिंहासनारूढ हुआ। इसके राज्य-काल के बारे मे अधिक पता नही लगता। किन्तु इसके राज्य-काल के अन्त में पश्चिमोत्तर से हूणों का जबरदस्त आक्रमण हुआ, जिसने गुप्त-साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया। उसके पश्चात् उसका पुत्र स्कन्दगुप्त (ई० स० ४५५-४६७) सिंहासन पर बैठा। स्कन्दगुप्त को प्रारम्भ से पुष्यमित्रो व हूणों से लडना पडा और ये युद्ध उसके सम्पूर्ण राज्य-काल मे जारी रहे। उसने भी 'विक्रमादित्य' की पदवी धारण की थी। उसकी मृत्यु के पश्चात् गुप्त साम्राज्य बिलकुल नष्ट हो गया और विभिन्न विभागो में बँट गया।

गुप्त-शासन—गुप्त-राजाओ के स्तम्भ-लेख, ताम्रपत्र मुद्रा, सिक्कों आदि से उनकी शासन-व्यवस्था के बारे मे बहुत-कुछ मालूम होता है। समस्त साम्राज्य को विभिन्न विभागो मे बाँटा गया था, जिन्हे 'विषय' कहा जाता था। विभागो के सर्वोपरि अधिकारी को साधारणतया 'उपरिक' कहा जाता था। ये शासक अपने-अपने कर्मचारियो की नियुक्ति स्वत कर लेते थे। केन्द्रीय शासन मे राजा सर्वोपरि रहता था, किन्तु उसके मन्त्रि मण्डल का महत्त्व भी कुछ कम नही था। मन्त्रि-मण्डल के सदस्य वश परम्परागत रहते थे, जिनमे से कुछ इस प्रकार थे—दण्डग्राहक, सधिविग्राहक, विनयस्थिति स्थापक आदि। बडे बडे राजकर्मचारियो के चार दर्जे थे—(१) कुमारामात्य, (२) युवराजपदीय कुमारामात्य, (३) श्री युवराजभट्टारकपदीय कुमारामात्य, (४) परमभट्टारकपदीय कुमारामात्य। कितनी ही मुद्राओ से 'दण्डनायक', 'महाप्रतिहार', 'दण्डपाशाधिकरण' आदि राजकर्मचारियो का पता लगता ह। स्थानीय शासन प्रजातन्त्र के सिद्धान्तो पर विकसित किया गया था। नगर व ग्रामो मे पचायत द्वारा शासन होता था। श्रेणि, पूग आदि द्वारा समाज के आर्थिक जीवन को भी व्यवस्थित किया गया था। देहातो तक में शासन, न्याय आदि सम्बन्धी सब पत्र सुरक्षित रखे जाते थे।

राज-नियम आदि को लेखबद्ध किया जाता था। लेखन-कार्य करने वाले को 'पुस्तकपाल' कहा जाता था।

सुवर्ण युग—गुप्तकाल को साहित्य, कला, विज्ञान, धर्म आदि के विकास का सुवर्ण युग कहा जाता है। इस काल मे सस्कृति का सर्वांगीण विकास हुआ था। सस्कृत-साहित्य मे पर्याप्त प्रगति की गई थी। कुछ विद्वानो के मतानुसार कालिदास इसी युग मे हुआ था। 'मृच्छकटिक', 'मुद्राराक्षस' आदि नाटक भी इसी समय बने। पौराणिक साहित्य ने भी अपना बहुत-कुछ वर्तमान रूप इसी समय धारण किया। 'मत्स्य-पुराण', 'विष्णु पुराण' आदि इसी काल के माने जाते है। स्थापत्य, मूर्ति-कला, चित्र-कला आदि का भी खूब विकास हुआ था। अजन्ता व सिग्रिया (सीलोन) की गुफाओ मे इस समय की चित्र कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। इस समय सङ्गीत-कला को भी विकसित किया गया था, जिसमे समुद्रगुप्त स्वत खूब दिलचस्पी लेता था। गणित, ज्योतिष आदि के क्षेत्रो मे भी अच्छी प्रगति की गई थी। इस सम्बन्ध मे आर्यभट वराह-मिहिर आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय है। मिस्र, रोम आदि से वैदेशिक व्यापार भी खूब बढा चढा था। धर्म के क्षेत्र में भक्ति-मार्ग का विकास हुआ था। विष्णु की आराधना विशेष रूप से की जाती थी। गुप्त सम्राट् अपने को 'परम-भागवत' कहते थे। दर्शन के क्षेत्र मे साख्य, बौद्ध आदि दर्शनों का विकास विशेष उल्लेखनीय है।

वर्धन-वश—(ई० स० ६०६-६४७)—इस वश का संस्थापक प्रभाकरवर्धन था, जिसने हूणो को मार भगाने के लिए अपने पुत्र राज्य-वर्धन को पजाब की ओर भेजा था। राज्यवर्धन के गौड-नरेश शशाङ्क द्वारा मारे जाने पर उसके छोटे भाई हर्ष (ई० स० ६०६-६४७) ने उत्तर भारत के छोटे-छोटे राज्यो को जीतकर हिमालय व नर्मदा के बीच मे अपना साम्राज्य स्थापित किया था। उसने दक्षिण जीतने का भी प्रयत्न किया, किन्तु वहाँ के शासक चालुक्यवशी पुलिकेशी ने उसे हरा दिया। हर्ष बौद्ध धर्म का अनुयायी था। उसके राज्यकाल मे चीनी

यात्री यूएनच्वेड् भारत मे आया था। उसने हर्ष के राज्यकाल का अच्छा वर्णन किया है। शासन-व्यवस्था अच्छी थी तथा प्रजा सुखी व समृद्धिशाली थी। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।

गुर्जर प्रतिहार-वश—हर्ष के पश्चात् उत्तर भारत पुन छोटे-छोटे भागो में विभाजित हो गया। किन्तु ईसा की नवी शताब्दी के लगभग कन्नौज का गुर्जरप्रतिहारवश उत्तर भारत व बिहार मे अपना साम्राज्य स्थापित कर सका। इस समय बगाल मे पालवश शक्तिशाली था। सास्कृतिक दृष्टि से इस काल का कोई विशेष महत्त्व नही है।

× × ×

दक्षिण भारत—उत्तर व दक्षिण भारत का सास्कृतिक सम्बन्ध अत्यन्त ही प्राचीन काल से स्थापित हो गया था, जिसके बारे मे निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। कुछ इतिहासकारो का मत है कि आर्य-सस्कृति ई० पू० सातवीं या छठी शताब्दी मे दक्षिण भारत मे फैली। किन्तु प्राचीन सस्कृत साहित्य मे 'दक्षिणापथ' 'दक्षिण' आदि का उल्लेख आता है, जिससे पता चलता है कि कदाचित् बहुत पहले से ही दक्षिण भारत ने आर्य-संस्कृति का पाठ पढा था। दक्षिण भारत की ऐतिहासिक सामग्री का उपयोग अभी तक अच्छी तरह स नही किया गया, इसलिए दक्षिण भारत की प्राचीनता का स्पष्ट पता नहीं लगता। सास्कृतिक दृष्टि से उत्तर व दक्षिण दोनो कितने ही पहले से एकता के सूत्र मे बँध गए थे। उत्तर भारत के राजाओ ने कितनी ही बार दक्षिण को जीतने का प्रयत्न किया, दक्षिण के राजाओ ने भी ऐसा प्रयत्न कभी-कभी किया था।

दक्षिण भारत के विभाग—भौगोलिक व ऐतिहासिक दृष्टि से दक्षिण भारत के दो विभाग किये जाते है, जैसे (१) दक्खन, व (२) दूरवर्ती दक्षिण। पहले विभाग के अन्तर्गत नर्मदा के दक्षिण का भाग आता है, जिसमे महाराष्ट्र, रियासत हैदराबाद आदि सम्मिलित किये

जाते है। कृष्णा व गोदावरी नदियाँ इसी विभाग में से बहती हैं। दूसरे विभाग के अन्तर्गत कृष्णा व तुङ्गभद्रा नदियो के दक्षिण का भारत आ जाता है। मद्रास (विजगापट्टम व गजाम के जिलो को छोडकर) मैसूर, कोचीन, त्रावणकोर आदि राज्य इसमे सम्मिलित किये जा सकते है। प्रथम विभाग का जब से व्यवस्थित इतिहास प्रारम्भ होता है, तब से यहाँ पर आन्ध्र, चालुक्य, राष्ट्रकूट, यादव आदि वशो ने राज्य किया।

आन्ध्र वश (ई० पू० २३०-ई० स०-२२५)—आन्ध्र लोगो का सर्वप्रथम उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण मे आता है, जहां उन्हे विश्वामित्र के भ्रष्ट पुत्रों मे सम्मिलित करके दस्यु कहा गया है। यूनानी राजदूत मेगास्थनीज (ई० पू० ३०० के करीब) ने आन्ध्रो को एक शक्तिशाली राष्ट्र कहा है। अशोक के लेखो (ई० पू० २५६) मे भी उनका उल्लेख है पुराणो मे आन्ध्र-वश की विस्तृत वशावली दी है और कहा गया है कि काण्वायन-वश के पश्चात् आन्ध्र वश ने पाटलीपुत्र मे अपना राज्य स्थापित किया। किन्तु इस वश के तृतीय राजा सातकरणी का उल्लेख कलिङ्गराज खारवेल के हाथीगुम्फा लेख (ई० पू० १७१) मे आता है। इससे ज्ञात होता है कि काण्वायनो के पहले से ही यह वश दक्षिण भारत मे शक्तिशाली था। ऐसा मालूम होता है कि अशोक के पश्चात् उन्होने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया था। पुराणो के अनुसार उनका सर्वप्रथम राजा सिमुक था, जिसने कृष्णा के दक्षिणी कछार मे स्वतन्त्र आन्ध्र-राज्य की स्थापना की। इस वश के दूसरे राजा कृष्ण के राजत्वकाल मे आन्ध्रराज्य गोदावरी नदी के उद्गम स्थान तक फैल गया। तीसरा राजा श्री सातकर्णी था, जिसका उल्लेख खारवेल के लेख मे है। ई० पू० अट्ठाईसवें या सत्ताईसवे वर्ष के लगभग आन्ध्रों ने उत्तर के काण्वायनों का नाश किया। इससे मालूम होता है कि इस वंश का राज्य विस्तार खूब हुआ होगा। इस वश के राजा साधारणतया, 'सातकरणी' पदवी धारण करते थे और अपने को 'सातवाहन वश' का कहते थे। इसलिए इन नामो की सहायता से किसी

निश्चित राजा का बोध नही हो सकता। इस वश के सत्रहवें राजा हाल का उल्लेख महाराष्ट्री प्राकृत के काव्य 'सप्तशती' के लेखक के रूप मे आता है।

आन्ध्रो का विदेशियो से सङ्घर्ष—आन्ध्र-वश का तेईसवा राजा गौतमीपुत्र श्री सातकर्णी और चौबीसवा राजा वाशिष्ठीपुत्र श्रीपुलुमायी था। उनके राज्यकाल में आन्ध्रो को चहरातवशीय शक चत्रपो से लडना पडा था, जिनकी शक्ति का विकास दक्षिण भारत मे भी होने लगा था। ई० स० ११६१ के लगभग गौतमीपुत्र सातकर्णी ने चहरात वश का उच्छेदन किया व उसके राज्य को अपने साम्राज्य मे मिला लिया। गोदावरी का कछार, बरार, मालवा, काठियावाड, गुजरात व उत्तर कोकण आन्ध्र-राज्य के विभाग बन गए। गौतमीपुत्र ने शक, पह्लव आदि विदेशियो का नाश करके ब्राह्मण व बौद्ध धर्म को फिर से उन्नत किया तथा ब्राह्मण व बौद्धो को कितना ही दान दिया। ई० स० १२८ के लगभग गौतमीपुत्र का पुत्र वाशिष्ठीपुत्र श्री पुलुमायी सिहासन पर बैठा। उसने लगभग तीस वर्ष तक राज्य किया। उसका विवाह उज्जैन के महाक्षत्रप रुद्रदामन् 'प्रथम' की कन्या से हुआ था। इस महाक्षत्रप ने अपने दामाद को दो बार हराया व गौतमीपुत्र द्वारा जीते गए सब प्रान्तों को वापस ले लिया। ई० स० १५० तक रुद्रदामन्, ने इस काम को पूरा किया होगा, क्योंकि उस वर्ष उसने गिरनार में अपना एक शिलालेख खुदवाया, जिसमे आन्ध्र-राजा पर विजय प्राप्त करने का उल्लेख है। वाशिष्ठीपुत्र पुलुमायी के पश्चात् महत्त्व का राजा, यज्ञश्री (ई० स०-१६६-१९६) हुआ, जिसके कुछ चॉदी के सिक्के मिले है, जो कि शकक्षत्रपो के सिक्को के समान है। इससे मालूम होता है कि कदाचित् उसने क्षत्रपो से कुछ प्रान्त जीतकर पुन आन्ध्र राज्य मे मिला लिये होगे। इस प्रकार, पुराणो के अनुसार इस वश के तीस राजाओ ने लगभग ४६० वर्षों तक राज्य किया।

आन्ध्र राज्य मे सांस्कृतिक विकास—आन्ध्र राजाओ के शिला व

गुफाओ के लेखो के सहारे तत्कालीन सास्कृतिक विकास का स्पष्ट ज्ञान होता है तथा सामाजिक व आर्थिक परिस्थिति का बोध होता है। इस समय बौद्ध व ब्राह्मण धर्म की खूब प्रगति हुई थी। दक्षिण की लगभग सब बौद्ध गुफाएँ इसी समय बनवाई गई और उनमे रहने वाले भिक्षुओं के उदर-निर्वाह के लिए कितने ही गॉव 'दान मे दिये गए थे। आन्ध्र राजा स्वत ब्राह्मण-धर्म के अनुयायी थे। उन्होने अश्वमेध, गवामयन आदि कितने ही यज्ञ किये तथा ब्राह्मणो को कितनी ही दक्षिणा दी। इस समय भक्ति मार्ग का जोर था। शिव, कृष्ण (सकर्षण, वासुदेव), इन्द्र, धर्म आदि देवताओं की आराधना की जाती थी। कितने ही शक व अमीरो ने ब्राह्मण-धर्म स्वीकार कर लिया था। आर्थिक दृष्टि से समाज के साधारणतया चार वर्ग थे। पहले मे महारथी, महाभोज व महासेनापति थे, जो 'राष्ट्र' (जिला) के ऊपरी थे। दूसरे वर्ग मे अमात्य, महामात्य, भाण्डागारिक, नैगम, सार्थवाह, श्रेष्ठिन् आदि थे। तीसरे वर्ग मे लेखक, वैद्य, हालकीय (किसान), सुवर्णकार, गान्धिक आदि व चौथे में वर्धकी (बढ़ई), मालाकार, लोहवणिक, दासक (मछुआ) आदि सम्मिलित थे। विभिन्न व्यवसायो को 'श्रेणि', 'पूग' आदि द्वारा व्यवस्थित व सुसगठित किया गया था। इस समय वैदेशिक व्यापार भी खूब बढ़ा-चढा था। पश्चिम से व्यापारी जहाज लाल सागर से होते हुए भारत के पश्चिमी किनारे के बन्दरस्थानो पर आते थे। इस प्रकार आन्ध्रकाल मे पर्याप्त रूप से समाज का आर्थिक विकास हुआ था।

चालुक्य-वश (ई० स० ५५०–७५३)—आन्ध्रो के पश्चात् दक्खिन के राजनीतिक इतिहास के बारे में निश्चित रूप से कुछ पता नहीं चलता। ईसा की छठी शताब्दी के मध्य भाग में पुलकेशी 'प्रथम' ने इस भू-भाग मे चालुक्य (सोलंकी) वश की स्थापना की और अपनी राजधानी वातापि (बीजापुर जिले का बादामी) मे स्थापित करके राज्य-विस्तार प्रारम्भ किया। उसके पुत्र कीर्तिवर्मा व मंगलेश ने पूर्व व पश्चिम में राज्य का विस्तार किया। कीर्तिवर्मा के पुत्र पुलकेशी

'द्वितीय' (ई० स० ६०८–६४२) ने लगभग बीस वर्ष तक लडकर लाट (दक्षिणी गुजरात), गुर्जर (उत्तर गुजरात व राजपूताना), मालवा, कोकण आदि देशों को अपनी शक्ति का परिचय दिया। पूर्व मे उसने कृष्णा व गोदावरी के मध्यवर्ती वेङ्गी को जीत लिया। चोल, पाण्ड्य केरल आदि दूरवर्ती दक्षिण के राजाओ से भी उसने युद्ध किये। नर्मदा के दक्षिण मे निस्सन्देह वह सबसे अधिक शक्तिशाली राजा था। ई० स० ६२० के लगभग उसने हर्ष की बढ़ती हुई शक्ति को रोक दिया और हर्ष ने अपने साम्राज्य की सीमा नर्मदा को निश्चित कर लिया। प्रसिद्ध चीनी यात्री यूएनच्वेङ्ग उसके दरबार मे आया था और उसने उसके राज्य की समृद्धि का सुन्दर वर्णन किया है। ई० स० ६४२ के लगभग पल्लवराज नरसिह वर्मा ने पुलकेशी को बुरी तरह हराया और कदाचित् उसकी मृत्यु भी इसी युद्ध में हो गई। इसके परिणामस्वरूप लगभग तेरह वर्ष तक चालुक्य शक्ति का अस्तित्व न रहा, किन्तु ई० स० ६५५ मे पुलकेशी 'द्वितीय' के पुत्र विक्रमादित्य 'प्रथम' ने पल्लवो को बुरी तरह हराकर चालुक्य-वश को पुन शक्तिशाली बना दिया। किन्तु पल्लवो से चालुक्यों का युद्ध तो जारी ही रहा। ई० स० ७४० के लग-भग विक्रमादित्य 'द्वितीय' ने पुन पल्लव-राजधानी पर अधिकार जमा लिया। ई० स० ७५३ के लगभग प्राचीन राष्ट्रकूट वश के दन्तिदुर्ग ने विक्रमादित्य 'द्वितीय' के पुत्र व उत्तराधिकारी कीर्तिवर्मा 'द्वितीय' को हरा दिया। इस प्रकार चालुक्य-वश का अन्त हो गया व दक्षिण की राजनीतिक बागडोर राष्ट्रकूटो के हाथ मे चली गई और लगभग सवा दो सौ वर्ष तक उन्ही के हाथ मे रही। किन्तु चालुक्य वश की उपशाखाएँ पूर्व व पश्चिम के छोटे-छोटे भागों मे बहुत समय तक जीवित रहीं।

धार्मिक परिवर्तन—चालुक्य-वश के दो सौ वर्षों के राज्य में बहुत से धार्मिक परिवर्तन हुए। बौद्ध धर्म की अवनति प्रारम्भ हो गई थी। ब्राह्मण व जैन धर्म उत्कर्ष की ओर कदम बढ़ा रहे थे। यज्ञादि से

सम्बन्धित कर्मकाण्ड का अच्छा विकास होने लगा और इस विषय के ग्रन्थ भी लिखे जाने लगे। पुराणों में वर्णित धर्म का स्वरूप अधिक लोकप्रिय होने लगा। विष्णु, शिव आदि पौराणिक देवताओं के कितने ही भव्य मन्दिर बनवाये गए। बौद्ध व जैनों की देखादेखी शैव, वैष्णव आदि भी गुफा-मन्दिर बनवाने लगे। मगलेश चालुक्य द्वारा बनवाया हुआ विष्णु-मन्दिर गुफा-मन्दिर का सुन्दर नमूना है। ई० स० ७३५ के लगभग जरतुस्त्र धर्म के अनुयायी पारसी लोग भी सर्वप्रथम पश्चिम भारत मे आकर बसे।

राष्ट्रकूट-वश (ई० स० ७५३–९७३)—दन्तिदुर्ग के पश्चात् उसका काका कृष्ण 'प्रथम' सिहासन पर बैठा। उसने चालुक्य-वश के अधिकार मे जितने प्रदेश थे उन सब पर अपना अधिकार जमा लिया। उसके राज्य काल में इलोरा (हैदराबाद राज्य, औरंगाबाद के निकट) का सुप्रसिद्ध 'कैलाश-मन्दिर' बनवाया गया। इस मन्दिर को पहाड़ मे बनाया गया है, जोकि कला का उत्कृष्ट नमूना है। गोविन्द 'द्वितीय' व ध्रुव का राजत्वकाल विशेष महत्त्व का नही था। गोविन्द 'तृतीय' (ई० स० ७९३–८१५) ने विन्ध्य पर्वत व मालवा से लेकर दक्षिण मे काँची तक अपने राज्य का विस्तार किया। इसके पश्चात् अमोघ-वर्ष (ई० स० ८१५–८७७) ने लगभग बासठ वर्ष तक राज्य किया। वह पूर्व के चालुक्य-राजाओ से हमेशा लडता रहा। वह अपनी राज-धानी को नासिक से मान्यखेत (मालखेड) मे ले गया। इस समय दिगम्बर जैन मत का खूब विकास हुआ। इन्द्र 'तृतीय' (ई० स० ९१४–९१६) ने कन्नौज पर सफल आक्रमण किया। इस वश का अन्तिम राजा कक्क 'द्वितीय' था, जिसे चालुक्यवशीय तैलप 'द्वितीय' ने हराया और पुन चालुक्य-वश की स्थापना की। इस वंश को कल्याणी का चालुक्य-वश कहा जाता है। इस वश ने लगभग दो सौ वर्ष तक राज्य किया।

कल्याणी का चालुक्य-वश (ई० स० ९७३–११९०)—चालुक्य-

वश के उद्धारक तैलप ने लगभग चौबीस वर्ष तक राज्य किया और उसने गुजरात के अतिरिक्त प्रचीन चालुक्य-राज्य के सब प्रदेशो पर अपना अधिकार जमा लिया। मालवा के परमार राजा मुञ्ज से उसको बहुत लडना पडा। उसके पश्चात् उसका पुत्र सत्याश्रय राजा बना, जिसके राजत्वकाल मे चोलो के राजा राजराज ने चालुक्य-राज्य पर आक्रमण किया। ई० स० १०५२ मे चालुक्यराज सोमेश्वर 'प्रथम', जो 'आहवमल्ल' भी कहलाता था, कृष्णा के किनारे चोलराज राजाधिराज से लडा। इस युद्ध मे चोलराज की मृत्यु हुई। विक्रमादित्य 'षष्ठ' या 'विक्रमाङ्क', जिसके जीवन का वर्णन बिल्हण द्वारा 'विक्रमाङ्कदेवचरित' मे किया गया है, अपने भाई सोमेश्वर 'द्वितीय' को हराकर स्वत राज-गद्दी पर बैठ गया। उसने ई० स० १०७६ से ई० स० ११२६ तक राज्य किया। उसने काँची जीता व दोरासमुद्र (मैसूर) के होयसाल राजा से खूब लडाई की। उसकी मृत्यु के पश्चात् चालुक्य-शक्ति क्षीण होने लगी। ई० स० ११५६–६२ के मध्य तैलप 'तृतीय' के सेनापति विज्जन कालचुर्य ने विद्रोह किया और अधिकाश राज्य पर कब्जा जमा लिया। ई० स० ११८३ मे चालुक्य-वशीय सोमेश्वर 'चतुर्थ' ने विज्जन के उत्तराधिकारियो से अपना राज्य छीन लिया, किन्तु थोडे ही समय के बाद देवगिरि के यादवो ने आक्रमण किया और ई० स० ११९० मे कल्याणी के चालुक्य-वश का अन्त हो गया।

देवगिरि का यादव-वश (ई० स० ११९०-१३१८)—देवगिरि (हैदराबाद राज्य का दौलताबाद) के यादववशीय राजा चालुक्यो के सामन्तो के वशज थे। देवगिरि व नासिक के मध्यवर्ती प्रदेश पर उन्होने अपना अधिकार जमा लिया। भिल्लम यादव ने सर्वप्रथम महत्त्व का स्थान प्राप्त किया। वह ई० स० ११९१ मे होयसाल राजा द्वारा युद्ध मे मारा गया। सबसे अधिक शक्तिशाली राजा सिंघण था, जो ई० स० १२१० मे राजगद्दी पर बैठा। उसने गुजरात व अन्य राज्यों पर आक्रमण करके यादव-राज्य का विस्तार किया। ई० स० १२९४ में

दिल्ली के अलाउद्दीन खिलजी ने इस राज्य पर आक्रमण किया और यादव-राज रामचन्द्र को उसके सामने झुकना पडा। ई० स० १३०६ मे मलिक काफूर ने पुन आक्रमण किया और रामचन्द्र को पुन झुकना पडा। इस प्रकार यादव-शक्ति क्षीण हो गई व ई० स० १३१८ मे उसका अन्त हो गया। सुप्रसिद्ध सस्कृत लेखक हेमाद्रि रामचन्द्र के राज्य-काल मे हुआ, जिसने धर्मशास्त्र के सम्बन्ध में कितना ही लिखा है।

दूरवर्ती दक्षिण—इस विभाग का ऐतिहासिक विकास शेष भारत के विकास से साधारणतया अलग रहा है। यह पूर्णतया तामिल जाति व भाषा का है। इसलिए प्राचीन काल में इसका अधिकाश भाग 'तामिलकम' (तामिल देश) कहलाता था। प्राचीन काल से ही यहाँ तीन शक्तिशाली राज्य विकसित हुए थे, जैसे पाण्ड्य, चोल व चेर या केरल।

पाण्ड्य-राज्य—आधुनिक मदुरा व तिन्नवल्ली के जिले तथा त्रिचन्नापल्ली व त्रावणकोर का कुछ भाग इसमे सम्मिलित था। कात्यायन, मेगास्थनीज आदि ने पाण्ड्यो को उल्लिखित किया है। ई० पू० २० के लगभग किसी पाण्ड्य ('पेण्डियन') राजा ने अपने दूत ऑगस्टस सीजर के राज्य काल मे रोम भेजे थे। रोम निवासी ऐतिहासिक प्लिनी द्वारा ज्ञात होता है कि ईसा की प्रथम शताब्दी मे इस राज्य की राजधानी मदुरा या कूदल थी। इसके पूर्व कदाचित् कोरकई नगर अधिक महत्त्वशाली रहा हो।

पाड्य-वश के राजा—प्राचीन तामिल साहित्य मे कितने ही पुराने राजाओ का उल्लेख आता है किन्तु उनके बारे में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। नेदुम-चेलियन ही सर्वप्रथम राजा है, जिसके बारे मे तिथि-क्रम की दृष्टि से कुछ कहा जा सकता है। उसका समय ईसा की दूसरी शताब्दी बताया जाता है, व वह चोलराज नेदुमुदिकिल्लि चेरराज चेकुत्तुवन व सिहलराज गजबाहु का समकालीन था। एक शिलालेख से ईसा की पाँचवीं शताब्दी के मध्य से दसवी

शताब्दी के प्रारम्भ तक के राजाओ के नाम प्राप्त होते है, किन्तु उनका और कोई वर्णन नही है। ईसा की आठवी शताब्दी के अरिकेसरिन् के बारे मे कहा जाता है कि उसने पल्लवो को हराया। ईसा की नौवी शताब्दी के उत्तरार्ध में राजा नवगुनवर्मन् को अपराजित पल्लव ने हराया। इस समय चोल-राज्य बहुत ही अशक्त था, इसलिए पल्लवों की बढती हुई शक्ति को रोकने की सब जिम्मेदारी पाण्ड्यों पर आ पडी थी। ईसा की दसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से चोल-शक्ति बढ़ने लगी, जिसके सामने पाण्ड्य-राजाओ को झुकना पडा। ई० स० ९९४ मे चोलराज राजराजा के समय पाण्ड्यो का राज्य-विस्तार बहुत कम कर दिया गया था, व उन्हे चोलो का आधिपत्य स्वीकार करना पडा था। यह परि-स्थिति लगभग दो सौ वर्ष तक रही। ईसा की तेरहवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे पाण्ड्यो का उत्कर्ष पुन प्रारम्भ हुआ।

सास्कृतिक विकास—पाण्ड्यो के राजत्वकाल में बहुत से धार्मिक परिवर्तन हुए। ब्राह्मण, जैन, बौद्ध आदि धर्मों का प्रचार प्राचीन काल से ही हो गया था। विभिन्न कलाओ का भी विकास किया गया था। वैदेशिक व्यापार भी खूब उन्नत था। मोती आदि के उद्योग-धन्धे तो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कोरकाई कायल आदि प्राचीन नगर व्यापार के ज़बरदस्त केन्द्र थे।

केरल-राज्य—केरल का सर्वप्रथम उल्लेख अशोक के लेखों मे आता है। प्लिनी, 'पेरिप्लस' के लेखक आदि ने भी इसका उल्लेख किया है। प्राचीन तामिल साहित्य मे, जिसका प्रारम्भ ईसा की पहली शताब्दी से होता है, लिखा है कि केरल राज्य के पाँच 'नाडु' (जिले) थे, जैसे पूली, कुदम, कुहम, वेन वकर्का। ये सब कोनानी नदी से कन्या-कुमारी तक फैले हुए थे। तामिल साहित्य मे चेन कुट्टुवन आदि राजाओ के नाम-मात्र उल्लिखित हैं। ईसा की बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे चोल-साम्राज्य मे दक्षिण केरल (त्रावणकोर) सम्मिलित

कर लिया गया था। केरल-राज्य का वैदेशिक व्यापार बहुत चढा-बढ़ा था, व आर्थिक दृष्टि से यह राज्य समृद्धिशील था।

चोल-राज्य—चोलो का उल्लेख भी अशोक के लेखो मे है। उनका राज्य जोकि 'चोलामण्डलम्' कहलाता था, पेन्नार व वेलूर नदियो के मध्य पाण्ड्य-राज्य के उत्तर-पूर्व मे था। चोलो के प्रारम्भिक इतिहास के लिए सगम-साहित्य का ही सहारा लेना पडता है, जिसमे कुछ प्राचीन राजाओं का अस्पष्ट उल्लेख है। पाली भाषा मे लिखित 'महावश' के अनुसार ईसा की दूसरी शताब्दी के मध्य मे करिकाल राजा के समय से चोलो का ऐतिहासिक युग प्रारम्भ होता है। उसने केरल व पाण्ड्यो को हराया था। उसने सिंहलद्वीप पर भी आक्रमण कया था। उसने कावेरीपट्टनम् को बसाकर वहाँ अपनी राजधानी रखी। इसके राजत्व काल मे चोल-शक्ति का खूब विकास हुआ। करिकाल का उत्तराधिकारी उसका नाती नेदुमुदीकिल्ली था। उसके राज्य-काल में चोल शक्ति क्षीण होने लगी। पाण्ड्य, केरल, पल्लव आदि ने चोल-राज्य पर आक्रमण किये। इसके पश्चात् कुछ शताब्दियो तक चोलों का महत्त्वपूर्ण स्थान नही रहा। किन्तु ईसा की आठवी शताब्दी मे पल्लवो के पतन के पश्चात् चोल-शक्ति का पुन उत्थान हुआ। राजा विजयालय ने पल्लवो व पाण्ड्यो के झगडो का लाभ उठाकर अपनी शक्ति का विकास किया व अपनी राजधानी तजौर मे रखी। उसका पुत्र आदित्य ई० स० ८८० मे राजा बना व उसने पल्लवो को बुरी तरह से हराया। उसके पुत्र परान्तक 'प्रथम' ने पाण्ड्यो को हराया व उनकी राजधानी मदुरा पर कब्जा कर लिया। उसके राज्य-काल के उत्तरार्ध में राष्ट्रकूटो ने चोल-राज्य पर आक्रमण शुरू किये, यहाँ तक कि वे लोग काञ्ची व तजौर तक भी पहुँच गए थे। उत्तरमल्लूर के लेख परान्तक के राज्य-काल के हैं, जिनसे तामिल देश की ग्राम-पञ्चायत आदि प्रथा पर अच्छा प्रकाश पडता है।

ई० स० ६८५ मे जब राजराज सिहासन पर आया, तब चोल-राज्य

के उत्तर का भय जाता रहा, क्योकि चालुक्यो ने राष्ट्रकूटो को हरा दिया था। अब चोल-वंश के सुवर्ण-युग का प्रारम्भ हुआ। राजराज ने अपने राज्य-काल के पहले दस वर्षों मे पाण्ड्य-राज्य पर अपना अधिकार मजबूत किया व केरल-राज्य को जीत लिया। उसने उत्तर दिशा मे अपने राज्य की वृद्धि की व वह कलिङ्ग तक भी पहुँच गया। इस प्रकार ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे चोलो का राज्य समस्त दक्षिण भारत मे फैला हुआ था, व सिहल द्वीप भी उसमे सम्मिलित कर लिया गया था। राजराज को अपने राज्य-काल के अन्तिम समय में चालुक्यों से भी लडना पडा। उसने अपने राज्य के तेरहवे वर्ष मे भुवनेश्वर का महान् मन्दिर बनवाया। ई० स० १०१२ मे राजेन्द्र उत्तमचोल राजा बना। उसने चालुक्यो से लडाई की, सिहलद्वीप पर आक्रमण किया व केरल-राज्य को हराया। ई० स० १०२० मे चालुक्यराज जयसिह 'तृतीय' को हराकर वह उत्तर की ओर बढा व कलिङ्ग कोसल आदि जीतता हुआ बङ्गाल पहुँचा, जहाँ के राजा गोविन्दचन्द्र व महीपाल को भागना पडा। इस प्रकार वह गङ्गा नदी तक पहुँच गया व उसने 'गगाई-कोडा' की पदवी धारण की। कदाचित् उसने अपनी नौका सेना मलाया प्रायद्वीप मे भी भेजी थी। उसने चोलापुरम् नाम की राजधानी बसाई, जिसमे सुन्दर मन्दिर, महल, नहरें आदि बनवाई गई। उसने ई० स० १०४२ तक राज्य किया।

राजेन्द्र का पुत्र व उत्तराधिकारी राजाधिराज था। उसे पडोस के विद्रोही राजाओं से लडना पडा, जोकि उससे उसके पिता का बदला लेना चाहते थे। पाण्ड्य, केरल, चालुक्य आदि राज्यो को उसने हराया। इसके पश्चात् उसने अश्वमेधयज्ञ किया व 'जय कोण्ड चोल' की पदवी धारण की चालुक्यो से पुन युद्ध शुरू हुआ व तुङ्गभद्रा नदी के किनारे कोप्पम की लडाई मे चोलराज मारा गया। इसके पश्चात् चोल राज्य की बागडोर उसके भाई राजेन्द्र ने अपने हाथों मे ली। उसे भी चालुक्यो से लडना पडा। ई० स० १०६३ मे उसकी मृत्यु हो गई व

उसका भाई वीर राजेन्द्र राजा बना। उसे भी चालुक्यो से लडना पडा। सिहल के राजा विजयबाहु ने भी चोलों के विरुद्ध विद्रोह किया। ई० स० १०७० मे राजेन्द्र की मृत्यु के पश्चात् अधिराजेन्द्र राजा बना, व केवल चार वर्षों के पश्चात् उसकी हत्या हुई। इसके पश्चात् चोलों का महत्त्व घट गया।

पल्लव वंश—ईसा की पाँचवी से नौवी शताब्दी तक दक्षिण भारत मे पल्लव-वश अत्यन्त ही शक्तिशाली रहा। पल्लव राज्य के सर्वाधिक विस्तार के समय उसमे चोल-राज्य के पूर्वी किनारे का अधिकाश भाग व आन्ध्र सातवाहनराज्य का भाग सम्मिलित किया गया था। कुछ इतिहासकारो का मत है कि पल्लव लोग विदेशी थे।

पल्लव राजा—गुण्टूर जिले मे पाये गए पल्लव-वश के ताम्र-पत्रों से मालूम होता है कि प्राचीन काल मे काञ्ची मे एक राजा राज्य करता था। उसका राज्य कृष्णा नदी तक फैला हुआ था। ये ताम्रपत्र प्राकृत में है, व ईसा की तीसरी व चौथी शताब्दी के मालूम होते है। वह राजा कदाचित् समुद्रगुप्त के स्तम्भ-लेख मे उल्लिखित 'काञ्ची का विष्णुगोप' हो। ईसा की छठी शताब्दी से आठवी शताब्दी के उत्त-रार्ध तक पल्लव व चालुक्य राज्यस्वाभ वाकि शत्रुओ के समान खूब लडते रहे। ई० स० ५७५ के लगभग सिंहविष्णु पल्लवों का राजा था। कहा जाता है कि उसने तामिल देश व सिहल द्वीप के राजाओं को हराया था। उसका पुत्र व उत्तराधिकारी महेन्द्र वर्म्मन् 'प्रथम' (ई० स० ६०६-६२५) था, जिसने त्रिचनापल्ली, चिंगलापेट, उत्तर अर्काट, दक्षिण अर्काट आदि जिलों मे चट्टानों मे मन्दिर खुदवाये। ई० स० ६०६-६१० के लगभग पुलिकेशी 'द्वितीय' ने उसे हराया, व वेङ्गी का प्रान्त चालुक्य-राज्य मे मिला लिया। वह पहले जैन था, पश्चात् शैव बन गया।

नरसिंहवर्म्मन 'प्रथम' (ई० स० ६२५-६४५) महेन्द्रवर्म्मन का उत्तराधिकारी था। उसके राजत्वकाल मे पल्लव-शक्ति व पल्लव-काल की

कला अपने उत्कर्ष को पहुँच गई थी। उसने चालुक्य राजा पुलिकेशी को हराकर उसकी राजधानी वातापि पर अधिकार कर लिया। ई० स० ६४० के लगभग चीनी यात्री यूएनच्वेङ्ग काञ्ची आया था। उसने अपनी यात्रा के वर्णन मे काञ्ची का अच्छा वर्णन किया है। कितने ही अच्छे-अच्छे मन्दिर उसके राज्य काल मे बनवाये गए। परमेश्वर वर्म्मन के राज्य में चालुक्यो की शक्ति बढी व उन्होने काञ्ची पर भी अधिकार कर लिया। नदीवर्म्मन आदि के राज्यकाल मे भी चालुक्यो व पल्लवों की लडाई चालू रही। अपराजित पल्लव ने पाण्ड्य राजा को हराया, किन्तु चोल राजा ने उसे ही हरा दिया। इसके पश्चात् ई० स० ७४० के लगभग चालुक्यो की विजय के परिणामस्वरूप पल्लवो की शक्ति क्षीण हो गई व उनका स्थान चोलों ने ग्रहण किया। इस पतन के काल मे भी पल्लवो ने राष्ट्रकूटो से, जिन्होने अब चालुक्यो का स्थान ग्रहण कर लिया था, युद्ध जारी रखा। किन्तु धीरे-धीरे उनकी शक्ति का ह्रास हो गया।

राजपूत-वश—उत्तर व मध्यभारत मे ईसा की दसवी व ग्यारहवीं शताब्दी मे विभिन्न राजपूत-वश शक्तिशाली हुए। दिल्ली के तोमर, अजमेर के चौहान, कन्नौज के गहरवार, धार के परमार, चित्तौड के गहलौत, जोधपुर के राठौर आदि विशेष उल्लेखनीय है। इसी प्रकार पजाब मे भी छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्य बन गए थे। ये सब राज्य आपस मे लडा करते थे। परिणामस्वरूप महमूद गज़नवी, मुहम्मद गौरी आदि मुस्लिम आक्रमणकारियो को पैर जमाने का अच्छा अवसर मिल गया। इस प्रकार ईसा की बारहवी शताब्दी के पश्चात् भारत मे मुस्लिमो के पैर जमने लगे। आधुनिक इतिहासकार यह मान बैठे है कि मुस्लिम आक्रमणकारी भारतीयो के लिए बहुत ही शक्तिशाली थे, व उन्होने थोडे ही समय मे भारत मे मुस्लिम साम्राज्य स्थापित कर लिया। इस साम्राज्य को पठान-साम्राज्य के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

किन्तु यथार्थ मे बात ऐसी नहीं है। मुसलमानो के भारत मे पैर जमाने का यह मतलब नहीं था कि उन्होने अपना साम्राज्य ही स्थापित कर लिया था। दिल्ली, आगरा आदि बडे-बडे शहरो और उनके आसपास के कुछ स्थानो पर अधिकार कर लेने से साम्राज्य नही बन जाता। अकबर के पूर्व कोई भी मुस्लिम राजा भारत मे साम्राज्य स्थापित न कर सका था। मुहम्मद तुगलक, अलाउद्दीन खिलजी आदि दूर-दूर तक जाते थे व अपनी विजय-पताका फहराते थे, किन्तु उनकी पीठ फिरते ही जीते हुए प्रदेश पुन स्वतन्त्र हो जाते थे। यहाँ तक कि मुस्लिम विजेताओ द्वारा नियुक्त प्रादेशिक मुस्लिम शासक भी स्वतन्त्र हो जाते थे। इस काल मे भारत का अधिकाश भाग भारतीयो के ही अधिकार मे था।

मुस्लिमो से राजपूतो का विरोध—इस समय राजपूत राजाओ ने लगातार मुस्लिमो का विरोध किया। इस समय का इतिहास तो राजपूतो द्वारा किये गए विरोधों से भरा हुआ है। उनकी वीर-गाथाएँ आज भी राजपूतों में गाई जाती हैं। राजपूत रमणियो ने किस प्रकार अपने सतीत्व की रक्षा के लिए अग्नि का आलिगन करके जौहर-व्रत किया— यह कौन नहीं जानता? इस प्रकार अकबर के समय तक याने ईसा की सोलहवीं शताब्दी तक सतत वीरतापूर्वक विरोध के कारण मुस्लिम साम्राज्य स्थापित न हो सका। मुस्लिमो के आपसी झगडे भी इसके कारण हो सकते हैं। अकबर इस पहेली को समझ गया व उसने कूट-नीति से काम लिया। जो राजपूत मुस्लिम-तलवार से वश मे नही किये जा सके, वे अकबर के मीठे व चुपडे शब्दो पर फिसल गए। जो राजपूत रमणियाँ सतीत्व रक्षा के लिए हँसते-हँसते अग्नि का आलिगन करती थी, उन्हीं मे से कुछ अब मुगल-हरम की सजावट बन गईं। जहाँगीर, शाहजहाँ आदि मुगल-सम्राटो में माता की ओर से राजपूत-रक्त ही प्रवाहित होता था। जो राजपूत योद्धा 'तुरकडे' (मुस्लिम) का विरोध करना अपना पुनीत कर्तव्य समझते थे, अब उन्ही मे से मानसिंह, जयसिंह, बशवन्तसिह आदि के समान मुगल-साम्राज्य के स्तम्भ बन

गए। मुगलो की ओर से जयसिंह का शिवाजी से लडने जाना राष्ट्रीय अध पात का सूचक है। किन्तु ऐसे समय मे भी चित्तौड के राणा प्रताप ने राजपूतो व स्वतन्त्र भारत की नाक रख ही ली। उसने जीवन-भर अनेको विपदाओ को झेला, बच्चो को जगलो मे भटकाया, उन्हे घास की रोटी तक नसीब न होती थी, किन्तु फिर भी मातृभूमि की सेवा से मुख नही मोडा।

मुगलों का अध पतन—अकबर द्वारा स्थापित मुस्लिम साम्राज्य राजपूतो व मुस्लिमो के प्रयत्नो का फल था। जब तक उस साम्राज्य के राजपूत-स्तम्भ दृढ रहे, तब तक ही वह टिका रहा। जब औरङ्गजेब ने अपनी धर्मान्धता की कुल्हाडी से उन स्तम्भो को तोड़ डाला, तब वह साम्राज्य भी एकदम गिरकर टूक-टूक हो गया। इसी धर्मान्धता ने भारतीयो मे पुन राष्ट्रभाव व क्षात्रतेज जागृत कर दिया। पञ्जाब में सिखो ने, राजपूताने मे राजपूतों ने, व दक्षिण मे शिवाजी के नेतृत्व में मरहठो ने मुस्लिमो को हराकर स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने का बीडा उठाया। इस काम मे उत्तर व दक्षिण मे खूब सफलता प्राप्त हुई। दक्षिण में शिवाजी ने औरङ्गजेब के छक्के छुडा दिए थे। उसके पश्चात् पेशवाओं ने भी शिवाजी के कार्य को आगे बढाया। माहादजी सिंधिया के समान मरहठों, दिल्ली जाकर तत्कालीन मुगल-सम्राट् को भी अपनी देखरेख मे ले लिया। पञ्जाब मे सिखों ने अपने पैर खूब जमाये। पहले तो उन्हे मुगल-शासको की धर्मान्धता के कारण आत्म-बलि देनी पडी, इसके पश्चात् जब स्वतन्त्रता की अग्नि उनके हृदयों में जलने लगी, तब उनका सामना कोई न कर सका। रणजीतसिंह के नेतृत्व मे उन्होने सीमाप्रान्त, सिन्धु के कछार आदि पर अपनी धाक जमा ली।

अंग्रेजा का प्रभुत्व—पोर्चगीज फ्रासीसी आदि यूरोप के लोगों के समान अग्रेजो ने भी ईसा की सत्रहवी शताब्दी से व्यापार के लिए भारत के समुद्र-तट पर बसना प्रारम्भ कर दिया था। ज्यो ज्यो समय बीतने लगा त्यो-त्यों भारतीय अराजकता से उनकी बन आई। उनके

कुटिल नेताओं ने बङ्गाल, मद्रास आदि मे अपना राज्य जमाना प्रारम्भ कर दिया। अन्त मे जब तक उन्होने मरहठो व सिखो को पराजित नही किया तब तक भारत के शासक कहलाने की हिम्मत न की। ई० स० १८५८ की क्रान्ति के पश्चात् उनका राज्य समस्त भारत मे स्थापित हो गया। साम्राज्य-सस्थापको के वशज, क्या अकबर के, क्या शिवाजी के नाम-मात्र को शेष रहे। इस प्रकार इच्वाकु, पुरूरवस, सगर, भरत, मान्धाता, अर्जुन, कार्तवीर्य, राम, कृष्ण, अशोक, प्रताप, शिवाजी आदि के भारत ने एक नवीन जीवन मे पदार्पण किया। भारत मे पाश्चात्य सभ्यता व सस्कृति का प्रभाव धीरे-धीरे बढने लगा व इस प्रकार अर्वाचीन युग का प्रादुर्भाव हुआ।

स्वतन्त्र भारत—अग्रेजो की शक्ति के बढते ही उसका विरोध भी प्रारम्भ हो गया। अग्रेजो ने भी अपने साम्राज्य को स्थायी बनाने के लिए कूटनीति से काम लिया। भारत का निश्शस्त्रीकरण तो उन्होने पहले ही से कर दिया था। 'बङ्ग-भङ्ग', हिन्दू-मुस्लिम-वैमनस्य आदि के द्वारा उन्होने भारत की स्वातन्त्र्य-भावना को कुचलना चाहा, किन्तु इसका परिणाम उलटा ही हुआ। भारत की राष्ट्रीय सस्था 'काग्रेस' की शक्ति बढ़ती ही गई, और उसने 'गरम दल' के नेताओ के नेतृत्व मे खूब शक्ति प्राप्त की। पश्चात् महात्मा गांधी के युग-प्रवर्तक नेतृत्व ने काग्रेस व भारत दोनो का काया-कल्प कर दिया, और विश्व के सामने मानव व्यवस्था का सच्चा मानवीय दृष्टि-बिन्दु रखा। भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक नवजीवन, उल्लास, उत्साह की लहर दौडी, और भारत ने बिना हथियार उठाये हुए अपने महान् ऋषि के नेतृत्व मे १५ अगस्त १९४७ के दिन सम्पूर्ण स्वातन्त्र्य प्राप्त किया। उसके पाँच मास पश्चात् अग्रेजो द्वारा बोये गए विष-वृक्ष के फलस्वरूप नाथूराम गोडसे ने दिल्ली में इस दिव्य आत्मा की हत्या की।

स्वतन्त्र भारत के सामने बडी-बडी समस्याएँ उपस्थित हुईं। उनमे सबसे बडी व जटिल समस्या देशी राज्यो की थी, जिसको सरदार

वल्लभभाई पटेल ने बडे ही राजनीतिक कौशल से हल किया, व समस्त भारत को एकता के सूत्र मे बाँध दिया। किन्तु स्वातन्त्र्य-प्राप्ति के समय पाकिस्तान व हिन्दुस्तान के रूप मे भारत के जो दो टुकडे अंग्रेजों ने किये, उनके कारण इस देश को महान् क्षति हुई।

५

पारिवारिक जीवन

मानव-जीवन का विकास—यह सृष्टि तथा मानव-जीवन ऐसी पहेलियाँ है, जो अभी तक भी बूझी नही जा सकी। मानव-जीवन के आलोचनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि मनुष्य मे निसर्ग-सिद्ध कुछ संस्कार रहते हैं, जिनके द्वारा उसके विकास का प्रारम्भ होता है। समस्त सामाजिक विकास की जड मे ये ही सस्कार है। आत्मरक्षा, एकत्रित होकर समुदाय बनाकर रहना, प्रेम-भावना, मनोविकार आदि से सम्बन्धित सस्कार मानव-जीवन के विकास के इतिहास मे विशेष स्थान रखते हैं।

पारिवारिक जीवन का प्रारम्भ—यह कहना न होगा कि सामाजिक विकास का प्रारम्भ पारिवारिक जीवन से ही होता है। अतएव पारिवारिक जीवन की जड में इन सस्कारो का रहना स्वाभाविक ही है। इस जगत् पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि 'युग्म-भावना' इस सृष्टि के विकास मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इस तथ्य को 'सांख्य-दर्शन' ने बहुत ही सुन्दर शब्दों मे समझाया है। उसके मतानुसार यह संसार प्रकृति व पुरुष का ही खेल है। इस युग्म के दर्शन प्रत्येक स्थल पर हो सकते हैं। दाम्पत्य जीवन के बिना पारिवारिक जीवन दुष्कर ही नहीं, किन्तु असम्भव है। स्त्री व पुरुष एक-दूसरे के प्रति आकर्षित होकर एक-साथ रहना सीखते हैं व प्रजा-सर्जन करने लगते है। विवाह

संस्कार इसी का निदर्शन-मात्र है। इस प्रकार परिवार का प्रारम्भ होता है। उपनिषदो मे वर्णन आता है कि पहले ब्रह्म अकेला ही था। उसे इच्छा हुई कि मै अकेला हूँ, बहुत से उत्पन्न करूँ—"एकोऽह बहु स्याः प्रजायेय" (तैत्तिरीय, ब्रह्मानन्द वल्ली, ६)। इस प्रकार उसने मानव-सृष्टि का प्रारम्भ किया।

माता-पिता—पारिवारिक जीवन मे स्त्री मातृत्व को प्राप्त होती है व पुरुष पिता बनता है। उनके हृदय की बहुत-सी प्रसुप्त भावनाएँ जागृत होने लगती है। जिस प्रकार बालक के गर्भ मे आते ही माता के स्तनों में दुग्ध की धारा बह निकलती है, उसी प्रकार परिवार के विस्तार व विकास के साथ-साथ माता-पिता के हृदयो मे पुत्र-प्रेम, पुत्र के लिए नाना प्रकार के कष्ट सहन करने की शक्ति, पुत्र के लिए अपूर्व त्याग, स्वार्थ-नियन्त्रण आदि की भावनाएँ भी उभरने लगती है। यहाँ तक कि निसर्ग मानव-विकास मे सहायता देता है। इसके पश्चात् वह अपने कर्मों से ही उन्नति या अवनति की ओर अग्रसर होने लगता है। जो मानव-समाज इन नैसर्गिक तत्त्वो को समझकर अपना विकास करता है, वह काल-गति के साथ उन्नत बनकर, सुसभ्य कहलाता है, व जो इसके विपरीत कार्य करता है, वह असभ्य तथा जगली कहलाता है।

प्राचीन भारत मे पारिवारिक जीवन—प्राचीन भारत के पारिवारिक जीवन पर आलोचनात्मक दृष्टि डालने से मालूम होता है कि प्राचीन भारतीयों ने पारिवारिक व सामाजिक विकास के अन्तर्भूत नैसर्गिक तत्त्वो को भली भाँति समझकर पारिवारिक जीवन को विकसित किया था। यही कारण है कि वे जीवन के हर एक पहलू का आश्चर्य-जनक विकास कर सके। इस सम्बन्ध में भू-मण्डल का अन्य कोई देश भारत की बराबरी नहीं कर सकता। प्राचीन भारत मे मानव-जीवन के सच्चे उद्देश्य को समझकर ही पारिवारिक जीवन को व्यवस्थित किया गया था। व्यष्टि व समष्टि का सम्बन्ध नैसर्गिक तथा वैज्ञानिक आधार

था। प्रत्येक परिवार समाज का एक घटक समझा जाता था। परिवार के महत्त्व को समाज व उसके सचालक अच्छी तरह जानते थे। इसीलिए समाज मे 'गृहपति' का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण था।

तीन ऋण—प्राचीन भारत के सुसस्कृत व्यक्तियों के मन पर पहले ही से ये भाव अङ्कित कर दिए जाते थे कि पैदा होते ही उन पर कितना ही उत्तरदायित्व आ जाता है, वे स्वतन्त्र व नि शृङ्खल नहीं है। वे ज्यो-ज्यो बडे होते है, त्यो-त्यों उनके कर्तव्य व उत्तरदायित्व भी बढ़ जाते है। उन्हे अपने जीवन मे तीन प्रकार के ऋण चुकाने पडते थे, जैसे पितृ-ऋण, ऋषि-ऋण व देव-ऋण। इनमे पितृ-ऋण पारिवारिक जीवन से सम्बन्धित था तथा ऋषि-ऋण व देव-ऋण का सम्बन्ध सामाजिक और धार्मिक जीवन से था। ये दोनो पारिवारिक जीवन को जोडने वाले पुल के समान थे। यहाँ केवल पितृ-ऋण पर विचार किया जायगा।

पितृ-ऋण व उसका महत्त्व — पितृ-ऋण का मतलब होता है पुत्र पर पिता का कर्ज। उसे कोई अस्वीकार नहीं करेगा कि माता-पिता अपने पुत्र के लिए कितना ही कष्ट उठाते तथा त्याग करते हैं। उसके सुख के लिए वे सब कुछ न्यौछावर करते है, उत्तम शिक्षा देकर उसे विद्वान् व सुयोग्य नागरिक बनाते है। इसलिए प्रत्येक सुसंस्कृत व्यक्ति पर माता-पिता का बडा भारी ऋण रहता है, जिसको चुकाना उसका परम कर्तव्य हो जाता है। अब प्रश्न यह होता है कि यह ऋण किस प्रकार चुकाया जाय? इस प्रश्न का उत्तर प्राचीन आचार्यों ने दिया है कि सन्तानोत्पत्ति द्वारा पिता के ऋण से किस प्रकार मुक्त हो सकते हैं। यहाँ सन्तानोत्पत्ति केवल बाल-बच्चे पैदा करने का ही मतलब नही है, किन्तु सन्तान पैदा करके उसे योग्य शिक्षा देकर समाज का सच्चा नागरिक बनाने का भाव दरसाया गया है। जिस प्रकार हमारे पिता ने उत्तम शिक्षा देकर मन पर अच्छे सस्कार डालकर हमे समाज मे ऊँचा स्थान दिलवाया, उसी प्रकार हमारा भी कर्तव्य है कि हम भी पिता बनने पर अपनी जिम्मेदारियों को अच्छी तरह से समझकर अपनी सन्तान को सुयोग्य बनाने मे के।

बात उठा न रखे, जिससे हमारे पुत्रादि भी पिता बनने पर यही काम करें। अपने पिता के ऋण से हम इसी प्रकार मुक्त हो सकते है, अन्य कोई मार्ग नही है। यदि भाग्यवशात् पिता पितामह बनकर इस आनन्द की घडी को देखने के लिए जीवित रहे तो उसके आनन्द का पारावार नहीं रह सकता। उसे इस बात का मीठा अनुभव अवश्य होगा कि मेरा पुत्र मेरे ऋण से अच्छी तरह मुक्त हो गया। इस प्रकार पारिवारिक इतिहास मे इस बात का तॉता ही बॅध जायगा व सन्तानोत्पत्ति शब्द का यथार्थ भी सिद्ध हो जाएगा।

पितृ-ऋण के सिद्धान्त के कारण प्रत्येक परिवार दिन-प्रतिदिन उन्नति के शिखर तक पहुँच सकता है व अपने समाज तथा समस्त मानव-जाति का कल्याण कर सकता है। इस बीसवी शताब्दी मे भारत-वर्ष व अन्य देशों मे कोई भी इस सिद्धान्त को समझने की परवाह नहीं करता। इसके विपरीत आजकल के शिक्षित लोग वैयक्तिक व सामाजिक स्वास्थ्य के लिए हानिकारक सन्तति-निरोध के कृत्रिम साधनों का उपयोग करने मे अपना गौरव समझते है। इस युग मे क्या पुरुष, क्या स्त्री—सब ही हर प्रकार के बन्धन तोडने के लिए उद्यत हैं। यही कारण है कि साधारणतया प्रत्येक परिवार मे स्वार्थ, द्वेष, वैमनस्य आदि का साम्राज्य है व लोग स्वतन्त्र होने के बदले इन मानव-रिपुओं के गुलाम बनते जाते है। आज श्रवणकुमार व राम के भारत मे ऐसे पुत्र दिखाई देते है, जो पिता को ठुकराने मे अपना गौरव समझते हैं। ऐसे कलुषित वातावरण मे घर के अन्दर वह स्वर्गीय आनन्द मिल ही नहीं सकता, जो प्राचीन-कालीन गृहस्थियो को प्राप्त था। इस प्रकार पारिवारिक जीवन मे पितृ-ऋण का महत्त्वपूर्ण स्थान भली भॉति समझ मे आ सकता है।

पिता के अधिकार—पारिवारिक जीवन मे पिता की केवल जिम्मेवारियाँ ही नहीं थीं, उसके अधिकार भी थे। वह परिवार का मुखिया माना जाता था। उसे 'गृहपति' कहते थे। उसके महत्व को राजा भी

मानता था। ऋग्वेद मे भी उसकी महत्त्व उल्लिखित है। परिवार व समाज के जीवन मे उससे सम्बन्धित 'गार्हपत्य अग्नि' भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नही थी। गृहपति की हैसियत से पिता परिवार मे सर्वेसर्वा था। आयु, अनुभव, ज्ञान आदि के कारण उसका महत्त्वपूर्ण स्थान व उसके अधिकार सुरक्षित रहते थे। प्राचीन रोम मे पिता को पुत्र के ऊपर कितने ही अधिकार प्राप्त थे। परिवार के सब सदस्यो को उसके नियन्त्रण मे रहना पडता था। पिता अपने पुत्रो के साथ कैसा आचरण करे इस सम्बन्ध मे प्राचीन आचार्यों ने बहुत-कुछ लिखा है। इस सम्बन्ध मे मनु (मनु० ४।१८) ने कहा है कि पाँच वर्ष तक पिता पुत्र का लाड करे—दश वर्ष तक ताडन करे, व सोलहवाँ वर्ष लगा कि उसे मित्र समझे। सोलह वर्ष की अवस्था वाले पुत्र के साथ मित्र के समान व्यवहार करने का आदेश पिता को दिया गया है। इस प्रकार पिता का नियन्त्रण व अधिकार पुत्र को कभी नही सलता था। प्राचीन काल मे प्रत्येक बालक माता पिता व आचार्य के नियन्त्रण मे रहकर युवावस्था को प्राप्त होता था। उसके जीवन को वे तीनों ही प्रभावित करते थे। इसीलिए उपनिषदों मे उसके लिए आदेश है कि 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव" (तैत्तिरीय० ०।११।२), अर्थात् माता, पिता व गुरु को देवता के समान समझो।

परिवार मे माता का स्थान—परिवार मे माता का स्थान पिता के स्थान से भी अधिक ऊँचा व महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। माता पारिवारिक जीवन का केन्द्र थी। माता के इसी महत्त्व को ध्यान में रख-कर मनु ने स्त्रियों के सम्बन्ध में कहा कि जहाँ नारियों की पूजा होती है, वहाँ देवता रमण करते हैं (मनु० ३।५६)। सबको नौ मास तक माता के गर्भ में रहना पडता है, व तत्पश्चात् भी तीन चार वर्ष तक उसकी गोद में खेलना पडता है। माता से बालक का बहुत निकट का सम्बन्ध रहता है। यो तो वह पिता से भी दूर नहीं रहता। किन्तु माता के लिए तो वह हृदय का टुकडा है। बालक की सबसे पहली व

सबसे बडी शिक्षिका माता ही है। वही अपने बालक को ऊँचे-से-ऊँचा उठा सकती है, व नीचे-से-नीचा गिरा सकती है। वह अपने दूध के साथ उसे अपनी आन्तरिक भावनाएँ भी पिला सकती है। इसीलिए प्राचीन भारत के पारिवारिक जीवन मे उसे बहुत ऊँचा स्थान दिया गया था। माता की हैसियत से उसे अपनी सन्तान को पालने-पोसने से सम्बन्धित सब जानकारी रखनी पडती थी। घर मे पूरा अधिकार उसी का रहता था। गृहपति को और कितने ही काम करने पडते थे। घर की आन्तरिक व्यवस्था वह अपनी पत्नी को ही सौपता था। इसीलिए वह गृहिणी-पद से भी सुशोभित की गई थी। परिवार के आन्तरिक जीवन का सचालन या परिचालन उसी के हाथ में रहता था। वह प्रत्येक काम मे गृहपति को सहायता देती थी। उसके बिना कोई भी धार्मिक कार्य नहीं किया जा सकता था। यज्ञ करते समय भी उसकी उपस्थिति व सहायता आवश्यक समझी जाती थी। जब उसका पति वानप्रस्था-श्रम में प्रवेश करता था, तब वह भी उसके साथ जाती व आत्म-तृप्ति करती थी। परिवार के अन्य सदस्यो को पारिवारिक सगठन मे बँधकर रहना पडता था। हमेशा माता-पिता की आज्ञा मानना उनका परम कर्तव्य माना गया था। धर्म-शास्त्रादि मे इस बात पर बडा जोर दिया गया है। इस प्रकार परिवार के सब सदस्य यथानियम मर्यादा मे रहकर अपने-अपने उत्तरदायित्व व कर्तव्यो को पूरा करते थे।

दैनिक कर्तव्य—धर्म-शास्त्रो के अनुसार प्रत्येक गृहस्थी को अपने दैनिक जीवन मे अमुक निश्चित कर्तव्य करने पडते थे। इस सम्बन्ध मे गृह्य-सूत्रो मे व मनु आदि स्मृतियो मे बहुत-कुछ लिखा है (मनु० ४।१-२६०)। इन आचार्यों द्वारा बनाया गया जीवन-क्रम व उसे सञ्चा-लित करने वाले नियम पारिवारिक जीवन के कर्णधार थे। आजकल भी समाज साधारणतया इन्हीं नियमों से सञ्चालित किया जाता है।

पञ्च महायज्ञ—मनु के अनुसार प्रत्येक गृहस्थ को ब्राह्म मुहूर्त (लगभग साढ़े चार बजे प्रात) में उठना पडता था, और शौचादि के

पश्चात् अपने दिवस के कार्यक्रम को निश्चित करना पडता था। दैनिक कार्यक्रम के सम्बन्ध मे मनु ने कहा है कि "ब्राह्म मुहूर्त मे उठे तथा धर्मार्थ का चिन्तन करे। काय-क्लेश व उनके कारणों तथा वेदतत्त्वार्थ का भी चिन्तन करे। उठने पर शौचादि आवश्यक कार्य करके समाहित होकर पूर्व सन्ध्या का जाप करे और इसी प्रकार दूसरी को भी ठीक समय पर करे" (मनु ४।९२-९३)। "इन सब दोषो के निराकरण के लिए महर्षियो ने गृहस्थियो के लिए पाँच महायज्ञ आयोजित किए है। अध्यापन ब्रह्मयज्ञ, तर्पण पितृयज्ञ, होम देवयज्ञ, बलि भूतयज्ञ व अतिथि-पूजन नृयज्ञ है। इन पाँच यज्ञो को जो यथाशक्ति करता है, वह गृहस्थाश्रम मे रहकर भी सूनादोष से लिप्त नहीं होता। देवता, अतिथि, भृत्य पिता व अपने-आपका जो निर्वपन नहीं करता, वह श्वास लेते हुए भी जीवित नही है। अहुत, हुत, प्रहुत, ब्राह्म्य, हुत व प्राशित आदि पाँच यज्ञ कहे जाते हैं। जप अहुत, होम हुत, भौतिक बलि प्रहुत, द्विजाभ्यर्चा ब्राह्म्य हुत व पितृ-तर्पण प्राशित है। स्वाध्याय व दैवकर्म मे नित्य युक्त रहना चाहिए। दैवकर्म मे युक्त इस चराचर को धारण करता है" (मनु० ३।६९-७५)।

इस प्रकार दैनिक कार्यक्रम धार्मिक, सामाजिक, पारिवारिक, शैक्षणिक आदि कर्तव्यो से भरपूर था, और ये कर्तव्य त्याग-वृत्ति मे आश्रित थे। ये ही त्यागमय कर्तव्य पच महायज्ञों के नाम से जाने जाते थे जिनका करना गृहस्थियो के लिए आवश्यक था। पारिवारिक जीवन के दैनिक कार्यक्रम मे इन पञ्च महायज्ञो का महत्त्वपूर्ण स्थान था।

ब्रह्म यज्ञ—इस यज्ञ का तात्पर्य यह था कि वेदों के अध्ययन-अध्यापन द्वारा सतत ज्ञान-वृद्धि मे प्रयत्नशील रहना, जिससे इस विश्व की पहेलियाँ सुलझाई जा सकें। ज्ञानोपार्जन का प्रारम्भ ब्रह्मचर्याश्रम से ही हो जाता था, किन्तु सच्ची ज्ञान-पिपासा तो ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् प्रारम्भ होती थी, जबकि अन्तर्चक्षु अच्छी तरह से खुल जाते थे व मौलिकतापूर्ण विचार करने की शक्ति अधिक विकसित हो जाती

थी। इस यज्ञ को अनिवार्य बनाने का यह भी उद्देश्य था कि कोई यह न समझे कि गुरुकुल से लौटकर विवाह आदि के पश्चात् ज्ञानोपार्जन का अन्त हो जाता है, जैसा कि आजकल समझा जाता है। इस प्रकार ब्रह्म यज्ञ मे वेद के अध्ययन तथा अध्यापन द्वारा ज्ञान-वृद्धि का समावेश हो जाता है। इस यज्ञ के महत्त्व को समझे बिना इस ससार मे किसी प्रकार की उन्नति नही की जा सकती। इस यज्ञ को नियमित रूप से करने वाले व्यक्ति अपना, अपने देश का, अपनी जाति का, व समस्त मानव जाति का कल्याण करके अमरत्व को प्राप्त हो गए। इसी यज्ञ को अपनाकर प्राचीन भारत ने जीवन के प्रत्येक पहलू को समझने वाले कितने ही महान् पुरुषों को जन्म दिया।

पितृ यज्ञ—इस यज्ञ से साधारणतया मृत पितरो से सम्बन्धित तर्पण आदि का भाव लिया जाता है। इन पितरों की तृप्ति अन्न-बलि आदि से मानी गई है। किन्तु यदि इस यज्ञ पर बारीकी से विचार किया जाय तो इसका गूढ़ रहस्य समझ मे आ जायगा। एक विचार-सरणी यह भी है कि इस यज्ञ मे ऐसे कर्मों का समावेश हो सकता है, जिनके करने से परिवार को—वयोवृद्ध व ज्ञानवृद्ध व्यक्तियो को—पूरा-पूरा सन्तोष प्राप्त हो। इसलिए यह आवश्यक नहीं है कि वे वृद्ध उस गृहस्थी के घर मे ही रहते हों। वानप्रस्थ आदि आश्रम में रहने पर भी उन्हे अपनी सन्तान के कुकर्म, सुकर्म से दु ख-सुख हुए बिना नहीं रह सकता। इस यज्ञ की आवश्यकता इसलिए होती है कि परिवार के वृद्ध व नवयुवको मे विचार-भिन्नता के कारण गृह-कलह न होने पाए। ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् भी एक व्यक्ति अपने कर्तव्यो से उन्मुख हो सकता है जैसा कि आजकल कितने ही स्थानों मे देखा जाता है। समाज मे अच्छे समझे जाने वाले कितने ही सुशिक्षित व्यक्ति अपने वृद्धो को सन्तोष नही दे सकते, इतना ही नही वे अपने कृत्यों से उन्हे कष्ट भी पहुँचाते है। आज नवयुवक व वृद्धो के मनोमालिन्य तथा झगडों की जड मे भी यही बात है। आजकल के शिक्षित पुत्र अपने वृद्ध माता-पिता के प्रति

तटस्थ वृत्ति धारण करते है, व कही कही तो स्पष्ट रूप से विरोध भी करते है। आश्रम-प्रथा के लोप से वृद्ध व नवयुवक एक ही परिवार मे साथ-साथ रहते हैं, उनका दैनिक जीवन गृह-कलह से परिपूर्ण रहता है। इन सब झफटो को दूर करने के लिए ही भारत के प्राचीन ऋषियो ने पितृ-यज्ञ का निर्माण किया था, जिससे पारिवा रक जीवन आनन्दपूर्वक व्यतीत किया जा सके।

देव यज्ञ—यह तीसरा महा यज्ञ है। स्मृतिकारो ने हवन को देव यज्ञ कहा है। हवन की महिमा आर्ष ग्रन्थों में बहुत-कुछ वर्णित है। ऐतरेय ब्राह्मण (७।१) मे लिखा है कि "अग्निहोत्र जुह्यात् स्वर्ग-काम।" अर्थात् स्वर्ग प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले को अग्निहोत्र करना चाहिए। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी दैनिक हवन करना उचित है, क्योंकि इससे वायु की शुद्धि होकर वातावरण के दोष नष्ट हो जाते हैं। इस सम्बन्ध मे स्वामी दयानन्द सरस्वती लिखते है (सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ४०-४४)—"दुर्गन्धियुक्त वायु और जल से रोग, रोग से प्राणियो को दु ख और सुगन्धियुक्त वायु और जल से आरोग्यता और रोग के नष्ट होने से सुख प्राप्त होता है। घर मे रखे हुए पुष्प, इत्र आदि की सुगन्धि में वह सामर्थ्य नही है कि दूषित गृहस्थ-वायु को निकाल-कर शुद्ध वायु को प्रवेश करा सके, क्योंकि उसम भेदक शक्ति नही है और अग्नि ही की सामर्थ्य है कि वह उस वायु और दुर्गन्धियुक्त पदार्थों को छिन्न-भिन्न और हलका करके बाहर निकालकर पवित्र वायु का प्रवेश करा देता है। दुर्गन्धि जिस मनुष्य के शरीर से उत्पन्न होकर वायु और जल को बिगाडकर रोगोत्पत्ति का निमित्त होने से प्राणियो को जितना दु:ख देती है, उतना ही पाप उस मनुष्य को होता है। इसलिए उस पाप के निवारणार्थ उतनी या उससे अधिक सुगन्धि वायु और जल मे फैलानी चाहिए।

अग्नि के महत्त्व को कौन नही जानता? मानव-सस्कृति के विकास मे जो उसका स्थान रहा है वह और किसी का नही है। उसमें पवित्र-

करण की इतनी जबरदस्त शक्ति है कि गन्दी-से-गन्दी चीजे भी उसमें पडकर शुद्धता को प्राप्त होती है। इस तथ्य को समझकर ही भारत के प्राचीन ऋषियो ने अग्निहोत्र करने का आदेश दिया। ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र मे ही अग्नि के महत्त्व को मान लिया गया है जैसे—"अग्निमीले पुरोहित यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतार रत्नधातमम्।"

हवन व वायु-शुद्धि—हवन का सम्बन्ध वायु-शुद्धि से रहने से दैनिक जीवन मे उसका महत्त्व बहुत बढ जाता है। आधुनिक चिकित्सा-शास्त्र ने सिद्ध कर दिया है कि वायु-मण्डल मे इतने बारीक-बारीक कीटाणु रहते है कि जो देखे नही जा सकते और जो विभिन्न रोगो को उत्पन्न करके वायु को दूषित करते है। इस दूषित वायु में रहने से मनुष्य को कितने ही सक्रामक रोगो का शिकार होना पडता है। इसलिए श्वासोच्छ्वास मे शुद्ध वायु का उपयोग करना स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त ही आवश्यक है। मनुष्य का जीवन अन्न, जल, वायु पर ही निर्भर रहता है। वायु की तो उसे प्रतिक्षण आवश्यकता होती है। वायु का न रहना या दूषित रहना मृत्यु को आमन्त्रण देना है। इसलिए भारत के प्राचीन ऋषियो ने अग्निहोत्र, हवन आदि के रूप मे वायु-शुद्धि का एक तरीका ढूँढ निकाला। हवन मे अग्नि को घृत, कपूर आदि से प्रज्वलित किया जाता है और उसमे घृत, चन्दन, नागरमोथा, अगर तगर आदि कितने ही सुगन्धित द्रव्यो की आहुतियाँ डाली जाती हैं। आहुतियाँ डालने पर अग्नि, प्रजापति, इन्द्र, सोम आदि देवताओ के नाम भी लिये जाते है। साय व प्रात अग्नि मे सुगन्धित द्रव्य डालने से जो धुआँ निकलता है वह वायु-मण्डल मे फैलकर वायु की सब अशुद्धियो को दूर करके उसे पूर्णतया शुद्ध करता है। इस प्रकार वायु-शुद्धि से परिवार व समाज का स्वास्थ्य अच्छा रहता है। एक विचार-सरणी यह भी है कि हवन के द्वारा भूमि मे अन्न पैदा करने की शक्ति बढती है। हवन से हानिकारक कीटाणुओ का नाश होता है, वायु शुद्ध होती है, जल शुद्ध होता है। वायु में मेघों को धारण करने की

शक्ति बढती है (गीता ३।१४)। शरीर की जीवन धारण करने की शक्ति अर्थात् प्राण शक्ति बढती है।

देव यज्ञ का यह भी मतलब हो सकता है कि समाज मे जो देवतास्वरूप महान् आत्माएँ उसके सूत्रधार का काम कर रही है, उनके प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझकर और उनके आदेशो पर चलकर उनके जीवनोद्देश्य को सफल बनाने मे सहायक बनना। इस प्रकार देव यज्ञ सम्पादित करने का यही मतलब हो सकता है कि समाज के नेताओ की बाते मानकर उनके आदेशानुसार अपने जीवन को बनाना चाहिए। ऐसा यज्ञ प्राचीन भारत में साधारणतया किया जाता था। जिस समाज मे ऐसा देव यज्ञ हो, वह उन्नति के शिखर पर चढे बिना नही रह सकता।

भूत यज्ञ—चौथा भूत यज्ञ है, जिसे स्मृतिकारो ने बलिवैश्वदेव भी कहा है। मनुस्मृति (३।८४) मे लिखा है कि "विधिपूर्वक गृह्याग्नि मे वैश्वदेव किये जाने पर ब्राह्मण प्रतिदिन इन देवताओ का होम करे।" बलिवैश्वदेव करने की विधि यह है कि जो-कुछ भोजन बना हो, उसमे से थोडा-सा लेकर पाकशाला की अग्नि मे डालना चाहिए तथा डालते समय कुछ विशेष मन्त्रो का उच्चारण करना चाहिए। इसके पश्चात् लवणान्न अर्थात् दाल, भात, शाक, रोटी आदि लेकर छ भाग भूमि मे रखे और कुत्ते, पतित, पापी, श्वपच, रोगी, वायस, कृमि आदि को दे देवे (मनु ३।९२) इस यज्ञ का तात्पर्य यह हे कि मनुष्य प्राणी-मात्र के प्रति अपने कर्तव्यो को समझे। जो निराधार है या अन्य किसी कारण से उदर-निर्वाह करने मे असमर्थ है, उनकी भोजन आदि द्वारा सहायता की जाय।

नृ यज्ञ—नृ-यज्ञ, जिसे अतिथि यज्ञ भी कहते हैं, पांचवाँ महा यज्ञ है। इस यज्ञ के द्वारा अतिथियो की यथावत् सेवा की जाती है। इस यज्ञ का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक गृहस्थी अतिथियों के प्रति भी अपने उत्तरदायित्व एव कर्तव्य को समझे। प्राचीन आचार्यो ने अतिथियो को

विधिवत् पूजा करना लिखा है। किन्तु वे अतिथि साधारण व्यक्ति नहीं होते थे। अतिथि उन्ही को कहा जाता था, जो पूर्ण विद्वान्, परोपकारी, जितेन्द्रिय, धार्मिक, सत्यवादी, छल-कपट-रहित, व नित्य भ्रमण करने वाले मनुष्य हो (मनु ३ १०२-११३)। जब ऐसा कोई अतिथि घर पर आये, तब गृहस्थ अत्यन्त प्रेम से उठकर नमस्कार करके, उसे उत्तम आसन पर बैठाये, पश्चात् पूछे कि आपको जल या अन्न जिस वस्तु की इच्छा हो, सो कहिये। इस प्रकार उसको प्रसन्न करके और स्वय स्वस्थ चित्त होकर उसकी हर तरह से आवभगत करे, जिससे कि वह अतिथि पूर्णतया सन्तुष्ट हो जाय।

इन पांच महायज्ञो का विधिवत् सम्पादन करना प्राचीन पारिवारिक जीवन का एक विशेष अङ्ग था। इसी से जीवन का सच्चा आनन्द प्राप्त होता था।

सोलह सस्कार—पारिवारिक जीवन के विकास मे सोलह संस्कारो का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान था। परिवार की अनेको प्रवृत्तियो इन्हीं सस्कारो द्वारा सचालित होती थी। ये सोलह सस्कार इस प्रकार है—

(१) गर्भाधान—श्रेष्ठ सन्तान उत्पन्न करने के लिए यह सस्कार है। कम-से-कम पच्चीस वर्ष की आयु पुरुष की और सोलह वर्ष की आयु स्त्री की होनी चाहिए तब यह सस्कार किया जाता है। जीवन के उद्देश्य को ध्यान मे रखकर, अपने आदर्शों को याद करके एव उत्तम-उत्तम विचारो को मन मे धारण करके, पुरुष सन्तानोत्पत्ति करे, यही इस संस्कार का मुख्य उद्देश्य है।

(२) पुन्सवन—गर्भ के तीसरे मास के भीतर गर्भ की रक्षा के लिए यह संस्कार किया जाता है। इस सस्कार मे स्त्री पुरुष प्रतिज्ञा करते है कि वे कोई ऐसा कार्य न करेंगे जिससे गर्भ गिरने का भय हो।

(३) सीमन्तोन्नयन—यह सस्कार गर्भ के सातवे या आठवें मास मे बच्चे की मानसिक शक्तियों की वृद्धि के लिए किया जाता है। इसमे ऐसे साधन किये जाते हैं, जिनसे स्त्री का मन सन्तुष्ट रहे।

आवश्यक समझा गया था। मनुष्य के दैनिक जीवन मे इनके पालन की कितनी आवश्यकता है यह तो कोई भी विचारशील व्यक्ति समझ सकता है। इनको न पालने से पारिवारिक सौख्य जाता रहता है, तथा क्लेष व कलह की मात्रा बढ जाती है, जिसका समाज पर दुष्परिणाम हुए बिना नही रहता। ये यम-नियम मानव-जीवन को नियन्त्रित करने में समर्थ होते है, जिससे कि वह उन्मार्ग में प्रवृत्त नहीं हो पाता।

वर्ण-धर्म—प्रत्येक गृहस्थ के लिए यह आवश्यक था कि वह अपने-अपने वर्ण-धर्म के अनुसार वेद-पठन-पाठनादि, देश-समाजादि की रक्षा, कृषि, वाणिज्य, सेवा आदि कार्य करे।

संयुक्त परिवार—प्राचीन भारत के पारिवारिक जीवन की आधार-शिला सयुक्त परिवार प्रथा थी। इसके अनुसार परिवार के सब व्यक्ति एक-साथ रहते थे। उनका खान-पान, रहन-सहन आदि सब इकट्ठा ही होता था। जहाँ विश्व-मातृत्व का पाठ सिखाकर स्वार्थ-वृत्ति का विरोध किया जाता हो, वहाँ इसी प्रथा द्वारा पारिवारिक जीवन का सञ्चालित किया जाना आवश्यक है। क्योकि निसर्गत मनुष्य एक सामाजिक जीव है। एकत्रित रहना उसका स्वभाव ही है। इसलिए पाश्चात्य जगत् से आजकल जो पृथक् परिवार-प्रथा समाज मे घुस रही है, वह पूर्णतया अस्वाभाविक है। उसमें स्वार्थ की मात्रा अधिक है। वहाँ 'अहम्' का ही प्राधान्य रहता हे। मेरा घर, मेरे बच्चे, मेरी स्त्री, मेरी दौलत, मेरा सब कुछ, अपने अन्य भाइयो से मुझे कोई मतलब नहीं, वृद्ध माता-पिता से कोई वास्ता नही आदि भावनाओं पर पृथक् परिवार-प्रथा अवलम्बित रहती है। इसके समर्थन मे बहुधा यह कहा जाता है कि आर्थिक दृष्टि से यह ठीक है। किन्तु यह नही भूलना चाहिए कि प्राचीन भारत में आर्थिक दृष्टि ही सब-कुछ नहीं थी। अन्य दृष्टियाँ उसमे भी अधिक महत्त्वपूर्ण थी। वहाँ तो प्रत्येक मनुष्य कर्तव्यो और उत्तरदायित्वों से लदा रहता था। उसे अपने निर्दिष्ट मार्ग तक पहुँचना पड़ता था। आजकल के समान उसका जीवन उद्देश्यरहित न था। ऋग्वेद (१०।

१६१-१६२) ने संयुक्त परिवार के मर्म को इन शब्दो मे समझाया है—"सगच्छध्वं सवदध्व स वो मनासि जानताम् ।" अर्थात् "मनुष्यों को एक साथ चलना चाहिए, एक-साथ बोलना चाहिए और एक-दूसरे के मन को अच्छी तरह समझना चाहिए ।" आजकल सयुक्त परिवार-प्रथा इसलिए दोषपूर्ण मालूम होती है कि सामाज का ढांचा बिलकुल बदल रहा है । आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों ने पारिवारिक जीवन को खूब प्रभावित किया है । बेकारी के मसले ने तो इस प्रथा को भार-रूप ही बना दिया है । इसलिए परिवार के प्रत्येक सदस्य मे स्वार्थ की मात्रा बढती दिखाई देती है । यथार्थ मे मानव-जीवन की उन्नति सयुक्त परिवार-प्रथा को अपनाने से ही हो सकती है ।

पारिवारिक जीवन पर ऐतिहासिक दृष्टि—प्राचीन भारत के पारिवारिक जीवन पर ऐतिहासिक दृष्टि डालने से पता चलता है कि उसकी जडे ऋग्वेद तक पहुची है । गृहपति और ग्रामणी का महत्त्वपूर्ण स्थान इस बात की साक्षी देता है । पंच महायज्ञ, संस्कार, यम-नियम, वर्ण-धर्म आदि मानव जीवन को सञ्चालित करने वाले तत्त्व वैदिक काल मे भी वर्तमान थे । ब्राह्मण, उपनिषादि ग्रन्थों से भी पारिवारिक जीवन का पता चलता है, किन्तु गृह्य-सूत्र, धर्म-शास्त्र आदि से तो पारिवारिक जीवन का स्पष्ट चित्र प्राप्त होता है । प्राचीन काल मे जो विदेशी भारत मे आए उन्होने यहाँ के पारिवारिक, सामाजिक और वैयक्तिक जीवन की भूरि भूरि प्रशसा की है। मेगस्थनीज आदि यूनानी लेखको ने भारतीयो की सत्यनिष्ठता, धार्मिक वृत्ति, आकर्षक व्यक्तित्व व उनके उत्कृष्ट पारिवारिक जीवन की प्रशसा की है। इसी प्रकार चीनी यात्री फाहियान, यूएनच्वेङ्ग आदि ने भी लिखा है ।

समय की गति से भारत का पारिवारिक जीवन धीरे-धीरे बिगडने लगा, क्योंकि लोग सन्मार्ग और सत्य-सिद्धान्तो से बिछुडने लगे । इस उन्मार्ग प्रवृत्ति ने पारिवारिक जीवन के पावित्र्य को नष्ट करके उसे दूषित करना प्रारम्भ कर दिया । महाभारत-युद्ध, जिसने भारत की प्राचीन

संस्कृति का लगभग संहार ही कर दिया था, इसी प्रवृत्ति का फल है। पुराणों में किये गए कलि वर्णन में भी इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। पुराणों ने कलियुग का इतना अच्छा चित्र खींचा है कि उसको ध्यान-पूर्वक पढ़ने से स्पष्ट होता है कि किस प्रकार दोषों के प्रादुर्भाव से पारिवारिक जीवन के आधार-स्तम्भ धीरे-धीरे खिसकने लगे। परिणामतः पारिवारिक जीवन अस्त-व्यस्त हो गया।

उपसंहार—इस प्रकार प्राचीन भारत के पारिवारिक जीवन के महत्त्व और उसकी विशेषताओं को समझा जा सकता है। वह पारिवारिक जीवन ऊँचे ऊँचे आदर्शों की आधार-शिला पर खड़ा था। वे आदर्श ऐसे थे, जिनसे मानव-जाति का ही नहीं, अपितु प्राणी-मात्र का कल्याण हो सकता था। पंच-महायज्ञ, यम-नियम, तीन ऋण आदि पारिवारिक सौख्य के महा मन्त्र थे, आज भी जिनके अपनाये जाने पर गृहस्थाश्रम का सच्चा सुख प्राप्त हो सकता है। ब्रह्मचर्य, सत्य, अहिंसा आदि पर जो विशेष जोर दिया गया है, उससे पारिवारिक जीवन की विशुद्ध नैतिकता का पता लगता है। सोलह संस्कारों ने तो, जिनकी वैज्ञानिकता और आवश्यकता किसी से छिपी नहीं है, इस जीवन को और भी अधिक व्यवस्थित और सुन्दर बना दिया था। ऐसे ही पारिवारिक जीवन के कारण प्राचीन भारत स्वर्ग-स्थल कहलाता था।

बनारस—प्राचीन काल से ही बनारस काशी नाम के जनपद की राजधानी था। उपनिषद्, सूत्रग्रन्थ और बौद्ध-ग्रन्थो मे इसका स्पष्ट उल्लेख है। प्राचीन काल से ही यह नगर सस्कृत विद्या के अध्ययन का महान् केन्द्र रहा है। जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ (ई० पू० ८१७) का भी जन्म यहीं पर हुआ था। गौतम बुद्ध (ई० पू० ५८३) ने भी अपना सर्वप्रथम धर्मोपदेश यही पर दिया था। प्राचीन काल से ही यह नगर ब्राह्मण धर्म तथा सस्कृति का केन्द्र रहा है। आज भी यह सस्कृत विद्या का केन्द्र है और यहाँ कितनी ही संस्कृत पाठशालाओ मे निःशुल्क शिक्षा दी जाती है।

प्राचीन और आधुनिक शिक्षा-प्रणाली—जहाँ प्राचीन शिक्षा-प्रणाली का ध्येय बहुत ऊँचा था, वहाँ आधुनिक शिक्षा-प्रणाली का ध्येय बहुत ही गिरा हुआ है। अग्रेजी राज्य मे आधुनिक शिक्षा-प्रणाली का ध्येय यही था कि अग्रेजी पढे-लिखे भारतीय अग्रेजी साम्राज्य को चलाने वाले यन्त्र मे केवल कल-पुर्जों का काम दें, तथा वे देखने मे भले ही भारतीय दीखें, किन्तु अन्तर मे पूरे अग्रेज हो, अग्रेजो से भी दो कदम आगे बढ़े हुए अग्रेज हों। स्वातन्त्र्य-प्राप्ति के पश्चात् भी शिक्षा-प्रणाली मे कोई भी अन्तर नहीं हुआ है। पहले अग्रेजो को ताकते थे, अब अमरीका या रूस को। सौ वर्ष के समय मे ही इस शिक्षा-प्रणाली ने अपने उद्देश्य की पूर्ति किस तरह की है, उसका कटु अनुभव प्रत्येक भारतीय को हो रहा है। कल-पुर्जे आवश्यकता से अधिक मात्रा मे बनने से, बाजार में उनका भाव गिरने लगा। 'एम० ए०' और 'बी० ए०' का सब लोग मखौल उडाते देखे एवं सुने जाते हैं, क्योंकि वे नौकरी के सिवाय कुछ कर ही नहीं सकते और इस बेकारी के समय मे सबको नौकरी कैसे मिल सकती है? इसके अतिरिक्त पुस्तको के ज्ञान द्वारा कुछ परीक्षाएँ पास कर लेने का ही ध्येय रहने से आजकल के विद्यार्थी निकम्मे बन जाते हैं। 'बी० ए०', 'एम० ए०' तक पहुँचने में उनकी निसर्ग-सिद्ध शक्तियाँ भी क्षीण होने लगती है। शारीरिक

शक्ति तो उनसे कोसो दूर भागती है। विद्यार्थी जीवन से ही भिन्न-भिन्न रोगों के आगार बनकर जब वे जीवन मे प्रवेश करते है, तब बेकारी का भूत उन्हे निगलने दौडता है, और परिणामतः उनकी बडी दुर्दशा होती है।

आधुनिक शिक्षा-प्रणाली के दुर्गुणों के कारण समाज मे षड्रिपुओ का साम्राज्य छा गया है और राष्ट्र जल्दी-जल्दी पतन की ओर कदम बढा रहा है। इसके विपरीत यदि प्राचीन शिक्षा-प्रणाली पर दृष्टिपात किया जाय तो ज्ञात होगा कि जहाँ आधुनिक 'एम० ए०' परीक्षा मे उत्तीर्ण नवयुवक जब जीवन मे प्रवेश करता है, तब लगभग वृद्ध ही बन जाता है, वहाँ प्राचीन काल का स्नातक ब्रह्मचर्याश्रम समाप्त करने पर जब जीवन मे प्रवेश करता था, तब पूर्णतया नवयुवक रहता था। नवजीवन, नव आकाक्षाएँ, नव स्फूर्ति आदि का समुद्र उसके हृदय मे हिलोरे मारता था। निराशा उसके पास भटकने भी न पाती थी। प्राचीन क्षत्रियो के समान वह जीवन की आपत्तियो को हँसते-हँसते झेलता था। जीवन-कलह उसके लिए इतनी कठिन नही थी, जितनी कि आजकल है। प्राचीन काल में राजा का कर्तव्य था कि वह सबके योगक्षेम का ध्यान रखे।

७

सामाजिक जीवन

समाज का विकास—मनुष्य स्वभाव से ही सामाजिक जीव है। निसर्गसिद्ध सस्कारो की सहायता से वह सामाजिक विकास का प्रारम्भ करता ह। आत्मरक्षण व एकत्रित रहने की नैसर्गिक वृत्तियो का इसमे विशेष हाथ ह। इन वृत्तियो के कारण पारिवारिक जीवन से ही सामाजिक विकास का प्रारम्भ होता है। इन्हीं वृत्तियो से प्रेरित होकर तथा प्रतिकूल परिस्थितियो से सताये जाने पर बहुत से परिवार अपने को एकता के सूत्र मे बाँधना सीखते है, और उनमें एक सगठित शक्ति उत्पन्न हो जाती ह। आचार-विचार, आदर्श आदि को एकता पर यह सगठन निर्भर रहता ह। इस प्रकार के मानव-समुदाय को ही समाज कहते है। समाज शब्द मे ही सगठन-शक्ति, सास्कृतिक विकास आदि के भाव समाविष्ट हैं। वही समाज सभ्य या सुसस्कृत कहलाता है, जहाँ पारिवारिक जीवन का पर्याप्त विकास हो चुका हो, और अनेको विकसित परिवार आचार-विचार, आदर्श आदि द्वारा एकता के सूत्र मे बँधकर रहना सीख चुके हो।

प्राचीन भारत मे सामाजिक जीवन का प्रारम्भ—प्राचीन भारत पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि पारिवारिक जीवन के समान सामाजिक जीवन भी नैसर्गिक और वैज्ञानिक सिद्धान्तो के आधार पर विकसित हुआ था। इस विकास का प्रारम्भ वैदिक काल से ही हो

गया था। ऋग्वेद से पता चलता है कि समाज संस्कृति और सभ्यता के मार्ग पर आरूढ हो चुका था। समाज मे एकता का भाव जागृत हो चुका था। इसी भाव के कारण ऋग्वेद मे मानव-जाति को दो विभागों मे विभाजित किया गया था—जैसे आर्य और अनार्य, जिसमे दस्यु, दास, शूद्र आदि का समवेश हो जाता था। इन-विभागो को दूसरे शब्दो मे इस प्रकार भी कह सकते हैं—(१) सभ्य मानव समुदाय और (२) असभ्य या जगली मानव-समुदाय। ऋग्वेद को ध्यानपूर्वक पढने से पता चलता है कि आर्य व दस्यु मे विजेता और पराजित का भाव न रहकर सभ्य और असभ्य का भाव निहित था। शूद्र आर्य मानव-समुदाय का एक विशेष अङ्ग माना जाता था, जो ऋग्वेद (१०।९०।१२) के अनुसार परमात्मा के पैर से उत्पन्न हुआ था। शूद्र वर्ण मे बहुत से दस्यु, दास आदि भी सम्मिलित कर लिये गए थे। इस प्रकार प्राचीन भारत के सामाजिक विकास का इतिहास ऋग्वेद से ही प्रारम्भ होता है। वैदिक काल मे यह विकास अपनी किशोरावस्था मे नहीं था, किन्तु बहुत आगे बढ चुका था। इसी काल मे धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, दार्शनिक आदि क्षेत्रो में भी बहुत उन्नति हो चुकी थी। इन क्षेत्रों मे उन्नति प्राप्त करने के लिए सामाजिक विकास की प्रौढता अत्यन्त ही आवश्यक है।

(१)
सामाजिक व्यवस्था

मूल स्तम्भ—प्राचीन भारत की सामाजिक व्यवस्था को अच्छी तरह से समझने के लिए यह आवश्यक है कि उसके आधार-स्तम्भो को समझने का प्रयत्न किया जाय, जो इस प्रकार हैं—पारिवारिक जीवन, तीन ऋण, वर्ण-व्यवस्था, आश्रम-व्यवस्था और वर्ग-चतुष्टय। पारिवारिक जीवन पर पहले ही विचार किया जा चुका है, तथा यह अच्छी तरह

समझ लिया गया है कि किस प्रकार पारिवारिक जीवन सामाजिक विकास की जड मे है।

तीन ऋण पितृ-ऋण—पितृ-ऋण, ऋषि ऋण, देव ऋण आदि तीन ऋण माने गए है, जिनको अच्छी तरह से चुकाना प्राचीन भारतीय नागरिक का कर्तव्य माना गया था। पितृ-ऋण का विशेष सम्बन्ध पारिवारिक जीवन से है। उसी प्रकरण में इस ऋण पर पर्याप्त विचार किया जा चुका है। फिर भी इतना कहना यहाँ आवश्यक होगा कि समाज की उन्नति और विकास के लिए पितृ-ऋण का सिद्धान्त अत्यन्त ही आवश्यक है। धर्मशास्त्रो ने कहा है कि सन्तानोत्पत्ति द्वारा इस ऋण को चुकाया जा सकता है। सन्तानोत्पत्ति का सम्बन्ध समाज के भविष्य से कितना घनिष्ठ है, यह तो बिलकुल ही स्पष्ट है। उत्तर-दायित्वों और कर्तव्यों को समझने वाली सन्तान के उत्पन्न होने पर समाज का भविष्य सुधर सकता है। आजकल सन्तानोत्पत्ति के महत्त्व को भारत भूल रहा है। पाश्चात्य विचारो से प्रभावित होकर भारतीय नवयुवक वैवाहिक जीवन व्यतीत तो करना चाहता है, किन्तु सन्तानोत्पत्ति आदि का उत्तरदायित्व अपने सिर पर लेना नहीं चाहता। इसीलिए सन्तति-निरोध आदि के कुत्सित और कृत्रिम साधन धीरे-धीरे समाज मे फैल रहे हैं। समाज के शारीरिक, नैतिक और आध्यात्मिक जीवन पर इनका क्या दुष्परिणाम होगा, यह तो भविष्य ही बताएगा। यह स्पष्ट है कि जिस समाज के नवयुवक विलासिताप्रिय, उत्तरदायित्व-हीन और निकम्मे बनते जाते है, उसका भविष्य अन्धकारमय ही है। प्राचीन काल मे अच्छी-अच्छी सन्तान उत्पन्न करना पवित्र कर्तव्य समझा जाता था। वैदिक ऋषि परमात्मा से यही प्रार्थना किया करते थे कि 'हम अच्छे पुत्र वाले बनें'। इस पितृ-ऋण के कारण समाज का वातावरण पवित्र रहता था।

ऋषि-ऋण—प्राचीन आचार्यों के मतानुसार यह ऋण स्वाध्याय द्वारा चुकाया जा सकता है। गुरुकुलों मे ऋषि अपने आजीवन योग

और तप का फल विद्या के रूप मे ब्रह्मचारियो को देते थे। प्राचीन काल मे विद्यार्थी, जो केवल विद्यार्थी ही नहीं किन्तु ब्रह्मचारी भी था, गुरु के कुल का सदस्य बन जाता था। वह गुरु, जो किसी गूढ तत्त्व के दर्शन करने के कारण 'ऋषि' कहलाता था, और जो वयोवृद्ध और ज्ञान-वृद्ध रहता था, ब्रह्मचारी को अपने पुत्र से भी अधिक चाहता था। वह विद्यार्थी को समाज और राष्ट्र की महान् सम्पत्ति समझता था। वह अपने उत्तरदायित्व को समझ यह मानता था कि उसे समाज या राष्ट्र के भविष्य का निर्माण करने का पवित्र काम सौपा गया है। इस प्रकार गुरु और शिष्य का सम्बन्ध उदात्त और पवित्र बन जाता था। शिष्य को विद्योपार्जन के लिए कोई निश्चित द्रव्यराशि नही देनी पडती थी, क्योकि तत्कालीन राजा और प्रजा गुरुकुलो को हर प्रकार की सहायता देना अपना पुनीत कर्तव्य समझते थे।

समाज के बालक चाहे धनी हो या रङ्क, गुरुकुलों मे वेदाध्ययन द्वारा ज्ञानोपार्जन कर ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग मे अग्रसर होते थे। दुनिया की किसी दौलत को कुछ भी न समझने वाले, विद्यार्थियो से कोई भी स्वार्थ का साधन न करने वाले, निरीह और निर्लेप ऋषि अपने शिष्यो के लिए सब-कुछ न्योछावर कर देते थे। इसलिए उन शिष्यो पर उनका बडा भारी ऋण हो जाता था। इसी को ऋषि-ऋण कहा गया है, और इसे चुकाना प्रत्येक का कर्तव्य बताया गया है। यह ऋण स्वाध्याय द्वारा चुकाया जाता था। वेदाध्ययन और ज्ञानोपार्जन के काम मे लोगों के लीन रहने से समाज मे ज्ञान की ज्योति हमेशा जगमगाती रहती थी। गुरुकुल से निकलने के पश्चात् जब स्नातक गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करता था, तब वह इस बात को नही भूलता था कि उसे अपने ऋषि का ऋण चुकाना है—कुछ द्रव्य देकर नही, किन्तु अपने अध्ययन को जारी रखकर और ज्ञान-वृद्धि के साधनो की वृद्धि मे सहायक बनकर। इस प्रकार प्राचीन भारत के गृहस्थ, न केवल स्वत ही स्वाध्याय द्वारा ज्ञान-वृद्धि करते थे, किन्तु गुरुकुलो को हर प्रकार की सहायता भी देते

थे, जिससे ज्ञान-पिपासा की तृप्ति के केन्द्र सूखने न पाएँ। ऋषि-ऋण के सिद्धान्त के कारण समाज की शैक्षणिक संस्थाएँ न केवल जीवित-जागृत ही रहती थी, किन्तु उत्तरोत्तर वृद्धि और उन्नति भी करती थीं। प्राचीन-कालीन परिवार ज्ञान और बुद्धि के केन्द्र बन जाते थे, जिससे सम्पूर्ण समाज पूर्ण रूप से विकसित होकर उन्नत अवस्था को प्राप्त हो सकता था। प्राचीन भारत की ज्ञान-वृद्धि का रहस्य इसी मे छिपा है।

देव-ऋण—स्मृतिकारों के मतानुसार यज्ञादि द्वारा इस ऋण को चुकाया जा सकता है। निसर्ग की निभिन्न शक्तियो को वेदों में 'देव' कहा गया है, क्योंकि उनका देदीप्यमान प्रकाश चहुँओर दिखाई देता है। यज्ञादि के द्वारा वायु, वर्षा आदि निसर्ग के स्वरूप को मानव-जाति के लिए किस प्रकार कल्याणकारी बना सकते है, यह पहले ही कह दिया गया है। यहाँ इस ऋण पर एक दूसरी दृष्टि से विचार करना होगा। 'देव' शब्द 'दिव्' धातु से बनता है, जिसका अर्थ 'चमकना' होता हे। इसलिए 'देव' याने 'चमकने वाला', 'प्रकाशमान', 'देदीप्यमान' आदि हुआ। 'देव' शब्द से जिस प्रकाश का तात्पर्य है, वह कदाचित् कोई कृत्रिम प्रकाश नही है, किन्तु आत्मिक प्रकाश है। जिसका आत्मा अधिक परिष्कृत है उसके मुख पर एक प्रकार का दिव्य तेज मालूम पडता है। इसलिए 'देव' शब्द से उन महापुरुषो को सम्बोधित किया जा सकता है, जो आत्मिक विकास के मार्ग मे बहुत आगे बढ गए हैं, जिन्हे आत्मसाक्षात्कार हो चुका है और जिन्हे बौद्धों की भाषा मे बुद्ध, जैनियो की भाषा मे जिन या महावीर, हिन्दुओ की भाषा मे राम या कृष्ण, ईसाइयो की भाषा में ईसामसीह और मुसलमानो की भाषा मे मुहम्मद कह सकते हैं। ये महान् आत्माएँ उन्मार्गगामी मानव-समाज को पुन सन्मार्ग पर लाने के लिए ही भूमण्डल पर अवतरित होती है, जैसा कि गीता ने भी कहा है। इन विभूतियो का समाज पर कितना जबरदस्त ऋण हो जाता है, यह तो प्रत्येक विचारशील व्यक्ति समझ सकता है। इसलिए प्राचीन भारत मे समाज के सदस्यो का कर्तव्य

मान लिया गया था कि वे इन महात्माओं के आदेशों पर चलकर उनके ऋण से मुक्त हो जायँ। सामाजिक विकास के लिए 'देव-ऋण' का यह भाव अत्यन्त ही आवश्यक है।

वर्ण-व्यवस्था—प्राचीन काल से ही भारत के आर्यों ने समाज को चार विभागों मे विभाजित किया था। यह विभाग साधारणतया अर्थशास्त्र के 'कार्य विभाग-सिद्धान्त' पर अवलम्बित था। ऋग्वेद के 'पुरुष-सूक्त' (१०।६०) मे इसका स्पष्टीकरण किया है। समस्त समाज को पुरुष का रूपक दिया गया है और उसके भिन्न-भिन्न अंगो का वर्णन किया गया है। जिस प्रकार आधुनिक समाजशास्त्रज्ञ मानव-समाज को एक जीवित व्यक्ति मानते है उसी प्रकार ऋग्वेद मे भी रूपक द्वारा समाज को जीवित पुरुष माना गया है। इस रूपक मे से यह भी ध्वनित होता है कि जिस प्रकार शरीर के सब अंग एक-दूसरे से अच्छी तरह सम्बन्धित हैं और यदि एक अंग मे कुछ पीडा हो जाय तो उसका अनुभव समस्त शरीर मे होता है तथा शरीर-भर मे एक प्रकार की क्रान्ति मच जाती है, उसी प्रकार समाज का भी हाल है। यही जीवित समाज का लक्षण है। संगठन व जागृति के भाव को व्यंजित करने के लिए ही 'पुरुष-सूक्त' मे समाज को पुरुष का रूपक दिया गया, और उसके विभिन्न अङ्गों का वर्णन किया गया, जैसे "उस (समाज-रूपी) पुरुष को मुख ब्राह्मण था, उसकी भुजाएँ क्षत्रिय बनाई गई। उसकी जङ्घाओं से वैश्य बने व पैरो से शूद्र उत्पन्न हुए" (ऋ० १०।६०।१२)। इस प्रकार समाज रूपी पुरुष के मुख, भुजाएँ, जङ्घाएँ और पैर क्रमश ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र है।

ब्राह्मण—उपरोक्त रूपक मे 'मुख' से केवल भोजन करने वाले मुँह का ही तात्पर्य नही है किन्तु उसमे मस्तिष्क का भी समावेश हो जाता है। मनुष्य के शरीर मे मस्तिष्क ही सबसे ऊँचा और अत्यन्त ही आवश्यकीय अङ्ग है, जिसके बिगडने पर मृत्यु ही उत्तम समझी जाती है। जिस प्रकार मनुष्य का मस्तिष्क उसकी सब क्रियाओं का

सञ्चालन करता है, तथा उदात्त भावनाओ और विचारो को पैदा करके उसे सन्मार्ग पर प्रेरित करती है उसी प्रकार समाज का मस्तिष्क भी रहता है, जोकि उसके लिए आवश्यकीय है, और जिसको अच्छी स्थिति मे रखना अत्यन्त ही वाञ्छनीय है। समाज का मस्तिष्क वे व्यक्ति कहलाते है, जो निसर्गसिद्ध शक्तियो का सम्यक् विकास कर अपने मस्तिष्क से उदात्त व सुन्दर विचार उत्पन्न करते है, तथा अपने अनुभव व ज्ञान द्वारा अच्छी आयोजनाएँ व जीवनचर्याएँ उपस्थित करते है, जिनको अपनाने से समाज सन्मार्ग मे प्रवृत्त होकर अपने उद्दिष्ट तक पहुँच सकता है। इन व्यक्तियो को 'ब्राह्मण' नाम से सम्बोधित किया गया, क्योकि इनका जीवन ब्रह्म-प्राप्ति या सत्य की खोज में ही व्यतीत होता था। इन ब्राह्मणो को समाज का मस्तिष्क या मुख कहा गया। समाज जो-कुछ विचार करता था, इन्हीं के द्वारा करता था, जो-कुछ बोलता था इन्हीं के द्वारा बोलता था। ये ब्राह्मण आजीवन ज्ञानोपार्जन, ज्ञान-वितरण, समाज-सेवा आदि के पवित्र कार्य मे लगे रहते थे, सांसारिक वैभव की जरा भी परवाह नही करते थे। राजदरबार मे इन ब्राह्मणो का बहुत मान होता था। ये ही राजा को मन्त्रणा भी देते थे। चाणक्य ब्राह्मण ने अपनी मन्त्रणा व बुद्धि के ज़ोर पर चन्द्रगुप्त मौर्य को महान् सम्राट् बना दिया। वशिष्ठ व विश्वामित्र ने राम को कितना ऊँचा स्थान प्राप्त करा दिया।

ब्राह्मणो के कर्तव्यो के सम्बन्ध मे वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, सूत्र, रामायण, महाभारत आदि मे उल्लेख आता है। साराश मे उनके कर्तव्य इस प्रकार हैं—वेद पढना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना, यम-नियम की साधना द्वारा आत्मविकास के मार्ग में अग्रसर होना, मानव-रिपुओं का दमन कर समाज के सामने अच्छा आदर्श उपस्थित करना। साधारणतया ब्राह्मणो का समय वेदाभ्यास, योग-साधन आदि मे ही जाता था, वे ऐहिक ऐश्वर्य आदि की परवाह नही करते थे। जब तक भारत मे ऐसे ब्राह्मण रहे, तब तक यहाँ का समाज उत्तरोत्तर वृद्धि करता गया,

किन्तु जब से इनका अभाव हुआ और इनका स्थान नामधारी ब्राह्मणों ने ग्रहण किया, तब ही से समाज का पतन प्रारम्भ हुआ और वह पागल के समान किंकर्तव्यविमूढ बन गया। आज भी संसार के जिन राष्ट्रों या समाजों ने उन्नति की है, उसकी जड में ऐसे ही निरीह व निस्स्वार्थ व्यक्ति मिलेंगे, जो अपने तप व ज्ञान से समाज की सेवा करते हैं। वे ही उस समाज के लिए सच्चे ब्राह्मण ह ।

क्षत्रिय—क्षत्रिय समाज-पुरुष की भुजाओं से उत्पन्न हुए है। भुजाओं के समान ये बाह्य व आभ्यन्तर शत्रुओं से समाज की रक्षा करते थे। वेद-पठन, यज्ञ करना, दान देना, इन्द्रिय-निग्रह आदि क्षत्रिय के मुख्य कर्तव्य थे। प्रजा-रक्षण तो उनका मुख्य कर्तव्य था। जो प्रजा को कष्ट देता था, वह राजा नहीं कहला सकता था। वेन राजा के समान उसे पदच्युत कर मार डाला जाता था। उसे यज्ञ भी करने पडते थे तथा अध्ययन भी जारी रखना पडता था। यज्ञ का सम्बन्ध आध्यात्मिक जीवन से ही नही बल्कि आर्थिक जीवन से भी था। इसलिए राजा को यज्ञसम्बन्धी सब आवश्यकताओं की पूर्ति करनी पडती थी। विषयासक्ति से भी उसे दूर रहना पडता था। जिसके ऊपर समाज की रक्षा का उत्तरदायित्व हो वह यदि विषयो मे फँसे तो समाज किस प्रकार जीवित रह सकता है? विषयासक्ति ने राजाओं और उनकी प्रजा की कितनी दुर्दशा की है, इसकी साक्षी इतिहास देता है।

इन कर्तव्यो को पूरा करने का सामर्थ्य प्राप्त करने के लिए उसे कुछ विशेष गुण प्राप्त करने पडते थे, जो ये हैं—शौर्य अर्थात् शारीरिक शक्ति का अच्छा विकास कर वीरत्व को धारण करना, जिससे समाज की आपत्तियो का वीरता से सामना किया जा सके, तेज, अर्थात् आत्मिक बल के विकास से व्यक्तित्व को आकर्षक व प्रभावोत्पादक बनाना, इस प्रकार के व्यक्तित्व से मुख पर एक अलौकिक तेज आ जाता है, जिसके सामने दुष्टवृत्ति मनुष्य एकदम नतमस्तक हो जाते है, धृति अर्थात् क्षत्रियो मे हिम्मत भी खूब होनी चाहिए, दाक्ष्यम् अर्थात

क्षत्रियो के लिए व्यवहार-कुशलता भी आवश्यक थी, क्योंकि समाज का राजनीतिक जीवन उन्हीं के हाथ मे रहता था, युद्ध से अपलायन अर्थात् युद्ध से न भागना, यह भी क्षत्रियो के लिए अत्यन्त ही आवश्यक था, युद्ध से मुँह मोडकर भागना क्षत्रियो के लिए मृत्यु से भी खराब समझा जाता था।

वैश्य—जिस प्रकार शरीर का भार जघाओ पर रहता है और वे ही उसका वहन करती हैं, उसी प्रकार समाज के भरण-पोषण का भार वैश्यो को वहन करना पडता था। समाज के आर्थिक विकास की सब जिम्मेवारियाँ इन्ही के सिर पर थी। सम्पत्ति-वृद्धि के आयोजन व साधन जुटाना इन्हीं का कर्तव्य था। प्राचीन काल मे प्रत्येक वैश्य को यह समझना पडता था कि मै समाज का एक अङ्ग-मात्र हूँ और समाज ने मुझे साम्पत्तिक विकास का काम सौंपा है। अतएव वह जो कुछ कमाता था उस पर समाज का पूरा-पूरा अधिकार रहता था। अन्य तीनो वर्ण उसमे से अपना-अपना भाग लेते थे। समाज मे किसी तरह का आर्थिक असन्तोष फटकने न पाता था। वैश्यो मे त्याग वृत्ति कूट कूटकर भरी रहती थी। वैश्यो के कर्तव्य, साराश मे, इस प्रकार है—वेदादि का अध्ययन करना, यज्ञ करना, व्यापार करना, कृषि करना, पशुओ की रक्षा करना, दान देना, साधारण व्याज लेना आदि। भारत कृषि-प्रधान देश है। समाज के भरण-पोषण के लिए पशु-पालन व कृषि अत्यन्त ही आवश्यक थे। इसीलिए वैश्यो के कर्तव्यों मे उनका समावेश किया गया। वैश्य केवल आजकल के समान धन कमाने के यन्त्र ही न बन जायँ, इसलिए वेदाध्ययन, यज्ञ करना आदि भी उनके लिए विहित किये गए। ऐसे ही आदर्श वैश्य समाज का भरण-पोषण करके उसे जीवित रख सकते थे।

शूद्र—शूद्र समाज-पुरुष के पैरों से उत्पन्न हुए हैं। जिस प्रकार शरीर मे पैर हैं, उसी प्रकार समाज मे शूद्र है। समाज की सेवा का सम्पूर्ण भार उन्हीं पर रहता था। जो लोग पहले तीन वर्णों के कर्म

करने मे असमर्थ थे उन्हे सेवा का काम करना पड़ता था, जैसा कि मनु ने कहा है—"इन तीन वर्णों की असूया-रहित सेवा करना यही एक कर्म परमात्मा ने शूद्र के लिए बनाया" (मनु० १।९१)। सेवा कर्म के कारण शूद्र को नीचा नही समझा जाता था। प्राचीन समाज मे ऊँच-नीच का कोई भेद-भाव न था। सब वर्ण अपने-अपने क्षेत्र मे महत्त्व का स्थान रखते थे। समाज को चारों वर्णों की ही आवश्यकता थी। किसी एक के न रहने से वह सुचारु रूप से नही चल सकता था। इसी तथ्य को 'पुरुष-सूक्त' मे आलकारिक भाषा मे समझाया गया है।

वर्ण-व्यवस्था कर्म-मूलक—इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्राचीन वर्ण-व्यवस्था समाज-शास्त्र के मूल तत्त्वो के आधार पर विकसित हुई थी। वर्ण-विभाजन का जन्म से कोई सम्बन्ध नही था। वर्ण की कसौटी कर्तव्य-कर्म थे। भोजन, विवाह आदि के लिए कोई रुकावट नहीं थी। प्राचीन भारत ने इस वर्ण व्यवस्था के महत्त्व को अच्छी तरह समझा था। कोई प्राचीन ग्रन्थ ऐसा नही, जिसमें इसके गीत न गाये गए हो। राजा को इस व्यवस्था की देख-भाल करनी पड़ती थी। वह सब वर्णों को अपने-अपने कर्तव्य कर्मो मे प्रेरित करता था। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने से पता चलता है कि वैदिक काल से महाभारत काल तक समाज ने इस व्यवस्था को अपनाया था। महाभारत के पश्चात् इसका सच्चा स्वरूप लुप्तप्राय हो गया और परिणामत समाज पतन की ओर बढ़ता ही गया। इसी दुरवस्था को कलियुग का प्रताप बताकर पुराणो ने बहुत ही सुन्दर शब्दो मे उसका वर्णन किया है (ब्रह्म० अ० २२९)। अपने बिगड़े हुए रूप मे वर्ण-व्यवस्था आज भी भारत मे वर्तमान है। आज भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि नामो को सुनकर ऐतिहासिक ज्ञान द्वारा प्राचीन आदर्श वर्ण-व्यवस्था के दर्शन किये जा सकते हैं।

आश्रम-व्यवस्था—आश्रम-व्यवस्था भी प्राचीन सामाजिक व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती थी। जीवन के मर्म को भली-भाँति समझ-

अधिकाशत आध्यात्मिक था। किन्तु ससार की अवहेलना नही की जा सकती थी। धर्म, अर्थ, काम आदि की प्राप्ति के साधनो व प्रयत्नो मे सासारिकता का समावेश होता था, किन्तु सयम की मात्रा उसमे अधिक रहती थी। वर्ग-चतुष्टय को अच्छी तरह से समझने के लिए धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र व ब्रह्मविद्या को विकसित किया गया था। ये शास्त्र क्रमश धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष से सम्बन्धित थे। वर्ग-चतुष्टय के सिद्धान्त का तात्पर्य यह था कि मानव-समाज सर्वाङ्गीण सस्कृति का विकास कर सके और भौतिकता तथा आध्यात्मिकता के सुन्दर सम्मिश्रण से ऐहिक जीवन को सुखमय बनाकर अपने उद्दिष्ट तक पहुच सके।

सामाजिक व्यवस्था की उदारता—प्राचीन भारत के सामाजिक रीति-रिवाजो का आलोचनात्मक विचार करने से पता चलता है कि तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था बहुत ही उदार थी। आजकल के समान कुण्ठित मनोवृत्ति ने समाज मे प्रवेश नही किया था। इस उदार-वृत्ति का पता विवाह, नियोग आदि सामाजिक प्रथाओं से चलता है। प्राचीन काल मे खान-पान आदि पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। चारो वर्ण बराबर एक-दूसरे के हाथ का भोजन कर सकते थे। आपस्तम्ब धर्मसूत्र (२।१।३।४) मे लिखा है कि यज्ञ के लिए शूद्र भोजन बना सकता है। गौतम (२।४१), बौधायन (१।२।१८-१६) आदि ने प्रयत-शूद्र के हाथ का भोजन विहित किया है। अङ्गिरस (१२०-१२१) के अनुसार पर्व के दिन क्षत्रिय का बनाया भोजन ब्राह्मण कर सकता है। ब्रह्मचारी तो किसी के भी घर भोजन कर सकता था। याज्ञवल्क्य स्मृति (आचार०, १६६) ने भी इस सम्बन्ध मे लिखा है कि "शूद्रो मे दास, ग्वाला, वश-परम्परागत मित्र, किसान, नाई व शरणागत इन सबका भोजन किया जा सकता है। मुस्लिम यात्री अलबेरूनी (ईसा की ११ वीं शताब्दी) अपने ग्रन्थ 'तहकीक़ाते हिन्द' मे लिखता है कि चारो वर्णों के लोग एक साथ रहते तथा भोजन करते थे।

विवाह—विवाह-प्रथा भी उदात्त सिद्धान्तो पर विकसित की गई थी। अत्यन्त प्राचीन काल मे कोई भी किसी से विवाह कर सकता था। इस सम्बन्ध मे कितनी ही कथाएँ पुराणो मे है (मत्स्य ३०।१७–२२)। मन्वादि स्मृतियो (मनु १०।११, याज्ञ० आचार० ९३-९५) मे प्रतिलोम विवाहो का उल्लेख स्पष्टतया सिद्ध करता है कि प्राचीन काल मे असवर्ण विवाह प्रचलित थे। प्रतिलोम विवाह के अनुसार कन्या उच्च वर्ण की और पति नीच वर्ण का रहता है, तथा अनुलोम विवाह के अनुसार कन्या नीच वर्ण की और पति उच्च वर्ण का रहता है। प्रतिलोम विवाह बौद्ध काल के प्रारम्भ मे (ई० पू० ६०० वर्ष के लगभग) तथा अनुलोम विवाह लगभग ई० स० ३०० वर्ष तक प्रचलित थे। स्मृत्यादि मे प्रतिलोम विवाह को अच्छा नहीं माना गया है, उसकी सन्तान को चाण्डालादि से सम्बन्धित किया गया है, तथा वर्णसकरो मे सम्मिलित किया गया है। मनुस्मृति (१०।११) मे लिखा है कि 'वैश्या, क्षत्रिया व ब्राह्मणी स्त्री व शूद्र पति से क्रमश आयोगव, क्षत्ता तथा मनुष्यो मे अधम चाण्डाल-पुत्र उत्पन्न होते है।" याज्ञवल्क्य स्मृति (आचार, ९३।९५) मे लिखा है कि "ब्राह्मणी स्त्री से क्षत्रिय पति द्वारा सूत, वैश्य द्वारा वैदेहिक और शूद्र द्वारा चाण्डाल-पुत्र उत्पन्न होता है, जो सब धर्मों से बहिष्कृत है। क्षत्रिया स्त्री से वैश्य द्वारा मागध व शूद्र द्वारा क्षत्तार पुत्र उत्पन्न होता है। वैश्या स्त्री से शूद्र द्वारा आयोगव पुत्र उत्पन्न होता है।" इन प्रमाणो के सहारे यह कहा जा सकता है कि धीरे-धीरे प्रतिलोम विवाह समाज मे अप्रिय होने लगे। किन्तु अनुलोम विवाह बहुत समय तक समाज मे प्रचलित थे। इस मन्तव्य की पुष्टि मे ऐतिहासिक प्रमाण भी दिये जा सकते है। चन्द्रगुप्त मौर्य (ई० पू० ३२२-२९८) ने यवनराज सेल्युकस निकॉटर की पुत्री से विवाह किया था। कविराज बाणभट्ट (ईसा की ७वी सदी) का शूद्रा माता से उत्पन्न एक पारशव भाई था। ई० स० ८३७–८६१ के मन्दसौर-प्रतिहारों के लेखो से पता लगता है कि हरिश्चन्द्र

नामी ब्राह्मण ने भद्रा नामी क्षत्रिय-लडकी से विवाह किया था। ब्राह्मण कवि राजशेखर (ईसा की १०वी शताब्दी) ने चौहान-लडकी से विवाह किया था। दक्षिण भारत मे भी ब्राह्मणो ने क्षत्रिय-लडकियो से विवाह किये थे। गुलवाडा गॉव के निकट एक गुफा में खुदे हुए लेख मे वल्लूर-वशीय ब्राह्मण के क्षत्रिय-लडकी से विवाह का उल्लेख है। धर्म-सूत्रों तथा स्मृतियो मे भी अनुलोम विवाह कितने ही स्थलो पर उल्लिखित है। पुराणों ने ऐसे विवाहो का कलियुग मे निषेध किया है। बौधायन सूत्र (१।८।६-८, १।६।३) में लिखा है कि असवर्ण स्त्री का विद्वान् पुत्र सवर्ण स्त्री के मूर्ख पुत्र से अच्छा है। गौतम धर्मसूत्र, बौधायन धर्मसूत्र तथा वशिष्ठ धर्मसूत्र के अशौच प्रकरण मे भिन्न-भिन्न वर्णों की माताओ के सम्बन्धियो का स्पष्ट उल्लेख है। उनके पुत्रो को पैतृक सम्पत्ति का भाग मिलता था। मनुस्मृति (३।१२,१३) मे ऐसे विवाहो के सम्बन्ध मे कहा है कि "द्विजातियो (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के लिए अपने वर्ण की स्त्री से विवाह करना उत्तम है। किन्तु अपनी इच्छानुसार विवाह करने वाले के लिए विवाह करने की विधि इस प्रकार है। शूद्र के लिए शूद्रा ही वैश्य के लिए शूद्र तथा वैश्या, क्षत्रिय के लिए शूद्रा, वैश्या तथा क्षत्रिया और ब्राह्मणो के लिए चारो वर्णों की पत्नी हो सकती है।" याज्ञवल्क्य स्मृति (व्यव० १२५) मे लिखा है कि ब्राह्मण-पुत्र को अपनी माता के वर्ण के अनुसार चार, तीन, दो या एक भाग मिलना चाहिए, क्षत्रिय के पुत्र को तीन, दो अथवा एक, वैश्य-पुत्र को दो अथवा एक।"

उपरोक्त प्रमाणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल मे असवर्ण विवाह समाज मे प्रचलित थे, यहाँ तक कि शूद्र भी ब्राह्मणी से विवाह कर सकता था। किन्तु समय के फेर से ज्यो-ज्यो अज्ञानान्धकार छाने लगा त्यो-त्यो उच्च वर्ण के लोगा में अह भाव का सचार होने लगा। इसी भाव से प्रेरित होकर समाज के सचालको ने प्रतिलोम, अनुलोम आदि विवाहो को बन्द करने के लिए 'वर्णसकर' का

सिद्धान्त बना लिया। ऐसे विवाहो की सन्तान को तत्कालीन असभ्य व जगली जातियो से सम्बन्धित करने के कारण जनसाधारण भी उनसे घृणा करने लगे।

आठ प्रकार के विवाह—प्रतिलोम, अनुलोम आदि असवर्ण विवाहो के अतिरिक्त धर्मशास्त्रो ने और आठ प्रकार के विवाह माने हैं जैसे ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, गान्धर्व, राक्षस व पैशाच। मनुस्मृति (३।२७–३४) मे इन विवाहों का वर्णन इस प्रकार दिया है—"कन्या को सुन्दर वस्त्र पहनाकर और उसकी पूजा करके किसी श्रुतिशीलवान को स्वयं बुलाकर उससे कन्या का विवाह करना 'ब्राह्म-विवाह' कहलाता है। जबकि अच्छी तरह से यज्ञ किया जा रहा हो तथा ऋत्विक् अपना कार्य करता हो तब उस ऋत्विक को वस्त्र-आभूषण आदि से सजी हुई कन्या देना 'दैव-विवाह' कहलाता है। एक या दो गोमिथुन वर से धर्मपूर्वक लेकर यथाविधि उसे कन्या देना 'आर्ष-विवाह' कहलाता है। 'दोनो एक साथ धर्माचरण करो' इन वचनो को कहकर पूजा करके जो कन्या दी जाती है, वह 'प्राजापत्य' विवाह कहलाता है। सम्बन्धियो व कन्या को यथाशक्ति धन देकर अपनी स्वतन्त्र इच्छा से जो कन्या प्राप्त की जाती है उसे 'आसुर विवाह' कहते है। कन्या व वर का अपनी-अपनी इच्छा से जो सयोग होता है, वह 'गान्धर्व-विवाह' है। यह मैथुन्य व काम-सम्भव है। मार-पीट व अग छेदन करके दीवारादि तोड़ चिल्लाती व रोती कन्या को जबरदस्ती घर से ले जाना 'राक्षस-विवाह' कहलाता है। सुप्त, मत्त या प्रमत्त कन्या से एकान्त में मैथुन-निमित्त जो विवाह किया जाता है, वह सबमे अधम पापिष्ठ 'पैशाच विवाह' है।" इन विवाहो के उल्लेख से भी सामाजिक उदारता का पता लगता है। विवाह के लिए योग्य नियम थे, जिनका पालन करना प्रत्येक का कर्तव्य था। किन्तु यदि नियमो के विरुद्ध भी किसी स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध हो जाता, तो समाज उन्हे ठुकराता नहीं था, मनुष्य से भूल होती है, इस सिद्धान्त को मानकर उन्हें समाज

मे स्थान मिलता था। स्त्री व पुरुष के नैसर्गिक आकर्षण के मार्ग मे समाज रोडा बनना नही चाहता था। ऐसा करने से समाज मे अधिक अशान्ति नही फैल पाती थी। गान्धर्व, राक्षस, पैशाच आदि विवाहो का मान्य किया जाना इसी भाव का द्योतक है।

बारह प्रकार के पुत्र—बारह प्रकार के पुत्रो को मान्यता देना भी सामाजिक उदारता का अच्छा नमूना है। प्राचीन भारतीय समाज ने उन पुत्रो को यथायोग्य स्थान दिया था। मनुस्मृति (९।१५८–१६०, १६६-१७८) ने उन पुत्रो का वर्णन इस प्रकार किया है—"स्वायम्भुव मनु ने जिन बारह पुत्रो का वर्णन किया है, उनमे से छ 'बन्धुदायाद' है व छ 'अदायादबन्धु' है। औरस, क्षेत्रज, दत्त, कृत्रिम, गूढोत्पन्न, और अपविद्ध ये छ दायाद व बान्धव है। कानीन, सहोढ, क्रीत, पौनर्भव, स्वयदत्त व शौद्र ये छ 'अदायाद बान्धव' है। अपने ही क्षेत्र मे सस्कार से परिशुद्ध स्त्री मे स्वय जिस पुत्र को उत्पन्न करे, उसे 'औरस' पुत्र जानना चाहिए जिसे प्रथम स्थान दिया जाता है। मृत, नपुसक, रोगी आदि की पत्नी से जो गुरु द्वारा यथाविधि किये गए नियोग से उत्पन्न होता है वह 'क्षेत्रज' कहलाता है। आपत्काल मे माता-पिता प्रीतिपूर्वक अपने जाति वाले को जल द्वारा अपने जिस पुत्र को दे दें वह 'दत्तक' पुत्र कहलाता है। गुण-दोष को समझने वाले व पुत्र-गुणो से युक्त अपने जाति वाले को पुत्र बनाने पर वह 'कृत्रिम' कहलाता है। जो घर मे पैदा हो किन्तु किसका है यह ज्ञान न हो, वह उसी का होता है जिसकी पत्नी से उत्पन्न हुआ हो, व उसे 'गूढोत्पन्न' कहते है। माता पिता या उनमे से किसी एक के द्वारा परित्यक्त पुत्र को यदि स्वीकार किया जाय तो वह 'अपविद्ध' कहलायगा। पिता के घर कन्या छिपकर जिस पुत्र को उत्पन्न करे, उसे अपने से विवाह करने का 'कानीन' पुत्र बतावे। जान या अनजान मे जिस गर्भिणी का विवाह-संस्कार हो जाता है, उसका गर्भ उससे विवाह करने वाले का हो जाता है, व उत्पन्न पुत्र 'सहोढ़' कहलाता है। माता-पिता के पास से जिसे

पुत्र बनाने की इच्छा से खरीदा जाता है, वह 'क्रीतक' पुत्र कहलाता है। चाहे वह खरीदने वाले की जाति का हो या न हो। जो पति से से त्यागी गई है या विधवा है, वह अपनी इच्छा से किसी दूसरे से विवाह करके जिस पुत्र को उत्पन्न करती है, वह 'पौनर्भव' कहलाता है। माता-पिता-विहीन या बिना कारण माता पिता का त्यागा हुआ वह अपने को जिसे दे दे उसी का 'स्वयंदत्त' पुत्र हो जाता है। ब्राह्मण इच्छापूर्वक शूद्रा मे जिस पुत्र को उत्पन्न करे वह 'पारशव' कहलाता है कि वह जीवित रहते हुए भी शव के ही समान है।" इन पुत्रो को स्थान देकर समाज ने अपनी उदारता का ही परिचय दिया है। प्राचीन काल मे नैतिकता का भाव इतना कुण्ठित नहीं था, जितना कि आजकल है। वहाँ तो सबके हित पर दृष्टि रखी जाती थी। प्रत्येक जीव परमात्मा का ही अंश माना जाता था। इसीलिए प्रत्येक बालक, चाहे उसके पैदा करने वालों ने सामाजिक नियमो का उल्लङ्घन करके ही उसे क्यो न पैदा किया हो, समाज में स्थान पाने व पूर्णतया रक्षित किये जाने का अधिकारी माना जाता था। समाज माता-पिता के अपराध के लिए उस बालक को शासित करना पूर्ण अन्याय समझता था जैसा कि आजकल किया जाता है। आजकल कितने ही कानीन व पौनर्भव पुत्र निर्दयतापूर्वक मार डाले जाते हैं। आधुनिक समाज इन्द्रिय-निग्रह का पाठ सिखाने के बदले गरीब शिशुओ की हत्या मे ही धर्म की रक्षा समझता है। धर्म के ठेकेदारों को चाहिए कि कर्ण व ईसा के के समान कानीन पुत्रो व कबीर के समान पौनर्भव पुत्रो के जीवन पर विचार करें और सोचें कि उनके समाज मे धर्म के नाम पर कदाचित् कर्ण, कबीर आदि का गला घोंट दिया गया होगा। इन सब बातो से पता लगता है कि सामाजिक व्यवस्था जहाँ उच्चतम नैतिक आदर्शों पर अवलम्बित थी, वहाँ उसमे मनुष्य की गलतियो के लिए भी स्थान था। भ्रमवशात् यदि किसी से कोई गलती हुई तो समाज उसे हेय नहीं समझता था, किन्तु एक उत्तम डॉक्टर के समान उसकी

गलतियो का विचार करके उसे आत्म सुधार के मार्ग मे प्रवृत्त करता था। यही सामाजिक उदारता है, जोकि भारतीय सामाजिक व्यवस्था मे ओत-प्रोत थी। यही कारण है कि कानीन, सहोढ तथा गूढज आदि पुत्रो को भी समाज मे स्थान दिया गया।

नियोग—पति के मरने, विदेश चले जाने, नपुसक हो जाने या रोगग्रस्त हो जाने पर निस्सन्तान स्त्री को अधिकार था कि वह किसी धर्मनिष्ठ, विद्वान् व योग्य व्यक्ति से सन्तान प्राप्त करे। इस प्रकार के उत्पादित पुत्र 'क्षेत्रज' कहलाते थे। प्राचीन सामाजिक व्यवस्था अनुसार पुत्र-प्राप्ति अत्यन्त ही आवश्यक मानी जाती थी। निस्सन्तान के लिए कोई स्थान नहीं था। ऐतरेय ब्राह्मण (७।१३-१८) आदि मे इसका विशद विवेचन किया है। प्राचीन इतिहास मे कितने ही क्षेत्रज पुत्रो का उल्लेख है। युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल तथा सहदेव आदि पाण्डव भी क्षेत्रज थे। इस प्रथा पर यदि विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि पारिवारिक जीवन की शृङ्खला को बनाये रखने तथा निसर्ग-सिद्ध जनन-शक्ति के विकास के लिए यह प्रथा आवश्यक है।

समाज मे अन्यो को स्थान—प्राचीन सामाजिक व्यवस्था मे जन्म के सिद्धान्त को कोई महत्त्व नहीं दिया गया था। वह सामाजिक व सास्कृतिक व्यवस्था मनुष्य-मात्र के लिए थी। कोई भी व्यक्ति उसमें सम्मिलित हो सकता था। आजकल के समान, गोरा हब्शी, चीनी आदि जातीय द्वेषो को बढाने वाले भावों ने समाज में प्रवेश नहीं किया था। विदेशियो व असभ्य जातियो को भी सुसस्कृत बनाकर समाज मे सम्मिलित कर लिया जाता था तथा उन्हे सम्पूर्ण सामाजिक अधिकार भी दिये जाते थे। ऋग्वेद से पता चलता है कि धीरे-धीरे दस्यु, दास आदि आर्यत्व के रग मे रँग दिये गए थे (ऋग्वेद १।१०२।५, ३।३२।१४, ६।२३।२ ६।२२।१०, ७।८३।१)। पुराणो मे शकादि विदेशियो को भारतीय सस्कृति मे रग दिये जाने का उल्लेख कितने ही स्थानो पर है। इसी उदारता के परिणामस्वरूप यूनानी हिलियोडोरो

(ई० पू० प्रथम शताब्दी) 'परम भागवत' की पदवी धारण करके पक्का वैष्णव बन गया। बेसनगर (मध्य भारत मे भिलसा के पास) मे उसका विष्णुध्वजस्तम्भ व उस पर खुदा प्राकृत लेख आज भी इस बात की साक्षी दे रहा है। शक, हूण, आभीर, पोर्चगीज़ आदि कितनी ही विदेशी जातियाँ भारतीय सामाजिक संगठन द्वारा पचा ली गई जिनके वंशज आज अपने को भारतीय संस्कृति के परम भक्त मानते हैं।

समाज मे प्रगतिशीलता—प्राचीन भारतीय समाज एक जीवित एवं प्रगतिशील संस्था के रूप मे उपस्थित होता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से तो समाज के संचालन के लिए वेद ही सब कुछ थे, किन्तु सामाजिक विकास के लिए भी पूरी स्वतन्त्रता थी। जिन नियमो द्वारा समाज सञ्चालित किया जाता था, उन्हे धर्म कहते थे। साधारणतया, वेद को धर्म मान लिया गया था। किन्तु, देश-काल के अनुसार परिवर्तनशीलता व विभिन्नता को भी पूरा-पूरा स्थान दिया गया था। विभिन्न धर्म-सूत्रों व स्मृतियो का अस्तित्व इस बात की पुष्टि करता है। प्राचीन आचार्यों ने भी धर्म-प्रामाण्य के बारे मे लिखते समय इसी भावना को स्थान दिया है। मनु (मनु० २।१२,१३) इस सम्बन्ध मे इस प्रकार लिखते हैं—"सम्पूर्ण वेद धर्म का मूल है, वेदज्ञों की स्मृति व उनका शील भी। इसी प्रकार साधुओ का आचार व आत्मा की तुष्टि भी धर्म का मूल है। वेद, स्मृति सदाचार व जो-कुछ आत्मा को प्रिय लगे वह भी प्रमाणरूप माने जाते थे।" इस प्रकार धर्म-प्रामाण्य मे वेदों का स्थान सबसे ऊँचा था। तत्पश्चात् स्मृति का स्थान था। वे ही स्मृतियाँ प्रमाण मानी जाती थी, जो वेदों के विरुद्ध न थी। किन्तु सदाचार याने विद्वान् सज्जनो का आचरण व अपनी आत्मा को जो प्रिय लगे वह भी प्रमाण-रूप माने जाते थे। इससे मालूम होता है कि प्राचीन काल मे भारतीय समाज में विचार-स्वातन्त्र्य को पूरा-पूरा स्थान दिया गया था और नये-नये परिवर्तनो को भी अपना लिया जाता था। कभी-कभी इन सबके लिए श्रुति-प्रमाण भी मिल जाता था। फिर समाज मे यह

भाव भी प्रचलित था कि वेदो की कितनी ही शाखाएँ लुप्त हो गई है। इसलिए यदि किसी के लिए कोई श्रुति प्रमाण न मिलता, तो उसे किसी लुप्त श्रुति से सम्बन्धित कर दिया जाता था। इस प्रकार समाज मे नई नई बातो का भी प्रवेश करा दिया जाता था। इसके अतिरिक्त यदि कोई प्रथा अप्रिय हो जाती तो उसे 'कलिवर्ज' कहकर रोक दिया जाता था। नियोग, अनुलोम, प्रतिलोम आदि विवाहो का यही हाल हुआ? धर्मसूत्र-स्मृत्यादि का बाहुल्य तथा मध्यकालीन टीकाकारो व निबन्धकारो की बडी सख्या इस बात की साक्षी देती है कि प्राचीन भारतीय समाज जीवित-जागृत सस्था था, जहा विचार-स्वातन्त्र्य को पूरा स्थान था।

(२)

समाज मे स्त्रियो का स्थान

स्त्री व सामाजिक जीवन—जिस प्रकार प्रकृति के बिना पुरुष का कार्य अपूर्ण ही रहता है उसी प्रकार स्त्री के बिना मनुष्य का जीवन भी अपूर्ण ही है। प्राचीन भारत ने जैसा समाज मे स्त्री के स्थान को समझा था, वैसा और किसी के स्थान को समाज ने कभी नहीं समझा। किसी ने उसे अपनी मिलकियत समझकर घर के अन्दर बन्द रखना ही ठीक समझा, किसी ने खिलौना समझकर उससे जीवन-भर खिलवाड़ की, और किसी ने उसे ऐश-आराम की चीज समझकर खूब चैन की बन्सी बजाई। किन्तु प्राचीन भारत ने उसके सच्चे दर्शन किये एव उसे समाज मे समुचित स्थान दिया।

जीवन-गाडी के दो पहिये—स्त्री व पुरुष जीवन-गाडी के दो पहियें माने गए थे। दोनो पहिये बराबर रहने चाहिएँ व साथ-साथ चलने चाहिएँ, तब, तो जीवन गाडी अच्छी तरह चल सकती है। इसीलिए स्त्री को पुरुष की अर्धाङ्गिनी कहा। शतपथ ब्राह्मण (५।२।१।१०)

लिखा है कि "पत्नी पुरुष की आत्मा का आधा भाग है। इसलिए जब तक मनुष्य पत्नी को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक प्रजोत्पादन न होने से वह अपूर्ण रहता है।" महाभारत (आदि पर्व ७४।४०) मे लिखा है कि "भार्या मनुष्य का आधा भाग है व श्रेष्ठतम मित्र है। वही त्रिवर्ग की जड है, वही तारन हारी है।" इसी प्रकार मन्वादि स्मृतियो में भी लिखा है। पुरुष को कही इस बात का घमण्ड न हो जाय कि वह अधिक शारीरिक शक्ति रखता है, इसलिए स्त्री पर उसका अधिकार रहना चाहिए। जबकि स्त्री उसीका आधा अङ्ग है, तब अधिकर्ता व अधिकृत का भाव रह ही नही सकता। वे तो दोनो ही बराबर हैसियत रखते है। स्त्री व पुरुष एक ही पारिवारिक जीवन के दो विभिन्न पहलू है। पारिवारिक जीवन मे दो प्रकार की जिम्मेवारियाँ रहती हैं—आन्तरिक जीवन सम्बन्धी और बाह्य जीवन-सम्बन्धी, जिनसे क्रमश स्त्री व पुरुष सम्बन्धित रहते है। पारिवारिक सुख तथा शान्ति के लिए जीवन के दोनों पहलुओ का सुचारु सञ्चालन अत्यन्त ही आवश्यक है। यदि दो मे से किसी एक में कमी रही तो जीवन दु खमय हो जाता है।

गृहिणी—परिवार के सदस्य घर मे रहकर जो-कुछ करते है या उनके लिए जो-कुछ किया जाता है, वह सब परिवार के आन्तरिक जीवन मे समाविष्ट हो जाता है। स्त्री-पुरुष के एक-साथ रहने से ही पारिवारिक जीवन का प्रारम्भ होता है। ज्यो-ज्यो सन्तान-वृद्धि होती है या अन्य प्रकार से परिवार के सदस्यो की संख्या बढने लगती है, त्यों-त्यों उसका आन्तरिक जीवन भी विकसित होने लगता है। इस जीवन का सम्बन्ध पूर्णतया स्त्री से ही रहता है। उसे ही परिवार के छोटे-बडे सब सदस्यो की चिन्ता करनी पडती है। उसे अपने घर को साफ-सुथरा रखना, भोजन की व्यवस्था करना और अतिथि-सत्कार के उत्तरदायित्व को पूरा करना पड़ता था। उसे अपनी सन्तान का पालन-पोषण करके उन्हे योग्य नागरिक और समाज-सेवक बनाने का प्रयत्न भी करना पडता था। परिवार के छोटे-बडे सब सदस्यों की चिन्ता उसे ही

करनी पडती थी। इन सब घरेलू बातों की जिम्मेवारी स्त्री पर ही रहती थी। इसीलिए उसे गृहिणी-पद पर सुशोभित किया गया था। महाभारत (शान्ति० १४४।६६) मे लिखा है कि "घर घर नहीं है, गृहिणी घर कही जाती है।" मनुस्मृति (३।५६-६२) शाकुन्तल (४।१८) आदि मे स्त्री के गृहिणी-पद का सुन्दर विवेचन किया है। आजकल भी बोल-चाल की भाषा मे वह 'घर वाली' कहलाती है। प्राचीन सामाजिक जीवन मे गृहिणी-पद अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण था, क्योंकि उस समय का पारिवारिक जीवन स्वावलम्बन के सिद्धान्त पर स्थित था। इसलिए साधारणतया स्त्री को कपड़ा बुनना, गाय दुहना और कृषि-सम्बन्धी बहुत-से कामो की जिम्मेवारियाँ उठानी पडती थीं। बाह्य जीवन का भार स्त्री नही उठा सकती थी, क्योंकि निसर्ग ने उसे घर के ही लिए बनाया है। बालक को नौ मास गर्भ में धारण करके उसे जन्म देना और तत्पश्चात् कितने ही दिनो तक अपना अधिकाश समय उसी की सेवा मे व्यतीत करना आदि बातें बताती हैं कि द्रव्योपार्जन आदि उदर-निर्वाह के साधन जुटाना उसकी मर्यादा के बाहर के काम हैं। ये काम तो पुरुष के लिए बनाये गए हैं, क्योंकि स्वभावत ही वह उस योग्य है। यदि स्त्री घर की सब जिम्मेवारियाँ अपने सिर पर न उठाए तो पुरुष को कितनी कठिनाइयों का सामना करना पडेगा। यदि स्त्री भी उसके समान उदर निर्वाह के साधन ढूँढने बाहर जाय तो घर का आन्तरिक जीवन कदाचित् शून्य के बराबर ही रहेगा, जैसा कि आजकल पाश्चात्य रंग-मे-रँगे हुए परिवारों मे दिखाई देता है।

माता—गृहिणी-पद के अतिरिक्त निसर्ग ने स्त्री को मातृ पद के योग्य भी बनाया है। 'माता' शब्द पारिवारिक जीवन के लिए अमृत का भाण्डार है। वह क्या है, मानो परिवार के लिए त्याग, तप और प्रेम की त्रिवेणी ही है। जिसे इस त्रिवेणी के पवित्र प्रेम-जल मे स्नान करने का सौभाग्य न मिला हो, उससे अधिक अभागा और दूसरा न होगा। माता और पुत्र का जो परस्पर प्रेम रहता है, उसी से पारिवारिक जीवन

अधिक सुखी बनता है। माता समाज-सेवा के ऊँचे-से-ऊँचे आदर्शों की साक्षात् मूर्ति ही है। वह अपने लिए जीवित नही रहती बल्कि अपने परिवार के लिए, अपने पुत्रो के परिवार के लिए। पारिवारिक सुख को बढ़ाने मे वह कोई बात उठा नही रखती। अपने बच्चो के पालन-पोसने मे वह सब कष्टो को हँस हँसकर झेलती है, क्योकि उन्हे सुयोग्य बनाने की जिम्मेवारी उसी पर रहती है। इस प्रकार मातृत्व का पद उसे पारिवारिक जीवन का केन्द्र बना देता है। प्राचीन भारत मे स्त्री के पद को भी अच्छी तरह से समझा गया था, और इसका महत्त्व और विवेचन सूत्र-स्मृत्यादि साहित्य मे किया गया है।

सहचरी—स्त्री को उपरोक्त दो पदो के अतिरिक्त एक और पद प्राप्त था और वह था पुरुष की सहचरी का। गृहिणी एव माता की जिम्मेवारियो से उसका जीवन नीरस न हो जाय तथा परिवार के बाह्य जीवन के झंझटों मे रात दिन पडे रहने से उसके पति का जीवन भी नीरस न हो जाय, इसलिए वह पति की सहचरी बनकर जीवन-सौख्य का आनन्द लेती थी। प्रकृति ने उसे जो सौन्दर्य एव माधुर्य दिया है, उसे अपने प्रयत्नो से ललित कला आदि के रूप मे परिणत करके वह जीवन के दु खो को भुलाने मे समर्थ होती थी। उसका सौन्दर्य और माधुर्यपूर्ण प्रेम, जो उसके अङ्ग-अङ्ग से टपकता था, पति की दिन-भर की चिन्ताओं और झंझटो को भस्मसात् करने मे समर्थ होता था। पुरुष ऐसी सहचरी पाकर अपना दु ख आधा और सुख दुगुना कर लेता था। यह साहचर्य किसी एक दिशा मे ही परिसीमित नहीं था, उसका सम्बन्ध जीवन के प्रत्येक पहलू से था। आपस्तम्ब धर्म सूत्र (२।६।१३। १६-१७), महाभारत (आदि० ७४।४०) आदि प्राचीन ग्रन्थो मे स्त्री के सहचरी-पद का अच्छा विवेचन किया गया है। विवाह-संस्कार के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में स्त्री की तीनों हैसियतो पर विशेष रूप में ध्यान रखा गया था। विवाह-संस्कार की सप्तपदी, अश्मारोहण, ध्रुव दर्शन आदि रस्में ध्यान देने योग्य हैं।

सप्तपदी मे वरवधू धीरे-धीरे सात कदम एक-साथ चलते है और निश्चय करते हैं कि उनका साथ आजन्म निभेगा, तथा एक-दूसरे को सुखी बनाने मे कुछ बाकी न रखा जायगा। इसी रस्म से स्थायी मैत्री के अर्थ मे 'साप्तपदीन सख्यम्' शब्द का प्रयोग सस्कृत मे प्रारम्भ हुआ। इस रस्म के पूरा होने पर ही कानून की दृष्टि से विवाह पूरा समझा जाता है। अश्मारोहण मे वधू के पैर को वर पत्थर पर रखता है और उसके पैर के अँगूठे को अपने हाथ से पकडकर कहता है कि "पत्थर के समान स्थिर बनो। जिस प्रकार पत्थर मे दृढता, स्थैर्य और अपने स्थान पर डटकर रहने की क्षमता रहती है, उसी प्रकार वधू को अपने गृहस्थाश्रम मे स्थिर बनने के लिए कहा जाता था। ध्रुव-दर्शन का तात्पर्य था कि वधू स्वाभाविक चञ्चलता के वशीभूत होकर दृढता को न छोडे। इसके पश्चात् वर-वधू को सन्तानोत्पत्ति तथा वर्ग-चतुष्टय की प्राप्ति आदि से सम्बन्धित कितने ही प्रण करने पडते थे (ऋ० १०।८५।३६, अथर्व० १४।१।५०, आश्व० गृ० १।७।३)। विभिन्न रस्मो के समय जो वेद-मन्त्र (ऋ० १०।८५।३६, ऋ० १०।८५।३६-४२, अथर्व० १४।१।४७-४८,५०, यजु १।७१, तैत्ति० ब्रा० २।२।५।५ ६) पढ़े जाते थे, उनमे स्त्री के गृहिणी, माता और सहचरी के पदो का स्पष्ट विवेचन है। ये भाव पहले ही से वधू के मन पर अङ्कित कर दिए जाते थे, जिससे नये जीवन मे प्रवेश करने के पहले वह अपने ऊपर आने वाली जिम्मेवारियो को भी भली भाँति समझ ले। विवाह स्त्री-पुरुष को आजीवन-बन्धन मे बाँध देता था। वह एक धार्मिक कृत्य तथा जीवन की जिम्मेवारियो को सबके सामने सहर्ष स्वीकार करने का सुवर्ण अवसर था।

स्त्री-जीवन का उद्देश्य और उत्तरदायित्व—प्राचीन भारत की स्त्री विवाह के समय ही समझ जाती थी कि उसे विवाहित-जीवन मे केवल इन्द्रिय लालुपता को तृप्ति ही नही करनी है, अपितु गृहिणी, माता तथा सहचरी के उत्तरदायित्व को भी उठाना है। वह आदर्श गृहिणी, आदर्श माता और आदर्श सहचरी बनने मे अपना गौरव समझती थी। गृहिणी

के उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिए वह अधिकाश समय घर की देख भाल में बिताती थी और उसे स्वर्ग-तुल्य बनाती थी। वह माता और सहचरी के उत्तरदायित्व को भी पूरी तरह से निबाहती थी। इसीलिए मनु (३।५५-६२) ने स्त्रियों के लिए कहा है—"बहुत कल्याण चाहने वाले पिता, भ्राता, पति तथा देवर आदि इन स्त्रियो का आदर करें। जहाँ नारिया पूजी जाती है, वहा देवता रमण करते है। जहाँ इन्हे पूजा नही जाता वहाँ सब कार्य निष्फल होते है। जहाँ स्त्रियाँ दुखी रहती है वह कुल शीघ्र ही नाश को प्राप्त होता है। जहाँ ये दुखी नही रहती वह कुल वृद्धि को प्राप्त होता है। जिन घरो मे अपमानित होकर स्त्रियाँ श्राप देती हैं, वे पूर्णतया नाश को प्राप्त होते है, मानो किसी कृत्या ने उनका विध्वस किया हो। इसलिए आभूषण, वस्त्र तथा भोजन आदि द्वारा उत्सव आदि पर उन लोगो द्वारा जो, कल्याण की इच्छा रखते है, इनकी सदा पूजा की जानी चाहिए। जिस कुल मे पत्नी से पति और पति से पत्नी सदा सन्तुष्ट हो वहाँ निश्चित रूप से कल्याण रहता है। यदि स्त्री-पुरुष को न रुचे और वह उसे प्रसन्न न करे तो इस अप्रसन्नता से कुल वृद्धि नही हो सकती। स्त्री के रुचने पर सम्पूर्ण कुल अच्छा लगता है, उसके न रुचने पर कुछ भी अच्छा नहीं लगता।" इस प्रकार मनु ने स्पष्ट भाषा में स्त्री के स्थान, उत्तरदायित्व और उसके साथ किये जाने वाले व्यवहार आदि का अच्छा विवेचन किया है।

स्त्री का महत्त्व—विवाह के पश्चात् से स्त्री-पुरुष को प्रत्येक पारिवारिक कार्य मे एक-साथ रहना पडता था। स्त्री की अनुपस्थिति में कोई भी धार्मिक कार्य नहीं हो सकता था। पारिवारिक जीवन मे स्त्री का बडा महत्त्वपूर्ण स्थान था। कालिदास ने स्त्री के महत्त्वपूर्ण स्थान का वर्णन 'अज-विलाप' के अवसर पर अज के मुख से इस प्रकार करवाया है (रघु० ८।६७)—"गृहिणी, सचिव, सखी और ललित-

कला सीखने मे तू मेरी प्रिय शिष्या थी। निर्दय भाग्य ने तुझे मुझसे छीनकर मेरा क्या न छीना?"

स्त्री का कार्य-क्षेत्र परिवार तक ही सीमित नही था, समाज से भी उसका पूरा सम्बन्ध था। पुरुष के समान उसका भी वैयक्तिक व सामाजिक जीवन रहता था। उसे वेद पढने व उपनयन आदि संस्कारों द्वारा सुसंस्कृत बनने का अधिकार था। पुरुष के साथ उसे भी तीन ऋण चुकाने पडते थे तथा शारीरिक, मानसिक व आत्मिक शक्तियों का सम्यक् विकास करना पडता था। वह पति के साथ वानप्रस्थ आश्रम में प्रविष्ट होकर आत्म-विकास के मार्ग मे अग्रसर होती थी। स्त्री अपना हर प्रकार से विकास कर सकती थी। स्त्री शिक्षा का भी यथोचित प्रबन्ध किया जाता था। स्त्रियो के लिए भी गुरुकुल रहते थे। पाणिनि ने उपाध्याय शब्द के दो स्त्रीलिङ्ग रूप बताये हैं—एक 'उपाध्याया' अर्थात् उपाध्याय की पत्नी, दूसरा "उपाध्यायानी" अर्थात् उपाध्याय के समान अध्यापन-कार्य करने वाली (अष्टाध्यायी ४।१।२२ पातञ्जल भाष्य)। मनु (२।१४१) कहते हैं "जो वेद के एक भाग अथवा वेदाङ्गो को जीविका के लिए पढाता है वह उपाध्याय कहलाता है।" इससे स्पष्ट है कि कुछ स्त्रियो जीविका के लिए अध्यापन-कार्य भी करती थीं। अथर्ववेद (३।५।१८) मे लिखा है कि "ब्रह्मचर्य व्रत समाप्त करने पर कन्या युवा पति को प्राप्त होती है।" इस प्रकार वेदाभ्यास लडकियो के लिए भी अनिवार्य सा था।

पातिव्रत्य तो भारतीय स्त्रियों का जीवन सर्वस्व था। प्राचीन भारतीय गार्हस्थ्य सौख्य का रहस्य पातिव्रत्य व दाम्पत्य-प्रेम मे छिपा है। पति के चुनने मे उसे स्वतंत्रता रहती थी। कही कहीं स्वयंवर-प्रथा भी थी। एक बार पति चुन लिया कि फिर आजन्म साथ निबाहना पडता था। सती-प्रथा भी प्राचीन काल मे प्रचलित थी। स्त्री-जीवन को मिट्टी में मिलाने वाली कुप्रथाएँ प्राचीन भारत मे नही थीं। बाल-विवाह वृद्ध-विवाह आदि अज्ञात थे। विधवाओ का भी कोई विशेष प्रश्न नहीं

था। एक तो वृद्ध-विवाह की प्रथा नही थी, दूसरे साधारणतया सती की प्रथा थी। इससे विधवाओं की सख्या बढ नही पाती थी। फिर भी नियोग द्वारा वे सन्तान प्राप्त कर सकती थी। इस प्रथा के बन्द होने पर विधवा-विवाह की प्रथा चल पडी। मनु तथा पराशर आदि स्मृतिकारों ने 'पौनर्भव' पुत्र को मान्यता देकर विधवा-विवाह की स्वीकृति दी है।

प्राचीन स्त्रियाँ—प्राचीन भारत की स्त्रियाँ माता, गृहिणी आदि के उत्तरदायित्व का अच्छी तरह से निर्वाह करती थी। बालक के गर्भ मे आते ही मातृत्व की जिम्मेवारियाँ प्रारम्भ हो जाती थी। माता बालक को अपने दूध के साथ उत्तम उत्तम आदर्शों का पान भी करा देती थी। ध्रुव, प्रह्लाद, राम, कृष्ण आदि विभूतियो का बहुत-कुछ गौरव बालपन की शिक्षा ही के कारण था। तारा, कौशल्या, मन्दोदरी, सीता, द्रौपदी आदि के गार्हस्थ्य-जीवन की सफलता का कारण गृहिणी-पद का सम्यक् निर्वाह ही था। संयुक्त परिवार प्रथा मे तो गृहिणी के उत्तरदायित्व बढ़ जाते हैं। विद्याध्ययन आदि के क्षेत्र मे भी प्राचीन स्त्रियो ने आश्चर्यजनक उन्नति की थी। मन्त्रद्रष्टी, दार्शनिका, कवयित्री, गणितज्ञा आदि के रूप मे प्राचीन स्त्रियाँ भारत के सास्कृतिक इतिहास मे अमर हो गई है। विश्ववारा आत्रेयी (ऋ० ५।२८), अपाला आत्रेयी (ऋ० ८।८०।९१), घोषा काक्षीवती (ऋ० १०।३९-४०), सिकता निवावरी, यमी वैवस्वती आदि मन्त्रद्रष्ट्रियों के वेद-मंत्र आज भी ऋग्वेद मे वर्तमान है। दर्शन-शास्त्र के इतिहास मे गार्गी व मैत्रेयी के नाम अमर हैं। शरीरिक शक्ति व वीरता के क्षेत्र मे कैकेयी आदि ने अपना गौरव प्रदर्शित किया है और सीता राम के साथ जंगल-जगल भटकी। पति-प्रेम व पति-निष्ठा मे भी प्राचीन स्त्रियो ने कुछ कम प्रशंसा प्राप्त नही की है। इसका उत्कृष्ट उदाहरण सावित्री के जीवन मे मिलता है। सावित्री, सीता, मन्दोदरी, द्रौपदी आदि आदर्श सतियाँ मानी जाती है।

आधुनिक ललना—भारतीय स्त्रियो का प्राचीन वैशिष्ट्य आज भी कुछ अंशो मे वर्तमान है। आधुनिक भारतीय ललना पति की सहचरी

का आदर्श दुनिया के सामने रख सकती है। इस गिरी हुई हालत मे भी उसमे जो तप, त्याग, पति निष्ठा आदि के भाव कूट-कूटकर भरे है, वे अन्यत्र कही नही पाये जाते। स्त्रियो ने प्राचीन आदर्शों को बहुत-कुछ सँभाल रखा है, किन्तु पुरुष उनसे च्युत हो गए है। स्त्री को कितने ही दु ख सहने पडते हैं। पति मूर्खता के कारण उसे ठुकराता है तथा पर-स्त्री-गमन आदि दोषो से असह्य कष्ट भी देता है। वह सब यातनाएँ मूक भाव से सह लेती है।

उपसहार—साराश मे यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत की सामाजिक व्यवस्था मे स्त्रियों को समुचित स्थान दिया गया था। पारिवारिक व सामाजिक जीवन में उनकी उपयोगिता का विचार करके उन्हे आदर्श गृहिणी, आदर्श माता व आदर्श सहचरी बनाने की व्यवस्था की गई थी। प्राचीन भारत के लोग स्त्रियो का आदर करना भी जानते थे। स्त्री-शिक्षा की उत्तम व्यवस्था की गई थी। आजकल भारतीय स्त्रियो की जो शोचनीय व दयनीय स्थिति है, वह प्राचीन भारतीय सस्कृति के आदर्शों के बिलकुल विपरीत है।

(३)
अस्पृश्यता

अस्पृश्यता का कलङ्क—जिस देश मे मानव-जीवन को उन्नत बनाने के लिए ऊँचे-से-ऊँचे सिद्धान्त विकसित हुए हो, ऊँची-से-ऊँची सामाजिक व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ हो, वहीं मानव-समाज के एक अङ्ग को अस्पृश्य कहकर ठुकराया जाय, यह तो अत्यन्त ही दु ख व आश्चर्य की बात है। मनुष्य-मात्र के लिए कल्याणकारी भारतीय सस्कृति पर अस्पृश्यता बडा भारी लाञ्छन है। वेद और स्मृति को मानने वाले उच्चवर्णीय समाज के एक अङ्ग को तोडकर फेकने मे जरा भी नहीं हिचकिचाते, किन्तु उसे धार्मिक कृत्य मानते है। इस मनो-

वृत्ति के कारण समाज व राष्ट्र का कितना अहित हो रहा है यह किसी से छिपा नही है।

प्राचीन भारत मे अस्पृश्यता का अभाव—यह निष्पक्ष भाव से कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय संस्कृति मे अस्पृश्यता को कोई स्थान न था। वेद तथा तदनुकूल स्मृत्यादि मे कही भी उसका उल्लेख नही है। जहाँ 'उदारचरिताना तु वसुधैव कुटुम्बकम्' का सिद्धान्त चरितार्थ किया जाता हो, वहाँ समाज के एक बडे अङ्ग को तोडकर फेंक देने का आदेश हो, यह कैसे सम्भव हो सकता है ? प्राचीन काल मे वर्ण-व्यवस्था कर्ममूलक मानी जाती थी। समाज को एक जीवित पुरुष मानकर चार वर्ण उसके चार अङ्ग माने जाते थे। 'पुरुष-सूक्त' (ऋ० १०।९०।११) मे शूद्रो को परमात्मा के पैरों से उत्पन्न हुए बताया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि समाज को शूद्र की नितान्त आवश्यकता थी। उसका बहिष्कार करना अपने पैरो पर कुल्हाडी मारना है। अथर्व वेद (१९।६२।१) मे लिखा है कि "मुझे देवताओ मे प्रिय बनाओ। मैं सबका प्रिय बनूँ, चाहे आर्य हों, चाहे शूद्र हो।" इसमें भी शूद्रो के प्रति अच्छे व्यवहार का स्पष्ट उल्लेख है। शूद्र के प्रति घृणा के भाव का कहीं भी उल्लेख नही है। यजुर्वेद (२६।२) मे लिखा है कि "मैंने यह कल्याणकारी वाणी मनुष्यो के लिए—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अरण आदि के लिए कही है। देवताओ को दक्षिणा देने वाले का मैं प्रिय बनूँ, मेरे काम की समृद्धि हो व उपमाद कम हो।" यहाँ शूद्रो को भी वेद पढ़ने का अधिकार दिया गया है। यजुर्वेद (३०।७) में विभिन्न व्यवसाय करने वाले लोगों का उल्लेख है जैसे कुम्हार, लुहार, जडिया, बाग बनाने वाला, धनुष बनाने वाला, धनुष की रस्सी बनाने वाला, शिकारी आदि। इसी प्रकार चाण्डाल का भी उल्लेख आता है। (यजु० ३०।२१) इन उल्लेखो का आलोचनात्मक अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि इन व्यवसाय करने वालो को हेय, घृणास्पद या अस्पृश्य नहीं समझा जाता था। यजुर्वेद में तो उनके नामो के साथ

उनके विभिन्न कार्यों का उल्लेख भी है। आजकल उनमे से कुछ (कुम्हार, चाण्डाल, शिकारी आदि) अवश्य अस्पृश्य माने जाते है।

इन उद्धरणो के अतिरिक्त वेदो मे कितने ही स्थलों पर इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि शूद्र अस्पृश्य नही समझा जाता था और न घृणा का पात्र ही, अपितु उसे भी समाज मे स्थान प्राप्त था। विभिन्न वर्णों के लोग स्वतन्त्रतापूर्वक आपस मे रोटी-बेटी व्यवहार करते थे। ब्राह्मण-ग्रन्थो से भी मालूम होता है कि शूद्रो को सताया नहीं जाता था, उन्हे समाज का आवश्यक अङ्ग समझा जाता था। शतपथ ब्राह्मण (५।४।६।६) मे लिखा है कि ब्राह्मण 'ओ३म्' से, क्षत्रिय 'भू' से, वैश्य 'भुव' से व शूद्र 'स्व' से उत्पन्न हुए है। राज्याभिषेक के समय नौ रत्नियों मे शूद्रों का भी स्थान था (तैत्तिरीय स० १।८।६।१-२, तैत्तिरीय ब्रा० १।७।३, शतपथ ब्रा० ५।३।१)। मनु (१।३१), ने 'पुरुष सूक्त' के समान वर्णों की उत्पत्ति बताते हुए शूद्र को परमात्मा के पैरो से उत्पन्न बताया है। प्राचीन साहित्य मे प्रतिलोम तथा अनुलोम विवाहो के उल्लेख से मालूम होता है कि प्राचीन काल मे शूद्र उच्च वर्णों से विवाह भी कर सकता था। इसी प्रकार खान-पान के सम्बन्ध मे भी कोई रुकावट नही थी। शूद्र भोजनादि भी बना सकता था।

शूद्रो के अधिकार—वैदिक सहिताओ से पता चलता है कि 'रथकार' को बहुत-से अधिकार प्राप्त थे। तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।१।४।८) मे शूद्र के 'अग्न्याधान' के लिए भिन्न समय निर्दिष्ट है। उसका यज्ञो-पवीत सस्कार भी हो सकता था। सूत्र-काल मे भी उसे बहुत-से अधि-कार प्राप्त थे। गौतम धर्मसूत्र (२।१, ५।४) में लिखा है कि "शूद्र के लिए भी सत्य, अक्रोध, शौच और श्राद्ध कर्म है।" कुछ आचार्यों के मतानुसार वे पाक यज्ञ भी कर सकते है। महाभारत (शान्ति ५०।४०) मे लिखा है कि "इसलिए शूद्र स्वय जनेऊ धारण करके पाक-यज्ञ कर सकता है।" इस प्रकार शूद्रो को कितने ही धार्मिक अधिकार प्राप्त थे। धीरे-धीरे शूद्रो मे भी 'सत् शूद्र,' तथा 'असत् शूद्र' दो भेद हो गए।

कुछ स्मृतिकारों के मत मे केवल 'सत्-शूद्र' ही यज्ञ कर सकते थे। इसी प्रकार 'श्राद्धी शूद्र' और 'अश्राद्धी' का भी भेद हो गया। वीर-मित्रोदय, जातूकर्णी आदि मध्यकालीन लेखको के मतानुसार शूद्र सस्कार भी कर सकते थे। साधारणतया शूद्र के लिए दास्य-कर्म विहित था, किन्तु व्यवहार में वह कोई भी कर्म कर सकता था। गौतम (१०।१६) तथा विष्णु स्मृति (२।१४) मे शूद्र व्यापारियो का उल्लेख आता है। मनुस्मृति (१।६१, १०।२०) मे शूद्र के लिए 'दास-कर्म' व 'शिल्प-वृत्ति' विहित है।

अस्पृश्यता के भाव का उदय—उपरोक्त प्रमाणो पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल मे वर्ण-व्यवस्था कार्य-विभाग के सिद्धान्त पर अवलम्बित थी और समाज के किसी भी अङ्ग को अस्पृश्य नहीं माना जाता था। इतिहास से पता चलता है कि मुस्लिम-आक्रमणो के पूर्व तक जितने भी विदेशी आये उन सबको समाज पचा गया। मुसलमानो के आने पर उसे मन्दाग्नि रोग हो गया और उसका शरीर सडने लगा। समाज को आत्मरक्षा की ओर अधिक ध्यान देना पडा। युद्ध आदि मे ही जीवन व्यतीत हो जाता था। अतएव धार्मिक ग्रन्थों के मर्म भुलाये जाने लगे। अहिसा के सिद्धान्त के कारण भी शाकाहारी, मांसाहारियो के साथ भोजन नहीं कर सकते थे। इस प्रकार भोजन के नियम बनने लगे। धीरे धीरे रीति रिवाजो की भिन्नता के कारण भी समाज के छोटे-छोटे टुकडे होने लगे। ऊँचे वर्णों की नकल करके शूद्रों ने भी अपने को छोटे-छोटे विभागों में विभाजित कर लिया, और उनमे भी आपस मे रोटी-बेटी-व्यवहार बन्द हो गया। इसी समय जो शूद्र गन्दे काम करते थे एव असभ्य थे, वे 'अन्त्यज' अर्थात् अस्पृश्य शूद्र कहलाये। इन लोगो को नगर के बाहर रहना पड़ता था तथा गरीबी के कारण फटे पुराने कपडे पहनने पडते थे। इनसे समाज के अन्य लोग घृणा करने लगे, और अस्पृश्यता के भाव का उदय हुआ। ईसा की दसवी शताब्दी के पूर्व आधुनिक स्वरूप में

अन्त्यज और अस्पृश्यता के भाव का जन्म नही हुआ था। कुछ असभ्य और जगली जातियाँ अवश्य थीं जिनसे सभ्य समाज को दूर ही रहना पडता था, किन्तु उन्हे सभ्य बनने का पूर्ण अवसर दिया जाता था। अत्रि (१६६), यम (३३), उशनस् (३१-३२), अङ्गिरस (पृ० ५५) आदि स्मृतियो मे अन्त्यजो का उल्लेख है। याज्ञवल्क्य स्मृति (३।२६५) ने धोबी, चमार, नट, बसोड, मेद और भीलो को अन्त्यजो मे सम्मिलित किया है। अत्रि स्मृति (२४६) मे लिखा है कि "देव-यात्रा, विवाह, यज्ञ तथा सब उत्सवो मे छुआछूत नही रहती।" इससे मालूम होता है कि उस समय भी आजकल के समान अस्पृश्यता का भाव नही था।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक अस्पृश्यता को प्राचीन भारतीय सामाजिक जीवन मे कोई स्थान प्राप्त नही था। वह पूर्णतया अवैदिक तथा अशास्त्रीय हे, साथ ही भारतीय सस्कृति की आत्मा के बिलकुल प्रतिकूल है। इसका बहिष्कार करना वेद और धर्मशास्त्र क प्रत्येक भक्त का परम कर्तव्य हे।

८

आर्थिक विकास

@@@@@@@@@@@@

आर्थिक विकास का महत्त्व—प्राचीन भारत की सास्कृतिक उन्नति मे आर्थिक विकास को भी समुचित स्थान दिया गया था। कुछ विद्वानो का मत है कि प्राचीन भारत केवल आध्यात्मिक रग मे रँगा था, लौकिक तथा व्यावहारिक बातो से उसका कोई सम्बन्ध नही था, क्योकि उसका सिद्धान्त था कि ससार दु खमय है, परम सुख की प्राप्ति इस लोक को छोडकर उस लोक मे होती है। इसीलिए सासारिक झझटों में पडना उचित नहीं। इन विद्वानो के मतानुसार प्राचीन दर्शन-कारों ने भी अपने सिद्धान्तो मे इसी दृष्टि को अपनाया है। भारत के सास्कृतिक इतिहास मे अवश्य एक समय ऐसा था, जबकि दुनिया के दु खो से ऊबकर विचारक उससे अलग होना चाहते थे, तथा तप के बहाने कितने ही शारीरिक कष्ट झेलते थे। वेदान्त के मिथ्यावाद या मायावाद ने भी कदाचित् इस मनोवृत्ति के विकास में सहायता दी हो, किन्तु इससे यह तो नहीं कहा जा सकता कि भारत का सास्कृतिक विकास इसी निराशा की मनोवृत्ति के पाये पर हुआ था, और प्राचीन भारतीय सासारिक वैभव की जरा भी परवाह नही करते थे। भारतीय सस्कृति के निर्माताओ ने मानव-जीवन का सर्वाङ्गीण अध्ययन करने के पश्चात् संस्कृति के मौलिक सिद्धान्तो का सूत्रपात किया था। मानव-जीवन का सर्वाङ्गीण विकास ही उस सस्कृति का मूल-मन्त्र था।

भारत का सांस्कृतिक इतिहास इस बात का पुष्टि करता है। वेद, स्मृत्यादि ग्रन्थों मे स्थान-स्थान पर आर्थिक विकास के महत्त्व को समझाया गया है। वेदो मे वर्णोत्पत्ति के प्रकरण मे वैश्यो को जो स्थान दिया गया है उसके व अन्य प्रमाणो के सहारे यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत ने आर्थिक विकास के महत्त्व को भली भाँति समझा था।

वर्ग-चतुष्टय—धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष की प्राप्ति ही मानव जीवन का ध्येय था। प्राचीन भारतीय का प्रत्येक काम, प्रत्येक प्रयत्न वर्ग-चतुष्टय की प्राप्ति के लिए रहता था। आध्यात्मिकता के मार्ग पर प्रवृत्त होने की तैयारी करना और उसी को समस्त जीवन का आधार बनाना धर्म कहलाता था। कृषि, वाणिज्य, व्यवसाय आदि द्वारा द्रव्योपार्जन करके ऐहिक उन्नति करना ही अर्थ था। काम से यह तात्पर्य था कि मनुष्य आध्यात्मिक व पारलौकिक महत्त्वाकांक्षाओं को सफल बनाने के साधन प्राप्त करे। आश्रम-व्यवस्था विशेष रूप से वर्ग-चतुष्टय से सम्बन्धित थी। गृहस्थाश्रम का अर्थ से सम्बन्ध था। गृहस्थियो को आर्थिक विकास से सम्बन्धित करना बिलकुल उपयुक्त था। केवल गृहस्थाश्रमी ही ऐसे थे, जिन पर आर्थिक व आध्यात्मिक उन्नति का उत्तरदायित्व रहता था। उन्हे मानव जीवन के सच्चे उद्देश्य को ध्यान मे रखकर आर्थिक उन्नति करनी पडती थी। प्राचीन भारत का आर्थिक विकास समाज को उन्नत बनाने के लिए था, न कि भौतिक आवश्यकताओ को बढ़ाकर ऐश-आराम करने के लिए। इस प्रकार प्राचीन भारत के आर्थिक विकास की भूमिका का पता लग जाता है।

प्राचीन भारत की आर्थिक व्यवस्था—वेदों के आलोचनात्मक अध्ययन से पता लगता है कि समाज का आर्थिक जीवन अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो पर व्यवस्थित व सञ्चालित किया गया था। उपभोग, उत्पादन, वितरण, आदान-प्रदान आदि के बहुत से साधन वर्तमान थे।

श्रम-विभाग के सिद्धान्त के आधार पर समाज को चार विभागो में विभाजित किया गया था।

सम्पत्तियो की निधि वसुन्धरा—प्राचीन भारत ने भली भाँति समझ लिया था कि संसार की अनेको सम्पत्तियो की निधि पृथ्वी ही है। इसी लिए उसका नाम 'वसुधा' या 'वसुन्धरा' रखा गया, जिसका अर्थ 'द्रव्य धारण करने वाली' होता है। वैज्ञानिक दृष्टि से भी यह शब्द कितना अर्थपूर्ण है, यह स्पष्ट ही है। पृथ्वी के द्वारा अन्न, जल, वस्त्र आदि की प्राप्ति होती है। उसी के गर्भ मे से सोना, चादी, ताँबा, लोहा, कोयला व हीरे-माणिक आदि विविध रत्न मिलते हैं। आज भी समस्त मानव जाति का साम्पत्तिक जीवन पृथ्वी पर ही निर्भर है। इस प्रकार आर्थिक विकास मे पृथ्वी का महत्वपूर्ण स्थान है। इस तथ्य को प्राचीन भारत अच्छी तरह समझ गया था। यही कारण है कि ऋग्वेद के कितने ही मन्त्र (५।३२।१०, ५।४२।१३, १०।४।३, ५।५८।७, ८।१८।६, ७।४०।४) पृथ्वी की स्तुति मे लिखे गए है।

कृषि—भूमि से सम्पत्ति उत्पन्न करने का सबसे प्राचीन व सरल तरीका कृषि है। भारत की भौगोलिक परिस्थिति के कारण यहाँ पहले ही से कृषि कर्म सम्पत्ति के उत्पादन का मुख्य साधन रहा है। प्राचीन काल से आज तक यहाँ के अधिकाश लोग कृषि पर ही निर्भर रहते आए है। यहाँ ग्रामों का आधिक्य है व इसे कृषि-प्रधान देश कहते है। वेदों से पता चलता है कि कृषि कर्म अत्यन्त ही पवित्र माना जाता था। ऋग्वेद में कितने ही स्थलो पर खेत जोतने, हल चलाने व फसलों से हरे-भरे खेतो का उल्लेख है। वर्षा से सम्बन्धित देवता इन्द्र की स्तुति कितने ही मंत्रो मे की गई है। पृथ्वी को 'गो' नाम से सम्बोधित करके पूजनीय माना गया है। राजाओ को भी किसी-किसी अवसर पर अपने हाथों से हल चलाना पडता था। जनक के समान धार्मिक राजा को यज्ञ-भूमि में हल चलाना पड़ा था, जिससे सीता का जन्म हुआ।

ऋग्वेद में इन्द्र-वृत्र-युद्ध के वर्णन मे समझाया गया है कि कृषि प्रधान भारत मे वृष्टि की कितनी आवश्यकता होती थी व अनावृष्टि से कितनी हानि होती थी।

ऋग्वेद में कितने ही स्थलो पर कृषि-सम्बन्धी बहुत सी वस्तुओं का उल्लेख आता है। कृष्ट व अकृष्ट भूमि आदि के लिए कितने ही शब्द प्रयुक्त किये गए हैं, जैसे उर्वरा, क्षेत्र, फर्वर आदि। खेती के औजारों का भी निर्देश किया गया है, जैसे स्तेग, फल, लाङ्गल, सीता, सीर, अस्र आदि। सिचाई, खत देना आदि के बारे में ऋग्वेद से बहुत-कुछ मालूम होता है। यव, ब्रीहि आदि के उल्लेख से उस समय पैदा किये जाने वाले अनाज का पता लगता है। इस प्रकार यह कहना अत्युक्ति न होगी कि वैदिक काल मे ही खेती का अच्छा विकास हो गया था व तत्सम्बन्धी आवश्यक ज्ञान भी लोगो को था। खेती बैलों के द्वारा होती थी, इसीलिए प्राचीन काल के आथिक विकास में गो-पालन का भी विशेष स्थान था, व उसे एक स्वतन्त्र उद्योग-धंधे के रूप मे विकसित क्रिया गया था। वैदिक काल में कृषि-कर्म का प्राधान्य रहने से उससे सम्बन्धित लोगो को खेतों के निकट गाँवो मे रहना पड़ता था। इसलिए तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था मे ग्रामो का महत्त्वपूर्ण स्थान था। ऋग्वेद मे ग्रामणी का उल्लेख आता है, जिसका आदर राज-दरबार मे भी होता था। इस प्रकार वैदिक काल मे देहात के लोग अपने खेतो की उपज पर निर्भर रहकर दैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति करते थे। अन्न-वस्त्र की उन्हे कभी कमी नहीं रहती थी। वैदिक काल के पश्चात् भी कृषि-कर्म सम्पत्ति-वृद्धि, उदर-निर्वाह व आथिक विकास का मुख्य साधन रहा है। ब्राह्मण, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, पुराण आदि ग्रन्थो मे कृषि-कर्म का स्पष्ट उल्लेख है। वही राजा अच्छा समझा जाता था, जिसके राज्य मे अच्छी-अच्छी फसले पैदा होती थीं। यज्ञ का सम्बन्ध भी कृषि से जोडा गया था, क्योंकि समाज की मान्यता थी कि यज्ञ से वर्षा होती है। वर्षा न होने पर ऋषि लोग

बारह-बारह वर्ष के यज्ञ आयोजित करते थे। इस प्रकार कृषि-कर्म का प्राचीन भारत के आर्थिक विकास मे महत्त्वपूर्ण स्थान था।

गो-पालन—गो-पालन का कृषि से बहुत ही निकट का सम्बन्ध है गाय के महत्त्व को जितना अधिक भारतवासी समझते है, उतना कोई नहीं समझा। आज भी पाश्चात्य देशों मे गो-पालन होता है, किन्तु साथ ही गो भक्षण भी होता है। जननी के पश्चात् गाय ही मनुष्य के पोषण व वर्धन मे अधिक सहायक बनती है। उसके बछड़े खेती करने मे सहायता देते है। वह स्वत अपने बछड़े के दूध में से बचाकर हमें दूध व घी देती है, जिसे खाकर हम अपने अङ्ग प्रत्यङ्ग खूब मजबूत बनाते है। जब मनुष्य जाति पर गाय का इतना उपकार है तब यदि भारतीय उसे माँ कहकर पुकारें तो क्या हर्ज है? यही तो मानवता है, न कि उसके घी दूध से मजबूत बने हुए हाथो से उसी की गरदन पर छुरी चलाकर उसके रक्त व मास का भक्षण करना। किन्तु बीसवीं शताब्दी के इस सभ्य जगत् में कितने ही स्थानो पर इसी प्रकार गाय के उपकार को भुलाया जा रहा है।

वैदिक काल से ही गाय को पूजनीय माना गया था। वैदिक ऋषियों ने (१।१६४।२७,४०) "अघ्न्या हि गो" अर्थात् "गाय को मारना नहीं चाहिए" कहकर उसे सम्बोधित किया, जिससे कोई उस पर हाथ न उठा सके। गो-पालन प्राचीन आर्यों का पवित्र कर्तव्य समझा जाता था। गायें प्राचीन आर्यों की विशेष सम्पत्ति थीं। पृथ्वी व गाय दोनों को बहुत पहले से पूजा जाता था। खेती के लिए बछड़े, शरीर मजबूत बनाने के लिए घी-दूध देहातों के घर लीपने के लिए गोबर, जलाने के लिए कंडे आदि सब गाय से ही प्राप्त होते थे। आर्थिक दृष्टि से समाज मे गाय का इतना अधिक महत्त्व था व उससे लोग अपने को इतना सुखी मानते थे कि जब स्वर्ग मे देवताओं के निवास-स्थान की कल्पना की जाती थी, तब उसमें बड़े-बड़े सींग वाली बहुत सी गायें

विशेष रूप से रहती थी, जैसा कि ऋग्वेद (१।१५४।६) मे विष्णु लोक के सम्बन्ध मे कहा गया है।

कामधेनु—पुराणो ने समाज के प्रति गाय के उपकार का बदला अच्छी तरह से दिया है। सचमुच ही, कामधेनु की कल्पना स्तुत्य है। मानव-जाति को समस्त कामनाओ की पूर्ति करने वाली कल्पित कामधेनु स्वर्ग मे बसती थी। वह कभी-कभी मृत्यु-लोक पर भी कृपा-दृष्टि कर देती थी, जैसी उसकी लाडली नन्दिनी ने भक्ति के परिणामस्वरूप पुत्र-रत्न देकर राजा दिलीप पर की थी (रघुवश २।१)। कालिदास ने दिलीप की गो-सेवा का जो सौन्दर्यपूर्ण चित्र खींचा है (रघु० स० २) उसमे भारतीयो के गाय के प्रति उस पूज्य भाव के दर्शन होते हैं, जिसका उन्होने वैदिक काल से ही अन्त करण में धारण करना सीखा था। यदि विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि स्वर्गीय कामधेनु की पौराणिक कल्पना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है, क्योंकि मृत्यु-लोक की गाय भी इस कामधेनु से किसी प्रकार कम नहीं ठहरती। इस बात का साक्षात्कार आज भी किया जा सकता है।

कृष्ण व गो-पालन—पुराणो द्वारा गायो को एक और भेंट दी गई है, और वह है कृष्ण को गायमय वातावरण में बालपन को व्यतीत करने को बाधित करना। कृष्ण कारागृह में पैदा होकर भी गोप-गोपियों में पाले व पोसे जाते हैं। बालपन से ही बंसरी बजा-बजाकर गायो को चराना उनके जीवन का उद्देश्य हो गया था। याद रहे कि गायों के चरवैये कृष्ण ने ही अर्जुन को उपदेश देकर गीता के रूप मे दार्शनिक तत्त्वों का अमित भाण्डार दुनिया के सामने रखा, जिसके जाज्वल्यमान प्रकाश में इस बीसवीं शताब्दी की आँखे भी चौंधिया जाती है। प्राचीन भारतीयों को गाय के दर्शन इतने प्रिय थे कि गायें दिन-भर जगल में चरने के बाद जब घर लौटतीं तो सर्वप्रथम उनके पैर की धूलि देखकर इन्हे प्रसन्नता होती थी व वे प्रतिदिन उस समय की प्रतीक्षा करते थे, जबकि गोधूलि आकाश में दिखाई दे। इसीलिए

विवाह के समान पवित्र संस्कार के लिए भी वही समय उत्तम समझा जाने लगा तथा उसका नाम 'गोरज मुहूर्त' व गोधूलि-वेला रखा गया। आज भी गोरज मुहूर्त का विवाह बहुत ही शुभ समझा जाता है। गृह्य-सूत्रों व मन्वादि स्मृतियों में विवाह के उपलक्ष्य मे पुरोहित को गाय देने का आदेश है।

वैदिक काल के व्रज—वैदिक काल से ही गाय, बैल आदि के बाँधने के लिए अलग-अलग अहातों की व्यवस्था रहती थी (ऋ० ४।६।७)। ऋग्वेद मे वृत्र के द्वारा इन्द्र की गायो के चुराये जाने का उल्लेख है, जिससे पता चलता है कि गाय एक प्रकार की दौलत समझी जाती थी। गृह्य-सूत्रो से यह भी पता चलता है कि प्राचीन-काल में गाय व्यापारिक विनिमय का साधन मानी जाती थी। पुराणो से मालूम होता है कि गायो की संख्या पर व्यक्तियो की हैसियत निर्भर रहती थी। गोप, नन्द आदि दस-दस हजार गायें रखते थे। गायें ही उनकी दौलत होती थी। इस प्रकार प्राचीन भारत के आर्थिक जीवन मे गो-पालन का महत्त्व स्पष्ट है।

भेड, बकरी आदि का पालन—प्राचीन भारत मे गायों के अतिरिक्त भेड, बकरी आदि भी पाली जाती थीं। ऋग्वेद मे मेष व मेषी का उल्लेख कितने ही स्थलों पर आया है। 'उर्णावती' शब्द से पता लगता है कि उस समय भेडों से ऊन निकालने का व्यवसाय भी ज्ञात था। ऊन के कपडे बनाये जाते थे। अज व अजा का भी उल्लेख ऋग्वेद मे कितनी ही बार आया है। बकरी का दूध भी पिया जाता था। वैदिक काल से आज तक भी भारत को कितने ही भागो में गरीब ग्रामीण भेड, बकरी आदि पालकर ही उदर-निर्वाह करते है।

वाणिज्य—कृषि व गो-पालन के अतिरिक्त एक और साम्पत्तिक विकास का साधन था, जिसे वाणिज्य कहा गया है। कृषि आदि का सम्बन्ध ग्रामो से था, जोकि प्राचीन काल मे आर्थिक उत्पादन के केन्द्र थे। दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ अधिकाश ग्रामों मे ही उत्पन्न की

जाती थी। प्राचीन काल मे आजकल के समान बडे-बडे यन्त्र नही थे कि नगरो की आवश्यकता होती। फिर भी राजकीय व आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के केन्द्र अवश्य थे, जो विकसित होकर नगर बन गए थे।

प्राचीन भारत के व्यापार के सम्बन्ध मे प्रत्यक्ष रूप से विशेष पता नही लगता, किन्तु परोक्ष रूप से बहुत-सी बातें मालूम हो जाती है। वेदों के सम्बन्ध मे कुछ विद्वान् कहते है कि वैदिक सभ्यता पूर्णतया ग्रामीण थी, वैदिक काल मे नगर नहीं थे। किन्तु यह उक्ति भ्रमपूर्ण है। ऋग्वेद (६।२८।६,७।४।९,८।३४।६) मे सभा, पुर आदि का उल्लेख आता है, कितने ही स्थलों पर सुवर्ण (१।४३।५,३।३४।९,४।१०।६, ४।१७।११ आदि) उल्लिखित है व धनपति बनने की इच्छा दरसाई गई है। ऋग्वेद मे और भी बहुत सी बाते उल्लिखित है, जिनसे नगरों का अस्तित्त्व स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है। यजुर्वेद (३०।६,७,११,१७,२०) मे वर्णित उद्योग-धन्धों से भी विकसित नागरिक जीवन का पता चलता है। इसलिए यह कथन कि वैदिक काल मे नगर नही थे केवल ग्राम ही थे ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक नहीं हो सकता।

नगरों के अस्तित्व से अधिकाश लोगों, विशेषकर धनाढ्यों का सञ्चालन व निग्रह करने वाली किसी सत्ता की छत्र-छाया मे एकत्रित रहना स्पष्टतया सूचित होता है। एक बड़े मानव समुदाय के एकत्रित रहने पर दैनिक आवश्यकता की पूर्ति के साधन भी ढूँढे जाते हैं, व यहीं से वाणिज्य या व्यापार का प्रारम्भ होता है। गाँवों में इसके विकास की गुन्जाइश नहीं रहती। वाणिज्य और नगर का लगभग चोली-दामन का साथ है। 'वाणिज्य' शब्द 'वणिक्' शब्द से बनता है, जिसका अर्थ बनिया या व्यापारी होता है। 'वाणिज्य' शब्द से ही व्यापार का बोध होता है। ऋग्वेद के 'पुरुष सूक्त' मे वैश्यो को जङ्घाओं से सम्बन्धित किया गया है। मनु आदि स्मृतिकार कृषि, वाणिज्य आदि को वैश्य का स्वाभाविक कर्म बताते है। इस पर से यह कहा

जा सकता है कि वैदिक काल मे भी वैश्य का वही काम था। इसमे जरा भी सन्देह नहीं कि भारत के व्यापारिक व व्यावसायिक इतिहास का प्रारम्भ वैदिक काल से ही होता है। कृषि की उपज, घी, दूध, वस्त्र व दैनिक जीवन से सम्बन्धित अन्य वस्तुओं द्वारा व्यापार किया जाता था। सूत्रादि ग्रन्थो से बडे-बडे बाजारो के अस्तित्व का पता लगता है। ये बाजार वैदिक काल मे भी रहे होगे। वेदों मे सुवर्ण निष्क का भी उल्लेख आता है, जोकि व्यापारिक विनिमय का साधन रहा होगा।

ऋग्वेद मे समुद्र द्वारा व्यापार—ऋग्वेद (१।५६।२,१।४८।३, १।२५।७, १।११६।३,२।४८।३,७।८८।३-४) मे 'नाव समुद्रिय' अर्थात् समुद्र मे चलने वाली नावो का उल्लेख आता है, तथा भुज्यु नाविक के बहुत दूर चले जाने पर मार्ग भूल जाने व प[illegible] स्तुति करने पर सुरक्षित लौट आने का वर्णन है (ऋ[illegible] १।११६।३)। ऋग्वेद (१०।१०८।३) मे पणियो का भी उल्लेख है। उनके सम्बन्ध मे कहा गया है कि वे बडे धनलोलुप व कजूस है, स्वार्थ तो उनका परम धर्म है। अश्विनीकुमारो से प्रार्थना की गई है कि पणियों के हृदयो के टुकडे-टुकडे कर दो (ऋक्० ६।५३।७-८)। यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि 'पण्य' शब्द, जिसका अर्थ बेचने का माल तथा 'आपण' शब्द, जिसका अर्थ बाजार होता है इसी 'पणि' शब्द से बनते है। इसमे यत्किञ्चित् भी शक नहीं कि ये पणि वैदिक काल के बडे-बडे व्यापारी थे जो व्यापार के लिए देश-विदेशो के कोने-कोने मे पहुँचते थे।

पणि व 'फिनिशियन्स'—कुछ ऐतिहासिको का मत है कि पणियों का सम्बन्ध पश्चिमी एशिया के प्राचीन देश फिनीशिया के निवासियों से है। उनके मतानुसार पणि व 'फिनिशियन्स' एक ही हैं। फिनिशियन्स प्राचीन काल मे जबरदस्त व्यापारी थे, जिनके व्यापार का केन्द्र भूमध्यसागर और उसके तटवर्ती देश थे। इसलिए 'फिनिशिया' व्यापारियों का राष्ट्र कहलाता था। उन्होने उत्तर अफ्रीका मे बडा भारी

साम्राज्य स्थापित किया था, जिसकी राजधानी कार्थेज थी। इसलिए यह 'कार्थेजियन'-साम्राज्य भी कहलाता था। स्पेन आदि यूरोप के देश भी इसमे सम्मिलित कर लिये गए थे। यहाँ तक कि 'कार्थेजिनियन' लोगों के वीर सेनापति हेनिबाल ने इटली के रोम आदि विभिन्न नगरों पर भी आक्रमण किये थे। इस प्रकार ये 'फिनिशियन्स' प्राचीन यूरोप में बहुत महत्त्वशाली थे। यदि वेदकालीन पणियों से उनका सम्बन्ध हो जाय तो भारत के वैदेशिक व्यापार की प्राचीनता पर अच्छा प्रकाश पडेगा।

बौद्ध-साहित्य मे व्यापार—भारत के प्राचीन व्यापार का स्पष्ट पता बौद्ध साहित्य, सूत्र, स्मृति, कौटिलीय अर्थशास्त्र आदि से लगता है। अर्थशास्त्र मे इसका विस्तृत वर्णन है, किन्तु बौद्ध जातकों से इस सम्बन्ध मे बहुत-कुछ मालूम होता है और यह साहित्य स्मृति, अर्थ-शास्त्र आदि से अधिक प्राचीन माना जाता है। जातको के आलोचनात्मक अध्ययन से मालूम होता है कि बौद्ध काल मे भारत का व्यापार खूब बढा-चढा था। उत्तर भारत मे श्रावस्ती, राजगृह, कौशाम्बी, उज्जयिनी आदि महान् नगर थे, जहाँ बडे बडे धनाढ्य व्यापारी रहते थे, जिनमे से अधिकाश गौतम बुद्ध को बहुत आर्थिक सहायता देते थे। उन व्यापारियों ने समस्त भारत को व्यापारिक सूत्र मे बाँध रखा था। व्यापार इतना बढ़ा-चढा था कि कितने ही ब्राह्मण अपना काम छोडकर व्यापार करने लगे थे (जातक ४।१५) और इस प्रकार लखपति बनने की धुन मे लग गए थे। व्यापार मे साधारणतया वश-क्रम का ही विशेष स्थान था। व्यापारी का पुत्र ही अधिक सफल व्यापारी बन सकता था। इसलिए व्यापारियों के परिवार के-परिवार रहते थे, जो कभी कभी मिलकर या अलग-अलग होकर व्यापार करते थे। यह सम्भव है कि व्यापारियो का कोई सगठन अवश्य रहा हो। किन्तु जातक-ग्रन्थो मे इस सम्बन्ध मे कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। 'चुल्लकसेट्ठी जातक' (जातक १।१।२२) मे लगभग सौ व्यापारियो का

उल्लेख है, जो विदेशों से आये हुए माल को खरीदने जाते है, जहाँ प्रत्येक अपनी-अपनी बाजी मारना चाहता है, जैसा कि एक नवयुवक व्यापारी ने हिक्मत से बहुत सा माल खरीदकर किया। 'वलाहस' (२।१२८, न० १९६) व 'पण्डार' (जातक २।१२८,५।७५) जातक मे ऐसे जहाजो का उल्लेख है, जिनमे लगभग पाँच सौ व्यापारी यात्रा कर रहे थे, जोकि डूब गए। बहुत से व्यापारी स्थल-मार्ग से भी एक साथ यात्रा करते थे। उनका एक मुखिया रहता था, जिसे 'सात्थवाह' कहते थे। वह व्यापारियों का नेता माना जाता था। उसी की आज्ञा-नुसार व्यापारी माल से लदी हुई अपनी-अपनी बैलगाडियो को ठहराते या आगे बढाते थे। मार्ग मे चोर, डाकू आदि से सबकी रक्षा की व्यवस्था करना भी सात्थवाह का काम था।

जातको से पता चलता है कि व्यापार साझेदारी से भी होता था। 'कूटवाणिज' 'महावाणिज' व 'सेरिवाणिज' तथा 'पायासि सुत्तन्त' मे इसका उल्लेख है (जातक, १।४०४, २।१८१, ४।३५०)। 'जरूदपान-जातक' से पता चलता है कि बहुत से व्यापारी मिलकर बहुत सा माल खरीदते है और उसको विदेशो मे भेजकर मुनाफा आपस मे बाँट लेते हैं (जातक २।२-६४)। व्यापारियों की यह 'कम्पनी' अपनी यात्रा के पूर्व व पश्चात् बुद्ध की सेवा में उपस्थित होकर उसे बहुत-कुछ धन भेंट देती है। श्रावस्ती के सब बडे-बडे व्यापारी अनाथ पिण्डद के अधीन रहकर उसकी सलाह से काम करते थे। इस अनाथ पिण्डद ने बुद्ध को कितना ही दान दिया था तथा उसके अनुयायियों के लिए विहार भी बनवा दिए थे। 'गुत्तिल जातक' मे लिखा है कि बनारस के व्यापारी न केवल अपना काम एक साथ मिलकर करते थे, किन्तु खेल, मनोरञ्जन आदि भी इकट्ठे ही करते थे। स्थल-यात्री व्यापारियों के सम्बन्ध में जातकों मे उल्लेख आता है कि वे पूर्व व पश्चिम की ओर जाते हैं और मरुस्थल को भी पार करते है, जिसमे उन्हे कितने ही दिन लग जाते है। रात्रि के समय वे लोग 'थल नियामके'

के मार्गदर्शकत्व में तारो के सहारे चला करते थे। इस यात्रा मे अनावृष्टि, दुष्काल, जगली जानवर, डाकू, राक्षस आदि का भय बताया गया है। ये व्यापारी बनारस के समान व्यापारिक व औद्योगिक केन्द्र से राजपूताना की मरुभूमि मे से होते हुए भरुकच्छ, सोवीर आदि बन्दर स्थानो मे माल ले जाते थे। वहीं से बावेरु (बेबीलोन) से व्यापार किया जाता था।

तामिल साहित्य मे व्यापार—प्राचीन तामिल साहित्य से पता चलता है कि चोल राजधानी 'काविरीपट्टिनम', जिसे 'पेरिप्लस' में 'कमर' कहा गया है व टोलेमी ने 'खबरो' कहा है और जो कावेरी नदी पर बसा हुआ है, एक जबरदस्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का केन्द्र था। यहाँ पर यवन व्यापारी विशेष रूप से आते थे। उत्तर भारत के व्यापारी भी यहाँ पर आते थे तथा समुद्र द्वारा भारत के दोनों किनारों के बन्दर-स्थानों मे घूमते थे।

आयात-निर्यात—आयात व निर्यात के सम्बन्ध मे जातकों से कुछ विशेष पता नही चलता। सुवर्ण, जोकि प्राचीन काल मे पारस भेजा जाता था, जातको मे उल्लिखित नहीं है। जातको में लिखा है कि विदेशी व्यापारी यहाँ के मोती, जवाहिरात आदि की फिराक में अक्सर रहते थे। रेशम, मलमल, महीन कपडा, चाकू-कैंची आदि, कवच, बेल बूटे जरी आदि की चीजे, कम्बल, सुगन्धित द्रव्य, दवाइयाँ, हाथी-दाँत, जवाहिरात सोना-चाँदी आदि का व्यापार खूब होता था। शाक-भाजी व दूसरी खाने की चीजें कदाचित् नगर के फाटको के बाहर ही बेची जाती थी बडे-बडे कारखाने व बाजार नगर के अन्दर रहते थे, और अलग-अलग माल के लिए अलग-अलग बाजार रहते थे। प्राचीन नगरों में आजकल भी ऐसी व्यवस्था है, या कम-से-कम उस व्यवस्था के सूचक मुहल्लो के पुराने नाम अभी भी वर्तमान हैं। श्रावस्ती, बनारस आदि के बाजारो मे सब चीजें मिल सकती थी।

विनिमय—व्यापारिक विनिमय के साधन के बारे मे मालूम होता

है कि कभी कभी एक वस्तु से दूसरी वस्तु का परिवर्तन किया जाता था। जातकों मे 'काहायण' नामी सिक्के का उल्लेख है। इसी के द्वारा साधारणतया चीजे खरीदी व बेची जाती थीं। आधे व चौथाई 'काहायण' के सिक्के भी रहते थे। इसके सिवाय कदाचित् सुवर्ण निष्कों का भी उपयोग होता था।

लेन-देन—जातकों से लेन-देन के धन्धे का भी पता लगता है, जिसका उल्लेख सूत्र-स्मृत्यादि मे भी आता है। लेन-देन करने वाले दस्तावेज लिखवाकर रुपया उधार देते थे, ब्याज कितना लेते थे इसका पता नही चलता। व्यापारिक जगत् मे हुण्डी का उपयोग भी होता था। बडे-बडे सेठों के पास जो-कुछ धन जमा रखा जाता था, उसका भी दस्तावेज लिया जाता था (जातक १।१२१, ६।५२१)।

व्यापार के स्थल-मार्ग—जातक ग्रन्थो से व्यापार के स्थल-मार्गों का पता भी लगता है, जिससे तत्कालीन व्यापार के विस्तार का ज्ञान होता है। अनाथपिण्डद और उसके व्यापारी श्रावस्ती से दक्षिण पूर्व की ओर चलकर राजगृह आते थे और उसी मार्ग से वापस जाते थे, तथा पश्चिमोत्तर मे गान्धार तक भी जाते थे। श्रावस्ती से दक्षिण मे प्रतिष्ठान (हैदराबाद राज्य पैठण) तक भी व्यापार का एक मार्ग था। बीच मे छ स्थानो मे ठहरना पडता था। वहाँ से सिन्ध व पश्चिम भारत को भी मार्ग जाता था। उत्तर मे तक्षशिला से मध्य एशिया के व्यापारिक केन्द्रों तक भी मार्ग जाता था। इस प्रकार समस्त भारत मे व्यापारिक मार्गों का जाल फैला हुआ था।

वैदेशिक व्यापार—प्राचीन भारत का वैदेशिक व्यापार भी बहुत ही पुराना है। पहले ही लिख दिया गया है कि वैदिक काल मे किस प्रकार लोग जहाज़ो मे बैठकर समुद्र मे दूर-दूर तक जाते थे तथा पणि उस काल के बडे व्यापारी थे, व सम्भवत वे 'फिनिशियन' लोगो से सम्बन्धित थे। इस प्रकार कहा जा सकता है कि भारत के वैदेशिक व्यापार का श्रीगणेश वैदिक काल से ही होता है। उसके पश्चात् भी

इस व्यापार की उत्तोत्तर वृद्धि होती गई, यहाँ तक कि बौद्ध काल से तो इसका खूब विकास होने लगा। इसलिए जातकादि बौद्ध साहित्य, रामायण, महाभारत, सूत्र साहित्य, ज्योतिष-साहित्य, पुराण व अन्य संस्कृत साहित्य आदि के द्वारा वैदेशिक व्यापार के बारे में बहुत-कुछ ज्ञात होता है। प्राचीन बाबुल, मिस्र आदि के लेखो मे तथा ग्रीस, रोम आदि के प्राचीन साहित्य मे कितने ही स्थलों पर भारत के वैदेशिक व्यापार का उल्लेख आता है।

यह सर्वमान्य बात है कि पश्चिम एशिया के असुरबेनीपाल (ई० पू० ६६८-६२६) राजा के पुस्तकालय मे प्राप्त 'सिन्धु' शब्द भारतीय कपास का द्योतक है, और यथार्थ मे प्राचीन 'एकेडियन' भाषा का है। इतिहास से पता लगता है कि असुरबेनीपाल एक प्रसिद्ध कृषि-प्रिय राजा था। उसने भारत से बहुत-से पौधे मँगवाये थे, जिनमे भारत के "ऊन के पौधे (कपास को पाश्चात्य लोग ऊन कहा करते थे) भी थे। इससे तो स्पष्ट है कि भारत का कपास-व्यापार बहुत पुराना है। प्राचीन नगर मुघर (उर) के चन्द्र-मन्दिर मे तथा राजा नेबुकेडनेजर क महल मे भारतीय इमारती लकडी पाई गई है। ये दोनो ई० पू० छठी शताब्दी के है। शलमंनसार 'तृतीय' (ई० पू० ८६०) के स्तम्भ पर बन्दर भारतीय हाथी और बैक्ट्रिया के ऊँट खुदे हुए है। प्राचीन इतिहासकार एक्रिनियस स पता लगता है कि टोलेमी फिलेडेलफोस के जुलूस मे भारतीय स्त्रियाँ, भारतीय शिकारी कुत्ते और भारतीय गाये भी रहती थीं, तथा साथ ही ऊँटो पर भारत के मसाले ले जाये जाते थे, जिनको देखकर लोगों को बडा आश्चर्य होता था। रोम का सुप्रसिद्ध लेखक प्लिनी (७८ ई० के लगभग), जिसने रोम-निवासियो की अपव्ययता को कडी आलोचना की है, ज़ोरदार शिकायत करता है कि भारतीय व्यापार के कारण रोम का कोष बहुत खाली हो जाता है। वह कहता है कि भारत, चीन व अरब मिलकर रोम से प्रति वर्ष दस करोड़ 'सेसटेरेस' ले जाते है, जिनमे से अधिकाश भारत मे जाता है।

यह रकम लगभग दस हजार 'पौण्ड' के बराबर होती है। प्राचीन रोम के सिक्कों का दक्षिण भारत मे पाया जाना तथा दक्षिण भारत के साहित्य मे रोम के साथ व्यापारिक सम्बन्ध के उल्लेख आदि से स्पष्ट होता है कि ईस्वी सन् के प्रारम्भ मे रोम और दक्षिण भारत के बीच बहुत ही जोरदार व्यापार होता था। पश्चिमी एशिया, मिस्र और यूरोप के पश्चिमी छोर से मलाबार किनारे तक व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो गया था। हिब्रू साहित्य मे भारत की, विशेषकर दक्षिण भारत की बनी हुई बहुत-सी चीजो का उल्लेख है। प्राचीन रोम के प्रसिद्ध इतिहासकार टेसिटस ने लिखा है कि एक भारतीय नाविक का जहाज यूरोप के उत्तरीय समुद्र मे रेती मे फँस गया था। 'एक्सोडस' मे भी एक भारतीय व्यापारी का उल्लेख आता है, जो यूनानियों को अरब-समुद्र मे से भारत के मलाबार किनारे तक लाया था। मिस्र के एक प्राचीन लेख मे 'सोफन इण्डोज' नाम के एक सुप्रसिद्ध भारतीय नाविक का उल्लेख आता है। इस प्रकार इन प्रमाणो से सिद्ध हो जाता है कि प्राचीन भारत का वैदेशिक व्यापार बहुत पुराना है, और वह विश्व मे दूर-दूर तक फैला था। परोक्ष रूप से इस मन्तव्य की पुष्टि भारत के प्राचीन साहित्य से भी होती है।

बौद्ध-जातक व वैदेशिक व्यापार—जातक साहित्य मे समुद्र-यात्रा और वैदेशिक व्यापार का वर्णन कितने ही स्थानों पर आता है। 'विनय पिटक' मे पूर्ण नामी एक भारतीय व्यापारी के छ बार समुद्र-यात्रा करने का वर्णन है। सातवी बार उसके साथ श्रावस्ती के कुछ बौद्ध यात्री भी थे, जिनके ससर्ग से वह स्वत बौद्ध बन गया। 'सुत्त-पिटक' मे दूर-दूर के देशो तक की जाने वाली समुद्र-यात्रा का वर्णन है। 'संयुत्तनिकाय' (३।११९, ५।५१) व 'अंगुत्तर (४।२७) मे छ छ महीने तक नाव द्वारा की जाने वाली यात्रा का वर्णन है। 'दीघ-निकाय' (१।२२२) मे वर्णन आता है कि दूर दूर देशो तक समुद्र-यात्रा करने वाले व्यापारी अपने साथ पक्षी रखते थे। जब जहाज स्थल से

बहुत दूर पहुँच जाता और भूमि के कोई चिह्न न दिखाई देते, तब उन पक्षियों को छोड़ दिया जाता था। यदि भूमि निकट ही रहती तो वे पक्षी वापस नहीं आते थे, अन्यथा थोड़ी देर तक इधर उधर उड़कर वापस आ जाते थे। 'बावेरुजातक' (३ न० ३३९) मे भारत व बेबिलोन के व्यापारिक सम्बन्ध का उल्लेख है। इसी प्रकार 'सुपारक' 'महाजनक', 'शख', 'सुसोन्दी' आदि जातकों में भारत के वैदेशिक व्यापार तथा जहाजों द्वारा समुद्र-यात्रा का स्पष्ट उल्लेख है। (जातक ४।१३८-१४२, ६।३२-३५, न० ५३९, ६।१५-१७, न० ४४२, ३।१८८, नं० ३६०)।

रामायण व विदेश—वाल्मीकि-रामायण मे कितने ही स्थलों पर भारत व दूरस्थ देशो के मध्य समुद्र द्वारा आवागमन का उल्लेख है। किष्किन्धा काण्ड (४०।२५) में सुग्रीव सीता की खोज के सम्बन्ध मे बन्दरों को उन देशों के नाम बताता है, जहाँ सीता के रहने की सम्भावना थी। इस सम्बन्ध मे बहुत से द्वीपो के पर्वतो को उल्लिखित किया गया है। किष्किन्धा-काण्ड (४०।२३) के एक स्थान पर कोसकर देश का उल्लेख है, जिससे चीन का तात्पर्य है। एक जगह यवद्वीप व सुवर्णद्वीप का उल्लेख है, जिनका सम्बन्ध जावा और सुमात्रा से है। इसी प्रकार लोहित सागर (Red sea) का भी उल्लेख पाया जाता है। अयोध्या-काण्ड (८४।७८) में एक जगह नौका-युद्ध की तैयारी का वर्णन आता है। रामायण मे उन व्यापारियों का उल्लेख भी है, जो समुद्र द्वारा दूर-दूर के देशों को अक्सर जाया करते थे, और राजाओं के लिए अच्छी-अच्छी भेटें लाते थे।

महाभारत व विदेश—महाभारत में राजसूय-यज्ञ तथा अर्जुन व नकुल की दिग्विजय के सम्बन्ध मे भारत के बाहर के बहुत से देशो का वर्णन आता है, जिनसे भारत का सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। सभा पर्व (३१।६५-६८) में वर्णन आता है कि सहदेव बहुत से समुद्रस्थ द्वीपो मे गया, व उसने वहाँ के सब म्लेच्छ निवासियों को

जीत लिया। द्रोण-पर्व मे आंधी से त्रसित नाविको का द्वीपो में पनाह लेने का उल्लेख है। उसी पर्व मे दूसरी जगह एक बडे समुद्र में आँधी द्वारा छिन्न-भिन्न किये गए जहाजो का उल्लेख है। कर्ण-पर्व मे वर्णन आता है कि कौरवो के योद्धा इस प्रकार घबरा गए, जैसे गहरे समुद्र में आधी द्वारा अपने जहाजों के छिन्न-भिन्न किये जाने पर व्यापारी लोग घबराते है। शान्ति-पर्व मे कर्म व सत्य-ज्ञान द्वारा प्राप्त मुक्ति की तुलना उस आथिक लाभ से की गई है जोकि एक व्यापारी समुद्र द्वारा व्यापार से प्राप्त करता है। एक जगह विदुर द्वारा विशेष रूप से बनवाये गए जहाज के नष्ट हो जाने पर पाण्डवो के बच जाने का वर्णन आता है। वह जहाज बहुत बडा व यन्त्रयुक्त था, उसमे युद्ध के सब प्रकार के हथियार थे, तथा वह इतना मजबूत था कि आँधी व समुद्र की झौलें उसका कुछ नहीं बिगाड सकती थीं।

सूत्रो मे वैदेशिक व्यापार—बौधायन धर्म-सूत्र (२।२।२, १।२।४) में धार्मिक ब्राह्मणों के लिए समुद्र-यात्रा निषिद्ध है, किन्तु उसमें यह भी उल्लिखित है कि उत्तर के निवासी बहुधा उक्त नियम का उल्लङ्घन करते थे। उत्तर मे रहने वालों के लिए ऊन, घोडे, खच्चर आदि का व्यापार करना निषिद्ध था। बौधायन धर्मसूत्र (१।१८।१४) व गौतम धर्मसूत्र (१०।३३) में राजा को नावकों द्वारा दिये जाने वाले कर को निश्चित किया गया है। स्मृतियों मे भी वैदेशिक व्यापार का उल्लेख है, तथा नदी व समुद्र द्वारा यात्रा के किराये के बारे में लिखा है (मनु० ८। ४०४-४०६)। मनु (३।१५८, ४।४०८, ४०६) ने समुद्र-यात्रा की सुरक्षा-सम्बन्धी बहुत से नियमो का उल्लेख किया है। उन्होंने एक जाति-विशेष का वर्णन किया है, जिसका काम व्यापार तथा विदेशों की आवश्यक वस्तुओं व वहाँ की भाषाओं की जानकारी प्राप्त करना था। याज्ञवल्क्य स्मृति (३।८) मे दूर-दूर के देशों की समुद्र-यात्रा का उल्लेख है।

ज्योतिष-ग्रन्थों मे वैदेशिक व्यापार—पुराणों में भी वैदेशिक

व्यापार का उल्लेख है। वराह पुराण मे एक निपुत्र व्यापारी गोकर्ण की व्यापारार्थ समुद्र-यात्रा का वर्णन है। यह व्यापारी समुद्र की आँधी के कारण बाल-बाल बच गया। एक व्यापारी ने मोती के काम में होशियार व्यक्तियों को लेकर मोतियो के फिराक मे समुद्र-यात्रा की थी। रघुवंश मे कालिदास ने रघु द्वारा बङ्गाल की नौका-सेना की पराजय का वर्णन किया है, व रघु के स्थल-मार्ग द्वारा पारसीको को जीतने जाने का उल्लेख किया है (रघु० ४।३६)। इससे स्पष्ट है कि पारस जाने के लिए जल-मार्ग भी काम मे लाया जाता था। शाकुन्तल में चीन का उल्लेख है, जहाँ से बहुत-सा रेशम आता था। 'चीनाशुक' शब्द सस्कृत साहित्य मे कितनी ही बार प्रयुक्त किया गया है। शाकुन्तल मे एक नि सन्तान धनवृद्धि नामक व्यापारी का वर्णन आता है, जिसकी मृत्यु के पश्चात् उसका सब धन राजा को मिल गया। हर्षकृत रत्नावली मे सिहल के विक्रमबाहु राजा की राजकुमारी के जहाज के मध्यसमुद्र मे डूबने, आपत्ति में पडने, व कोशाम्बी के व्यापारियों द्वारा बचाये जाने का वर्णन है। दण्डी के दशकुमारचरित मे रत्नोद्भव नामक व्यापारी का वर्णन है, जिसने कालत्रवण द्वीप मे जाकर एक लडकी से शादी की, किन्तु लौटते समय उसका जहाज डूब गया। एक दूसरे व्यापारी मित्रगुप्त ने एक यवन जहाज पर समुद्र-यात्रा की, व मार्ग भूलने पर किसी दूसरे द्वीप पर पहुँचता है। माघ कृत शिशुपाल-वध मे वर्णन आता है कि द्वारिका से हस्तिनापुर जाते समय श्रीकृष्ण उन व्यापारियों को देखते हैं, जो माल से लदे जहाजों में विदेशों से आते हैं, व भारत के माल को पुन विदेशी जहाजों में भर चाते हैं सोमदेव-कृत कथासरित्सागर मे भी समुद्र-यात्रा का उल्लेख है। इसके नवें लम्बक की प्रथम तरङ्ग मे एक कलाकार के साथ पृथ्वीराज के मुक्तिपुर-द्वीप जाने का वर्णन है। दूसरी तरङ्ग में समुद्र-यात्रा करते समय जहाज-डूब जाने पर एक व्यापारी व उसकी स्त्री के एक-दूसरे से बिछुड जाने का वर्णन है। चौथी तरङ्ग मे समुद्रसुर व एक दूसरे

व्यापारी का व्यापार के लिए सुवर्णद्वीप जाने व उनके जहाज के डूबने का वर्णन है। छठी तरग मे व्यापारी-जहाजो पर चन्द्रस्वामी के भिन्न-भिन्न द्वीपो मे अपने पुत्र की खोज मे जाने का वर्णन है। हितोपदेश मे भी समुद्र-यात्रा के जहाज व व्यापारियो का उल्लेख आता है। उसमे लिखा है कि एक व्यापारी बारह वर्ष तक समुद्र-यात्रा करता रहा व अन्त में अपने जहाज को बहुत से अनमोल रत्नो से लादकर वापिस आया।

प्राचीन काल मे दक्षिण भारत मे मोतियो का व्यापार बहुत जोरो में था, जिसके लिए नौका-विद्या का ज्ञान रहना आवश्यक है। बृहत्सहिता, गरुडपुराण आदि मे हिन्द महासागर मे किये जाने वाले मोती के धन्धे का उल्लेख है जिसके मुख्य केन्द्र सिहल, पारलौकिक, सौराष्ट्र ताम्रपर्णी, पारसव, कौवेर, पाण्डयवाटक व हैम देश के किनारे थे।

अन्य उद्योग-धन्धे—प्राचीन भारत के आर्थिक विकास मे दस्तकारी आदि धन्धो का भी विशेष हाथ था। ऋग्वेद मे कितने ही स्थानो मे चरखे द्वारा सूत कातने व कपडा बुनने का उल्लेख है, उत्तरीय व अधो-वस्त्र धारण करने का भी उल्लेख उसमे आता है। इससे मालूम होता है कि प्राचीन भारत में हाथ से सूत कातकर कपडा बनाने का धन्धा उन्नत अवस्था मे था। इसका ग्रामों मे विशेष-रूप से प्रचार होगा। ऋग्वेद (२।३।६) मे बुनने वाले को 'वय' कहा गया है। पूषा को ऊन का कपडा बुनने वाला कहा गया है। 'सिरी' शब्द भी कदाचित् बुनने वाले के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'तन्तु', 'तन्त्रु', 'ओतु', 'तसर,' 'मयूख' आदि शब्द, जिनका उल्लेख ऋग्वेद (६।९।२, ३, १०।७१।६, ६।६।२, १०।१३०।२, ७।६६।३, १०।२६।६) मे आता है, बुनने की,कला से ही सम्बन्धित है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद मे रथ बनाने के लिए विभिन्न धातुओं को गलाने, गहने बनाने, हथियार बनाने, घर बनाने, नाव जहाज आदि बनाने, व अन्य ऐसे कितने ही धन्धों का अप्रत्यक्ष उल्लेख आता है। यजुर्वेद (३०।६-७, ११, १७, २०)

२०) मे विभिन्न धन्धो को करने वालो का स्पष्ट उल्लेख है जैसे रथकार, तक्षा, कौलाल, कर्मकार, मणिकार, इषुकार, धनुष्कार, रज्जुसर्ज, मृगयु, हस्तिप, अश्वप, गोपाल, अविपाल, अजपाल, सुराकार, हिरण्यकार, वणिक्, ग्वालिन् आदि। इन नामो से तत्कालीन आर्थिक विकास का पता चलता है। सम्भवत इन सब धन्धो वाले बौद्ध काल के अनुसार सगठित रूप से रहते होगे। ज्यो-ज्यों समय बीतता गया, त्यो-त्यों इन धन्धों की उत्तरोत्तर वृद्धि होती ही रही। ब्राह्मण, सूत्र, स्मृति, बौद्ध व जैन साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से विभिन्न धन्धों के विकास व समाज की समृद्धिशील अवस्था का पता लगता है। बौद्ध जातकों की सहायता से ई० पू० सातवीं या छठवी शताब्दी मे भारत की आर्थिक परिस्थिति का बहुत सुन्दर चित्र खींचा जा सकता है। उस समय के उन्नत व्यापार का विस्तृत वर्णन पहले ही कर दिया गया है। यहाँ पर तत्कालीन सगठित व विकसित धन्धों के बारे मे कुछ जानना आवश्यक है।

बौद्ध-काल मे धन्धे—इस काल मे भिन्न-भिन्न कलाएँ दस्तकारियाँ धधे आदि का आश्चर्यजनक विकास किया गया था। 'दीर्घनिकाय' (१।५१) मे विभिन्न दस्तकारियों व धन्धो का उल्लेख है। राजा अजातशत्रु ने गौतम बुद्ध से पूछा कि तुम्हारे सन्यास से क्या लाभ है, जब कि लोग विभिन्न धन्धो द्वारा द्रव्य कमाकर चैन से रहते हैं? इसके पश्चात् उक्त राजा ने उन धन्धों की सूची दी, जोकि इस प्रकार है—हाथी पर सवारी करने वाले, घुडसवार, रथ पर बैठने वाले, धनुष-बाण चलाने वाले, पाँच प्रकार के सैनिक काम करने वाले, दास, भोजन बनाने वाले, नाई, स्नानागार के नौकर, हलवाई, फूलमाली, धोबी, जुलाहे, बसोड, कुम्हार, मुनीम आदि। अन्य स्थान पर विभिन्न धंधे करने वालो के सघो के उल्लेख के अवसर पर कितने ही धधों का वर्णन आया है, जैसे (१) लकडी का काम करने वाले, चाक, घर, नाव व सब प्रकार की गाडियाँ बनाने तथा बढ़ई का काम करते थे, (२) धातु का

काम करने वाले लोहे के औजार, सब प्रकार के हथियार, बारीक-से-बारीक सुइयाँ व सोने-चांदी के गहने आदि बनाते थे, (३) पत्थर का काम करने वाले घर या तालाब की पैडियाँ, बडे-बडे स्तम्भ, छोटी-छोटी सुन्दर वस्तुएँ आदि बनाते थे, (४) जुलाहे कपडा, बारीक-से-बारीक रेशम, कम्बल, चादरे, दरियाँ, गलीचे आदि बनाते थे, (५) चमडे का काम करने वाले जूते चप्पल व अन्य छोटी-छोटी सुन्दर चीजे बनाते थे, (६) कुम्हार घरेलू काम के लिए सब प्रकार के मिट्टी के बरतन बनाते थे, (७) हाथीदाँत का काम करने वाले हाथीदाँत की छोटी-छोटी सुन्दर चीजे बनाते थे, जिनके लिए भारत आज भी प्रसिद्ध है, (८) रँगरेज,कपडे रँगने का काम करते थे, (९) जडिये रत्न, जवाहरात आदि का सुन्दर काम करते थे, (१०) मछुए मछली पकडते थे, (११) शिकारी शिकार किये हुए जगली जानवर व जगल की शाक-भाजी गाडियो मे भरकर बेचने के लिए नगरो मे लाते थे, (१२) रसोइये व हलवाई, (१३) नाई व मालिश करने वाले, (१४) फूलमाली, (१५) कसाई, (१६) नाविक नदी व समुद्र मे खेने का काम करते थे, (१७) बसोड, व (१८) चित्रकार।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि बौद्ध-काल मे कितना आश्चर्यजनक आर्थिक विकास हुआ था। ऊपर बताये हुए धन्धे अधिकाश रूप में नगरो से सम्बन्धित थे। ग्रामो में कृषि, गो पालनादि का अधिक प्रचार था। यहाँ यह बात विशेष रूप से याद रखने योग्य है कि बौद्ध-ग्रन्थो मे निर्दिष्ट उद्योग-धधे यजुर्वेद मे भी उल्लिखित है। रामायण, महाभारत, पुराण आदि ग्रन्थो से भी इसी बात की पुष्टि होती है। मौर्यो, आन्ध्रो, गुप्तों आदि के समय में भी यही परिस्थिति थी। इसमे आर्थिक व्यवस्था की सत्यता का भी पता चलता है।

धन्धों का सगठन—ये सब धंधे जैसा कि बौद्ध-साहित्य से मालूम होता है, संगठित रूप से चलते थे। इन सबके सगठन थे, जिन्हे पूग, श्रेणि, निगम आदि नामो से जाना जाता था। स्मृत्यादि ग्रन्थो में

इन संगठनों के सञ्चालन, उनकी व्यवस्था आदि के नियम वर्णित हैं। राजा की ओर से भी उनके नियमों को मान्यता दी जाती थी। प्राचीन राजवंशों, विशेषकर आन्ध्रों व गुप्तो के लेखों में भी श्रेणि, पूग आदि का स्पष्ट उल्लेख है, जिससे उनकी कार्य प्रणाली आदि पर अच्छा प्रकाश पडता है। उनके सञ्चालन आदि के बारे में मालूम होता है कि सदस्यों पर उनका पूरा-पूरा नियन्त्रण रहता था, यहाँ तक कि विवाह आदि के बारे मे भी उनकी सलाह लेनी पडती थी। सदस्यो की शिक्षा की व्यवस्था भी की जाती थी। सुनार, जुलाहे आदि के लडके श्रेणि, निगम, पूग आदि की सहायता से किसी कुशल कारीगर के यहाँ रहकर काम सीखते थे। ये प्रथाएँ आज तक भी विकृत रूप मे वर्तमान हैं।

श्रेणि, पूग, निगम आदि की नियमित रूप से सभाएँ हुआ करती थीं, जिनमें बहुमत से प्रस्ताव स्वीकार किये जाते थे। सभा के प्रधान को 'श्रेष्ठिन्' कहते थे। आजकल भी गुजराती बनियों की जाति का सरपञ्च 'सेठ' कहलाता है। विभिन्न श्रेणियो आदि का भी एक केन्द्रीय सगठन रहता था, जिसका प्रमुख 'महाश्रेष्ठिन्' कहलाता था। इन सगठनो द्वारा खरीदे व बेचे जाने वाले माल की कीमत का नियन्त्रण भी होता था। कहीं-कही इन्हें अपने सिक्के चलाने का भी अधिकार प्राप्त था। इस प्रकार विभिन्न धन्धे करने वालो का जीवन पूर्णतया सगठित था यह सगठित जीवन बहुत दिनों तक रहा। आज भी हम इसके बिगडे स्वरूप को विभिन्न जातियों के रूप में पाते हैं। जाति-नियमों की कडाई से शक्तिशाली सगठन का पता चलता है।

वार्ता—आर्थिक विकास के साथ-साथ विद्वानों ने आर्थिक समस्याओं को समझकर तत्सम्बन्धी उत्तमोत्तम सिद्धान्त भी विकसित किये थे, जोकि विभिन्न ग्रन्थो मे समाविष्ट किये गए हैं। इस शास्त्र को 'वार्ता' कहते थे। प्राचीन साहित्य में अन्य विद्याओ के साथ मे वार्ता का भी उल्लेख आता है। प्राचीन काल में इस शास्त्र मे निष्णात कितने ही आचार्य थे, जिनका उल्लेख 'कौटिलीय अर्थ-शास्त्र' में पाया जाता है।

'कौटिलीय अर्थशास्त्र' इस विषय का अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। कुछ ऐतिहासिकों के मतानुसार उसमे मौर्यकालीन राजनैतिक व आर्थिक परिस्थिति का दिग्दर्शन है।

आर्थिक विकास का प्रभाव—प्राचीन भारत के आर्थिक विकास ने सामाजिक जीवन को भी प्रभावित किया था। समाज मे समृद्धि रहने के कारण विभिन्न कला, विद्या आदि का विकास होने लगा। विद्वान् लोग जीवन के आध्यात्मिक पहलू पर अधिक परिश्रम करने लगे, क्योंकि उन्हे जीवन-कलह के लिए विशेष परिश्रम नही करना पडता था। सब लोगों को अन्न, वस्त्र तथा अन्य दैनिक आवश्यकताएँ सरलता से प्राप्त होती थीं। इसलिए उन्हे संसार की पहेलियो के समझने तथा अध्यात्म-जीवन को उन्नत बनाने के लिए अधिक समय मिलता था।

उपसहार—साराश में यह कहा जा सकता है कि वैदिक काल से ही भारत के आर्थिक जीवन का विकास प्रारम्भ हो चुका था। कृषि का प्राधान्य था, किन्तु गाय, भेड, बकरी का पालन, कपडा बुनना व नाना प्रकार की अन्य वस्तुएँ बनाने का ज्ञान भी लोगों को था। यह सब संगठित रूप से किया जाता था। प्राचीन साहित्य से सगठित आर्थिक जीवन का पता चलता है। राजा का भी कर्तव्य था कि वह आर्थिक सस्थाओं का आदर करे तथा उन्हे पूरी-पूरी सहायता दे। भारत के ग्राम विशेष रूप से उत्पादन के केन्द्र थे। प्राचीन काल मे व्यापार का भी खूब विकास हुआ था, विशेषकर समुद्र द्वारा वैदेशिक व्यापार का। भारत की कपास, कपड़ा, मोती, हाथीदाँत, रत्न आदि की बनी हुई चीजें, मसाला आदि पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ्रीका, दक्षिणी व पश्चिमी यूरोप के बाजारो में बिकने जाते थे। इस प्रकार भारत के व्यापारी विदेशों से कितना ही सोना भारत में लाते थे। यही कारण है कि प्राचीन भारत धनधान्यपूर्ण व समृद्धिशाली था।

६

राजनीतिक विकास

राजनीति की प्राचीनता—प्राचीन भारत के सास्कृतिक विकास मे राजनीति का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। ऋग्वेदादि प्राचीन साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से तत्कालीन राजनीतिक विकास का पता लगता है। प्राचीन भारत मे राजनीति के बहुत से सिद्धान्त ज्ञात थे। वेदों में राजा (ऋ० १०।१७८, अथर्व० ६।८७।८८) सभा (ऋ० १०। ७१।१०, अथर्व० ७।१२, यजु० १६।२८, १६।२४), समिति (अथर्व० ६।८८।३, ५।१६।१५), राजकृत (अथर्व० ३।५।६-७), राजा का चुनाव (अथर्व० ३।४।२), राजाओं का पदच्युत किया जाना व पुन सिहासनारूढ़ किया जाना (अथर्व० ४।८।४, ३।३।५, ३।४।६) आदि से तत्कालीन राजनीतिक जागृति का स्पष्ट दिग्दर्शन होता है। यह भी ज्ञात होता है कि राजा पर प्रजा का पर्याप्त नियन्त्रण रहता था। प्रजा में पूरी राजनीतिक जागृति थी। वेदों मे वर्णित सभा और समिति द्वारा कहीं-कहीं राजा का चुनाव होता था। इस प्रकार वैदिक काल में पर्याप्त राजनैतिक विकास हुआ था। राजनीति के सिद्धान्तों को समझने का प्रयत्न किया गया था तथा इस शास्त्र को वैज्ञानिक ढग पर विकसित भी किया गया था। इस शास्त्र में निष्णात कितने ही आचार्य हुए थे जिनका उल्लेख 'कौटिलीय अर्थ-शास्त्र' (साम शास्त्री द्वारा अनुवादित, पृ० ५-६, १३-१४) व महाभारत (शान्ति० ५७ ५८) में आता है।

विशेलाक्ष, इन्द्र (बहुदन्त), बृहस्पति, शुक्र, मनु, भारद्वाज, गौरशिरस् पराशर, पिशुन, कौणपदन्त, वातव्याधि, घोटमुख, कात्यायन, चारायण आदि राजनीति के आचार्य अर्थशास्त्र मे उल्लिखित किये गए है और उनमे कुछ के राजनीतिक सिद्धान्तो का विवेचन भी किया गया है। महाभारत में शिव, विशालाक्ष, इन्द्र, बृहस्पति, शुक्र, मनु, भारद्वाज, गौरशिरस् आदि राजनीति के महान् लेखको का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त धर्म-सूत्रों (आप० २।५।१०।१४, आश्व० गृ० ३।१२।१६), स्मृतियो (मनु० ७।१ व आगे) आदि में भी राजधर्म-प्रकरण मे राजनीति के तत्त्वो का विवेचन किया गया है। अर्थ-शास्त्र के अतिरिक्त राजनीति-विषयक ग्रन्थ बहुत कम है, जैसे कामन्दकीय नीतिसार (ई० स० ५००), शुक्रनीति (आठवी शताब्दी का अन्तिम भाग) आदि, जो कि अर्थ-शास्त्र के आधार पर लिखे गए है। पञ्चतन्त्र तथा हितोपदेश आदि में राजनीति के तत्त्वो को कहानियो के रूप मे लौकिक ढङ्ग पर समझाया गया है।

शासन की उत्पत्ति—शासन की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे राजनीति-विशारदों ने विभिन्न सिद्धान्तो को विकसित किया था, जैसा कि आधुनिक काल मे देखा जाता है। साधारणतया इस सम्बन्ध के छ सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराया जा सकता है, जैसे (१) परमात्मा द्वारा प्रेषित व्यक्ति विशेष द्वारा शासन का सूत्रपात्र, (२) मात्स्य-न्याय (३) सतयुग, (४) सामाजिक इकरारनामा, (५) पितृप्राधान्य-सिद्धान्त, व ईश्वर प्रदत्त शासन-सत्ता।

व्यक्ति-विशेष द्वारा शासन का सूत्रपात—इस सिद्धान्त के अनुसार परमात्मा किसी व्यक्ति को भिजवाकर किसी देश या राष्ट्र मे शासन का सूत्रपात करता है। प्राचीन भारत ने मनु को परमात्मा द्वारा प्रेषित शासन का पुरस्कर्ता माना था। मनु ने ही राज-सत्ता का श्री गणेश किया, यह बहुत-से प्राचीन लेखकों का मन्तव्य है। यह सिद्धान्त पाश्चात्य जगत् मे भी पाया जाता है। प्राचीन स्पार्टा में लायकरगस,

एथेन्स मे सोलन व मिस्र मे मोजेज को शासन का आदि-प्रर्वतक मानते थे।

मात्स्य-न्याय—इस सिद्धान्त के अनुसार प्रारम्भिक अवस्था मे मनुष्य आपस मे खूब लडते झगडते थे। सब जगह पूर्ण अराजकता थी शक्तिशाली अशक्तों का नाश करते थे, जैसे बडी मछलियाँ छोटी मछलियों को खा जाती हैं। कुछ समय पश्चात् लोगों ने ऐसी परिस्थिति को अत्यन्त ही कष्टदायक अनुभव किया तथा सुख व शान्ति से रहने के लिए अपने को शासन के सूत्र में बाँध लिया। ऐतरेय ब्राह्मण, महाभारत शान्तिपर्व, अर्थशास्त्र, मनुस्मृति, कामन्दकीय नीति, शुक्रनीति आदि मे मात्स्यन्याय के सिद्धान्त का अच्छा विवेचन किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण (१।१४) में लिखा है कि "देव और असुर इस लोक मे आपस मे लडने लगे। असुरो ने देवताओ को जीत लिया। देव कहने लगे, अराजकता के कारण वे हमे जीतते हैं। हमे चाहिए कि हम किसी को अपना राजा बनावे।" मनुस्मृति (७।३,२०) मे लिखा है कि "इस अराजक लोक मे, जहाँ चहुँओर भय-ही भय था, सबकी रक्षा के लिए परमात्मा ने राजा को उत्पन्न किया। यदि लोक मे दण्ड न हो तो सब प्रजा नष्ट हो जायगी। पानी मे मछलियों के समान अधिक ससक्त अशक्तो को खा जायँगे।" बौद्ध जातक (१।३१६) में इसी सिद्धान्त का अनुसरण करके कहा गया है कि इस कल्प का सर्वप्रथम राजा सुमेध था। प्रारम्भिक अराजकता को दूर करने के लिए वह राजा बनाया गया था। उसने समस्त अराजकता को दूर करके मानव-समाज मे पुनर्व्यवस्था व सगठन की स्थापना की। पाश्चात्य राजनीतिज्ञ हॉब्स ने भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

सतयुग—इस सिद्धान्त के अनुसार मानव-समाज प्रारम्भिक अवस्था मे सुख और शान्ति से रहता था। उस समय न शासन की आवश्यकता थी और न ही शासक की। सब लोग धर्म से रहकर सुख व शान्ति का अनुभव करते थे, तथा नैसर्गिक नियमो से शासित किये

जाते थे। कुछ समय पश्चात् मनुष्यो ने अपनी स्वतन्त्र इच्छा से इस परिस्थिति का अन्त किया और राज-सत्ता के अधीन रहना स्वीकृत कर लिया। उन्होंने सामाजिक उन्नति के लिए वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की परवाह नही की। महाभारत (शान्ति पर्व, ५८), दीघनिकाय (३।८४-९६) आदि ने इसी सिद्धान्त का विवेचन करते हुए प्रारम्भिक शान्ति और सदाचार के साम्राज्य का विशद वर्णन किया है। नारद (अध्याय १,२) व बृहस्पति (१।१) स्मृतियों मे भी स्वर्ण-युग का वर्णन है। पाश्चात्य विद्वान् प्लेटो व राजनीतिज्ञ लॉक भी इसी मन्तव्य को मानते है।

सामाजिक इकरारनामा—इस सिद्धान्त के अनुसार प्रारम्भिक अवस्था में मानव समाज सतयुग मे सुख और शान्ति से रहता था। किसी को कष्ट नहीं था। किसी प्रकार का भी पाप नही था। किन्तु लोग धीरे-धीरे मोह से अभिभूत होकर सन्मार्ग से बिछुडने लगे और समाज मे अशान्ति फैलने लगी। अतएव जनता ने एकत्रित होकर अपने मे से एक को राजा बनाया। राजा ने यह इकरार किया कि मैं प्रजा की रक्षा करूँगा, प्रजा ने भी उसका आधिपत्य स्वीकार किया व राजा को रक्षा करने के वेतन-रूप धान्य का षड्भागादि देना स्वीकार किया। महाभारत (शान्ति० ६६), अर्थ-शास्त्र (१।१४) आदि मे इस सिद्धान्त का स्पष्ट विवेचन किया गया है, जहाँ कहा है कि कृतयुग मे पहले पहल राज्य, राजा, दण्ड, दण्डिक आदि कुछ भी नहीं थे। सब लोग धर्म से ही परस्पर रक्षा करते थे। किन्तु वे धीरे-धीरे मोहाभिभूत हुए और उन्हे कष्ट होने लगा। वे लोग आपस मे लडने लगे। इस मात्स्य-न्याय से सताये जाने पर उन्होंने वैवस्वत मनु को अपना राजा बनाया, और वे धान्य-षड्भाग व पण्य-दश-भाग देने लगे। पाश्चात्य राजनीतिज्ञ रूसो ने भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था, जिससे प्रेरित होकर फ्रांस के लोगो ने क्रान्ति (ई० स० १७८९) की थी।

पितृ-प्राधान्य सिद्धान्त—इस सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि शासन का सूत्रपात परिवार से होता है। परिवार मे पिता सर्वोपरि

रहता है, तथा सबका शासन करने वाला होता है। ज्यो ज्यो मानव-समाज विकसित होने लगा, त्यों-त्यों पारिवारिक शासन के अनुसार राजकीय शासन का भी विकास हुआ। कदाचित् प्राचीन आर्यों में शासन का प्रारम्भ इसी प्रकार हुआ होगा। वैदिक काल के 'राजा', 'विशपति', 'जन', 'विश' आदि शब्दो के अपभ्रष्ट रूप यूरोप की मुख्य-मुख्य भाषाओ मे पाये जाते हैं, जिनसे स्पष्ट है कि प्राचीन काल के समस्त आर्य विभिन्न विभागों मे विभक्त थे, जिनका मूल 'कुल' था। सर हेनरी मेन इस सिद्धान्त का समर्थन करते हुए कहते हैं कि सोलहवीं व सत्रहवीं शताब्दी मे रूस मे लगभग दो सौ या तीन सौ परिवार ऐसे थे जोकि एक ही गृहपति द्वारा सञ्चालित व शासित किये जाते थे। इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन अथर्ववेद (८।१०।१-३) में भी किया गया है। सुप्रसिद्ध यूनानी कवि होमर के मतानुसार भी राजशासन कतिपय व्यक्तियों के शासन से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि राजशासन का प्रारम्भ कुल से ही हुआ है।

यहाँ विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि आधुनिक काल में शासनोत्पत्ति के जो-जो सिद्धान्त राजनैतिक क्षेत्र मे वर्तमान हैं, वे प्राचीन भारत के राजनीति-विशारदों को भी पूर्णतया ज्ञात थे।

ईश्वर-प्रदत्त शासन-सत्ता—शासन की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे एक और सिद्धान्त था। राजा परमात्मा का अंश माना जाता था। जनता को शासन मे रखने के लिए परमात्मा स्वय नररूप धारण करता था। इस सिद्धान्त का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण (५।१५।१४) मे आता है, जहाँ राजा को प्रजापति कहा गया है, क्योंकि उसके अधीन कितने ही व्यक्ति रहते हैं। वहाँ 'चक्रवतिन्' शब्द के चक्र को विष्णु के चक्र से सम्बन्धित किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण (८।२।६) में राज्याभिषेक के प्रसङ्ग पर अग्नि, गायत्री, स्वस्ति, बृहस्पति आदि देवताओं से राजा के शरीर में प्रवेश करने की प्रार्थना की गई है। महाभारत (शान्ति०५९) मे वर्णन आता है कि नारायण ने अपने तेज से एक पुत्र उत्पन्न किया,

तथा पृथुवैन्य का सातवाँ वंशज राजा बनाया गया। विष्णु भगवान् ने उसके शरीर मे प्रवेश किया। इसीलिए समस्त विश्व ने उसे परमात्मा समझकर उसका आधिपत्य स्वीकार किया। देव व नरदेव मे कोई अन्तर नहीं है। मनुस्मृति (७।८) मे कहा है कि राजा नररूप में देवता ही हैं। शुक्रस्मृति मे राजा की तुलना इन्द्र, वायु, रवि, यम, अग्नि, कुबेर आदि देवताओं से की गई है। नारदस्मृति मे राजा को ईश्वर का अंग माना गया है। राजा को देवता का अंश मानने का यह मतलब कदापि नहीं था कि वह निरंकुशता से चाहे जो कर सकता था। जो राजा प्रजा-पालन आदि कर्तव्यों को अच्छी तरह से निबाहता था और प्रजा को प्रसन्न रखता था, उसी को देवता कहलाने का अधिकार प्राप्त था, अन्य को नहीं। जो राजा प्रजा को सतावे उसे कुत्ते के समान मार डालने का महाभारत (अनुशासन ६१।३२,३३) ने आदेश दिया है। वेन, नहुष आदि राजाओं का यही हाल हुआ था। प्रजा के दोषों के लिए राजा को जिम्मेदार समझा जाता था। इस प्रकार देवता का अंश समझे जाने पर भी राजा का जीवन उत्तरदायित्वपूर्ण था।

आठ प्रकार के शासन-विधान—आधुनिक काल के अनुसार प्राचीन भारत मे भी भिन्न भिन्न प्रकार के शासन-विधान वर्तमान थे। राजा द्वारा शासित राज्य से लेकर प्रजातन्त्र तक नाना प्रकार की शासन-प्रणालियाँ वर्तमान थी। ऐतरेय ब्राह्मण (८।१३) मे आठ प्रकार के शासन-विधान उल्लिखित है तथा उसमे वहाँ के शासकों की विभिन्न पदवियों का और जिन देशों मे वे विधान प्राप्त थे उनका भी उल्लेख है। निम्नाङ्कित तालिका से यह बात स्पष्ट हो जाती है

शासन-विधान	पदवी	स्थान-निर्देश
(१) साम्राज्य	सम्राट्	पूर्व
(२) भौज्य	भोज	दक्षिण
(३) स्वाराज्य	स्वराट	पश्चिम

शासन-विधान	पदवी	स्थान-निर्देश,
(४) वैराज्य	विराट्	उत्तर (उत्तर मद्र, उत्तर कुरु)
(५) राज्य	राट्	कुरु पाञ्चाल
(६) पारमेष्ठ्य		कुरु पाञ्चाल से उत्तर की ओर
(७) माहाराज्य		
(८) आधिपत्य (स्वावश्य)		

इन शासन-विधानो की शासन सम्बन्धी क्या-क्या विशेषताएँ थी, इस सम्बन्ध मे विस्तार रूप से नहीं कहा जा सकता, किन्तु उन्हे दो विभागो मे विभाजित किया जा सकता है, जैसे प्रजातन्त्र व राजतन्त्र। प्रजातन्त्र शासन-विधान मे जनसाधारण की सत्ता सर्वोपरि रहती थी। राजतन्त्र-शासन-विधान मे राजा ही सर्वोपरि रहता था, तथा प्रजा को उसका आधिपत्य स्वीकार करना पड़ता है। कहीं-कहीं प्रजा के प्रतिनिधियो द्वारा राजा चुना जाता था और उसके अधिकार परिसीमित रहते थे, कही-कहीं राजा वशक्रमागत ही रहता था। ऊपर बताये हुए आठ शासन-विधानो मे से भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य आदि प्रजा सत्तात्मक तथा साम्राज्य, राज्य, पारमेष्ठ्य, माहाराज्य, आधिपत्य आदि राजसत्तात्मक प्रतीत होते है।

यदि निर्दिष्ट शासन-विधानों पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि उक्त शासन-विधानों में से स्वाराज्य साम्राज्य, भौज्य आदि तीन की पुष्टि इतिहास से होती है। प्राचीन काल मे बडे बडे साम्राज्यो का सूत्रपात पूर्व दिशा में ही हुआ था, जैसे जरासन्ध व शिशुपाल का साम्राज्य तथा शैशुनाग, नन्द, मौर्य, गुप्त आदि साम्राज्य। इसी प्रकार पश्चिम मे प्रजातन्त्रो का आधिक्य रहा है, जैसे मालव, क्षुद्रक, आर्जुनायन, यौधेय आदि। बौद्ध साहित्य, पुराण,

अशोक के धर्म लेख आदि से दक्षिण के भौज्यो का पाता चलता है।

ऐतरेय ब्राह्मण में निर्दिष्ट शासन-विधानों के अतिरिक्त प्राचीन साहित्य में अन्य शासन-विधानों का भी उल्लेख आता है, जो कि इस प्रकार हैं—(१) राष्ट्रिक, इसमें 'राष्ट्रिक सापत्य' अथवा समाज के नेताओं द्वारा शासन होता था, जो कि वशक्रमामत नहीं रहते थे, यह शासन-विधान पूर्वीय व पश्चिमी देशो में पाया जाता था, (२) पेत्तनिक, यह राष्ट्रिक का उल्टा था तथा भौज्य से मिलता-जुलता था, अशोक के लेखों से मालूम होता है कि पेत्तनिकों का अस्तित्व पश्चिम में था, (३) द्वैराज्य, इसका उल्लेख अर्थशास्त्र में है। महाभारत से पता चलता है कि अवन्ती में कुछ समय तक यह शासन विधान था, ईसा की छठवीं व सातवीं शताब्दी के शिला-लेखों से पता चलता है कि नेपाल में ऐसा ही शासन-विधान वर्तमान था, (४) अराजक, इस शासन-विधान की विशेषता थी कि कोई राजा नहीं रहता था, सब लोग स्वय ही नियमों का पालन करते थे, किसी नियम पालन कराने वाले की आवश्यकता ही न रहती थी, जैन सूत्रों में इसका उल्लेख है, जहाँ और ऐसे शासन-विधानों का भी उल्लेख है, जैसे गण राज्य, युवराज-राज्य, द्वैराज्य, वैराज्य, विरुद्ध रजाणि आदि, (५) उग्र, वैदिक साहित्य में उग्र का उल्लेख है, कदाचित् केरल में यह शासन विधान था, जैन-साहित्य मे भी इसका उल्लेख है, (६) राजन्य, इसका उल्लेख जैन-सूत्रों में आता है। ये सब प्रजा-सत्तात्मक शासन विधान प्रतीत होते हैं। इनमें से स्वाराज्य आदि का उल्लेख यजुर्वेद (१५।१३) में भी आता है। इन शासन-विधानों के अनुसार जो सर्वोपरि सत्ता का अधिकारी बनता था, उसका भी राज्याभिषेक आवश्यक समझा जाता था, क्योंकि आर्य शासकों के लिए 'मूर्धाभिषिक्त' होना अनिवार्य-सा ही था, केवल धर्म-च्युत यवनो का राज्याभिषेक नही होता था।

शुक्रनीति (१।१४-१५, और आगे) मे भी विभिन्न शासन विधानों का वर्णन है, किन्तु उनमें से अधिकाश राजसत्तात्मक है तथा उनका

विभाजन उनके 'रजक कर्ष' के आधार पर हुआ है। वे शासन-विधान इस प्रकार हैं—(१) सामान्त, एक लाख से तीन लाख तक 'रजककर्ष', (२) माण्डलिक, चार लाख से दस तक, (३) राजन्, ग्यारह लाख से बीस लाख तक, (४) महाराज, इक्कीस लाख से पचास तक, (५) स्वाराज्य, इक्यावन लाख से सौ तक, (६) सम्राज, एक करोड से दस तक (७) विराज, ग्यारह करोड से पचास तक, (८) सार्वभौम, इक्यावन करोड व उससे अधिक।

राजतन्त्र व प्रजातन्त्र—उपरोक्त शासन-विधानों पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करने से स्पष्ट होता है कि ये सब दो मुख्य विभागों मे विभाजित किये जा सकते हैं। पहले विभाग को राजतन्त्र कह सकते हैं। इसके अन्तर्गत वे सब शासन-विधान आ जाते हैं, जहाँ सर्वोपरि सत्ता किसी वंशक्रमागत या चुने हुए राजा के हाथ में रहती है, जैसे राज्य, साम्राज्य, महाराज्य, पारमेष्ठ्य आदि। दूसरे विभाग को प्रजातन्त्र कह सकते है तथा इसमें वैराज्य-स्वाराज्य आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। इनमे प्रजा की सत्ता ही सर्वोपरि रहती थी। प्रजा-सत्तात्मक शासन को पारिभाषिक शब्दों में 'सङ्घ शासन' भी कहते थे। सङ्घ भी दो प्रकार के थे, जैसे गण, जहाँ प्रजा के प्रतिनिधियों द्वारा शासन किया जाता था, और कुल, जहाँ वशक्रमागत सामन्तों के हाथ मे सत्ता के सूत्र रहते थे। अब दोनों विभागों का सविस्तार विवेचन आवश्यक है।

राजा व उसके अधिकार—महाभारतादि प्राचीन ग्रन्थों में 'राजा' शब्द के व्युत्पत्यर्थ का सम्यक् निरूपण किया गया है। वहाँ समझाया गया है कि प्रजा का रञ्जन करना, उसे समृद्धिशील बनाकर प्रसन्न करना ही राजा का मुख्य कर्तव्य था। महाभारत में लिखा है कि वह राजा इसलिए कहलाता है कि उसे प्रजा-रञ्जन करना पडता है। कालिदास ने भी रघुवश में रघु के लिए यही भाव व्यक्त किया है। प्राचीन भारत के राजा भी अपने कर्तव्यों के पालन में कोई बात उठा

बन रखते थे। लोकाराधन के लिए राम ने अपनी प्राण-प्यारी सीता को भी त्याग दिया। प्राचीन साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि समाज ने अराजकता को दूर करने तथा सुख-शान्तिपूर्वक रहने के लिए राजा का नियन्त्रण स्वीकार किया। किन्तु राजा निरकुश नहीं बन सकता था। वह प्रजा का रक्षण करने के लिए नियुक्त किया गया था, और उस काम के लिए कृषि की आमदनी का छठवाँ तथा व्यापार की आमदनी का दसवाँ भाग उसे वेतन के रूप में दिया जाता था। इस प्रकार वह जनता का वेतनभोगी रक्षक माना जाता था। उसे अपना कर्तव्य न करने पर पद-च्युत भी किया जा सकता था।

दो प्रकार के राजा—प्राचीन भारत मे राजा दो प्रकार के रहते थे—वंश-क्रमागत व निर्वाचित। वेद, ब्राह्मण, महाभारत, पुराण आदि प्राचीन ग्रन्थो मे राजाओ के वश-क्रम का उल्लेख है, रामायण, महाभारत पुराण आदि मे उनकी वशावलियाँ भी दी हैं, जिनसे पता चलता है कि राजाओं के अधिकार बहुश वश क्रमागत ही रहते थे। किन्तु ऋग्वेद (१०।१७३),अथर्ववेद (६।८७-८८,३।४।७) तथा अन्य साहित्य मे राजा के निर्वाचन का भी उल्लेख है। वैदिक काल में प्रजा के प्रतिनिधियो की एक समिति होती थी, जिसके द्वारा राजा का निर्वाचन होता था। (ऋ० ६।९२।६, अथर्व० ६।८८।३, ५।१९।१५)। वैदिक काल मे एक और ऐसी सस्था थी, जिसे सभा कहा गया है। कुछ ऐतिहासिकों का मत है कि मन्त्रि-मण्डल का नाम ही सभा था। कोई-कोई उसे समिति के भवन से सम्बन्धित करते हैं।

समिति—सभा व समिति का उल्लेख ऋग्वेद (१०।१७३ ९।१२।६) अथर्ववेद (७।१२।१-२) आदि में कितने ही स्थलो पर आता है, जहाँ लिखा है कि सभा व समिति प्रजापति की दो विदुषी पुत्रियाँ है, जिनमे अच्छे-अच्छे सभासद् एकत्रित होकर उत्तम प्रकार से बोलने की इच्छा प्रगट करते हैं। समिति मे अच्छे-अच्छे भाषण दिये जाते थे और प्रत्येक की यह महत्वाकांक्षा रहती थी कि मै अच्छा वक्ता बनूँ। इस समिति

मे राजा को भी उपस्थित रहना पडता था। वेदों (ऋ० १।९२।६) मे कितने ही स्थलों पर राजा के समिति मे जाने का उल्लेख है। समिति मे विचारैक्य का रहना व मतभेद का न रहना बहुत ही आवश्यक समझा जाता था। उसके सदस्य राजा का निर्वाचन भी करते थे। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद मे राजा के चुनाव का उल्लेख है। राजा के लिए स्पष्टतया कहा गया है कि जनता ने उसे चुना है और वह राष्ट्र के सर्वोच्च स्थान पर बैठकर अपने कर्तव्यो का पालन करे तथा ऐश्वर्य का भागी बने (अथर्व० ३।४।२)। वेद-मन्त्रो में 'राजकृत' शब्द कितनी ही बार उल्लिखित हैं जिससे कदाचित् 'मतदाता' का तात्पर्य है (अथर्व० ३।५।७) समिति द्वारा राजा के पद-च्युत किये जाने तथा पुन उसी पद पर स्थापित किये जाने का उल्लेख भी वेदों मे है (अथर्व० ३।३।६,३।४,१६) इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक काल मे समिति द्वारा राजा का निर्वाचन होता था व उसे समिति की इच्छानुसार ही सब काम करने पडते थे। यदि कोई राजा समिति के विरुद्ध जाता तो वह पद-भ्रष्ट किया जाता था, तथा अपराध स्वीकार करने पर पुन राजपद पर स्थापित किया जाता था।

पौर जानपद व राजा का चुनाव—वैदिक काल के पश्चात् भी राजा के चुनाव का सिद्धान्त कार्यरूप से लाया जाता था। ऐतरेय ब्राह्मण में दिये हुए राज्याभिषेक के वर्णन को ध्यानपूर्वक पढ़ने से चुनाव के सिद्धान्त का पता लग जायगा। पञ्चगरुजातक, तेलपत्त-जातक महावश आदि मे 'महासम्मत' राजा का उल्लेख है। रामायण, महा-भारत आदि मे भी राजा के चुनाव का उल्लेख है। इस काल मे समिति का स्थान पौर जानपद ने ले लिया था। यह सभा पौर जानपद इसलिए कहलाती थी कि नगरो व ग्रामों के प्रतिनिधि इसके सदस्य रहते थे। वैदिक काल की समिति के अनुसार इसका भी राजा पर पूरा-पूरा अधिकार रहता था। वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड (१४।५२) से पता लगता है कि राम को राज-तिलक करने के पूर्व राजा दशरथ

को पौर जानपद की सम्मति लेनी पडी थी। राजा दशरथ की मृत्यु के पश्चात् नये राजा के चुनाव के लिए पौर जानपद की बैठक हुई थी। इसी पौर जानपद ने राम के वन जाने पर भरत को राज-काज सँभालने का आदेश दिया था (रामायण, अयोध्या० ६७।२, १।१३३)। महाभारत (उद्योग० १४६।२१ २५) मे वर्णन आता है कि देवापि को कुष्ठ रोग हो जाने पर जनता ने उसे राजा न बनने दिया, परिणामस्वरूप उसे अपने पुत्र को राजा बनाना पडा। महाभारत के आदि पर्व (८५।३२) में भी पौर जानपद व राजा के सम्बन्ध का उल्लेख आता है, जहाँ लिखा है कि "पौर जानपद ने प्रसन्न होकर नहुष के पुत्र ययाति से कहा कि अपने पुत्र पुरु का अपने राज-सिहासन पर अभिषेक कीजिए।" महाक्षत्रप रुद्रदामन (ई० स० १२०) के गिरनार के शिलालेख मे उसके सब वर्णों द्वारा चुने जाने का उल्लेख है। खालिमपुर के लेख में पालवशी राजा धर्मपाल का प्रजा द्वारा चुने जाने का उल्लेख है। कसकौडी के ताम्रपत्रो मे पल्लवराजा नदीवर्मा का प्रजा द्वारा चुने जाने का वर्णन है। चीनी यात्री यूएनच्वेड् ने लिखा है कि हर्षवर्धन को प्रजा ने राजा चुना था।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत मे राजा के चुनने का सिद्धान्त भी वर्तमान था। वैदिक काल में यह चुनाव समिति द्वारा होता था, और तत्पश्चात् पौर जानपद, ब्राह्मण वृद्धादि द्वारा होने लगा, जिन्हे रामायण, महाभारत आदि में 'राजकर्तार' नाम से सम्बोधित किया गया है। इसका यह मतलब नहीं है कि आधुनिक काल में भारत के 'राष्ट्रपति' या अमरीका के सयुक्त राज्य के 'प्रेसिडेण्ट' के समान राजा का चुनाव होता था तथा उस पद के लिए दो-तीन प्रतिस्पर्धी रहा करते थे, जिनमे से बहुमत प्राप्त करने वाला विजयी कहलाता था। आजकल प्रजातन्त्र के नाम पर चलने वाली दूषित अहमहमिका प्राचीन भारत में नहीं थी। राजा के चुनाव से तो उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं था। साधारणतया राजा वंश-क्रमागत रहता था। उसके उत्तरदायित्व व

कर्तव्यों का स्पष्टीकरण कर दिया गया था। जो राजा अपने उत्तरदायित्व को समझकर कर्तव्यो का पालन नहीं करता था,वह समिति या पौर जानपद के द्वारा राज-पद से च्युत किया जाता था, तथा अन्य योग्य व्यक्ति राजा बनाया जाता था, जोकि साधारणतया राज-कुल का ही रहता था इसके अतिरिक्त प्रत्येक राजा को अपने पुत्र का राज्याभिषेक करते समय समिति, पौर जानपद आदि की स्वीकृति पहले प्राप्त कर लेनी पडती थी। इस प्रकार राजपद का काम सुचारु रूप से चलता था।

राजा के लिए आवश्यक गुण—राजा बनने के लिए राज-कुल मे जन्म लेना ही पर्याप्त नहीं था, योग्यता व कितने ही गुण प्राप्त करने पडते थे, जिनका वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है—(१) विनय—नीति-शास्त्र के लेखको ने राजा के लिए विनय-प्राप्ति पर बहुत जोर दिया है। इस सम्बन्ध मे मनु, शुक्र, कामन्दक आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय है। (२) नियमबद्धता—प्राचीन स्पार्टा के निवासियों के समान प्राचीन भारत के राजा के लिए भी नियमबद्धता आवश्यक थी। राजा को कडाई के साथ सब नियमो का पालन करना पडता था, जैसा कि कल्हण-कृत 'राजतरङ्गिणी' से काश्मीर के राजा शङ्करवर्मा के बारे में मालूम होता है। (३) इन्द्रिय-दमन—महाभारत, मनु, शुक्र, बार्हस्पत्य, चाणक्य आदि इस पर विशेष जोर देते हैं। राजा के लिए द्यूत, पान, स्त्री आदि निषिद्ध थे। किन्तु इन्द्रिय-दमन का मतलब पूर्ण विषय-पराङ्मुखता नहीं था। (४) वृद्धसेवित्व—राजा को वृद्धो की सेवा करनी पडती थी, तथा उनकी सलाह से राज-काज चलाना पडता था। मनु, बार्हस्पत्य, अर्थशास्त्र आदि ने इसका विवेचन किया है। (५) विद्या-प्राप्ति—राजा के लिए विद्या-प्राप्ति अत्यन्त ही आवश्यक समझी जाती थी। त्रयी अर्थात् वेद, आन्वीक्षिकी अर्थात् दर्शन, वार्ता अर्थात् अर्थशास्त्र, दण्डनीति अर्थात् राजनीति आदि का विशेष अध्ययन करना पडता था। इस सम्बन्ध मे कलिङ्ग के चेतवंशीय राजा खारवेल (ई० पू० द्वितीय शताब्दी) के हाथीगुम्फा लेख से प्रमाण मिलता है।

खारवेल ने पन्द्रह वर्ष की अवस्था से ही इन विद्याओ का पठन प्रारम्भ कर दिया था। लेख—राजकीय पत्रादि के लिखने की कला, रूप—सिक्को की कला, गणना—हिसाब-किताब, व्यवहार—न्यायादि करने का ढङ्ग, न्यायालय के नियम आदि, विधि—राजनियम आदि।

उपरोक्त गुणों के अतिरिक्त राजा को सुसगति, सुनृतवाक्, धर्मप्रियता, सुपरिवायुक्तता आदि की प्राप्ति भी करनी पडती थी। राजा को धामिक जीवन व्यतीत करना पडता था। यम-नियमादि द्वारा आत्मनिग्रह का अभ्यास उसके लिए आवश्यक था, किन्तु धामिक कट्टरपन, जिससे राजकाज मे बाधा पहुँच सकती है, सर्वथा अवाञ्छनीय था। राजतरङ्गिणी से मालूम होता है कि राजा सन्धिमान् अत्यन्त ही धामिक था। धामिक कृत्यों से उसे राजकाज सँभालने की फुरसत ही नहीं मिलती थी। परिणामस्वरूप प्रजा उससे असन्तुष्ट हो गई तथा उसे राजगद्दी छोडनी पडी।

कौटिलीय अर्थशास्त्र मे भी राजा के कर्तव्य, शिक्षा आदि का अच्छा विवेचन किया गया है। प्राचीन राजा साधारणतया क्षत्रिय वर्ण के रहते थे। अर्थशास्त्र में क्षत्रिय के कर्तव्य इस प्रकार बताये गए हैं— (१) वेदादि सच्छास्त्रो का अध्ययन, (२) यजन, (३) दान, (४) शस्त्र-जीवन, (५) भूतरक्षण। क्षत्रियों को विभिन्न विद्याओं का भी ज्ञान प्राप्त करना पड़ता था, जैसे (१) त्रयी, अर्थात् वेद, (२) आन्वीक्षिकी, (३) वार्ता, (४) दण्डनीति, (५) इतिहास। इतिहास के अन्तर्गत पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्म-शास्त्र, व अर्थशास्त्र का समावेश होता था। इन विद्याओं से उनको सैनिक शिक्षा, हस्ति-विद्या, अश्व-विद्या, रथ-विद्या, प्रहरण-विद्या आदि का भी ज्ञान प्राप्त करना पडता था। अर्थशास्त्र मे राजा की दिनचर्या भी दी गई है, जो कि इस प्रकार है—

दिवस

प्रात—(१) ६ बजे से ७-३० बजे तक—सोना व कोष-निरीक्षण

	(२)	७-३०	,,	९	,,	—पौर जानपद के कार्य का निरीक्षण।
	(३)	९	,,	१०-३०	,,	—स्नान, सन्ध्या, भोजन व अध्ययन।
	(४)	१०-३०	,,	१२	,,	—अध्यक्षों के पास से कर आदि वसूल करना।
दोपहर—	(५)	१२	,,	१-३०	,,	—अनुपस्थित मन्त्रियों से पत्र-व्यवहार।
	(६)	१-३०	,,	३	,,	—मनोरजन अथवा आत्म-चिन्तन।
	(७)	३	,,	४-३०	,,	—हाथी, घोडे, रथ, पदाति का निरीक्षण।
साय—	(८)	४-३०	,,	६	,,	—सेनाधिपति से विचार-विनियम व साय सन्ध्या।

रात्रि

(१)	६ बजे	से	७-३०	बजे तक	—गुप्तचरो से मुलाकात।
(२)	७-३०	,,	९	,,	—स्नान, भोजन, अध्ययन।
(३) (४) (५)	९	,,	१-३०	,,	—शयन
(६)	१-३०	,,	३	,,	जागना, धर्मशास्त्रों के नियम व दैनिक जीवन का चिन्तन।
(७)	३	,,	४-३०	,,	—मन्त्रि-मण्डल की बैठक, व गुप्तचरों को अपने अपने काम के लिए भेजना।

(८) ४ ३० ,, ६ ,, —पुरोहित, गुरु आदि से आशीर्वाद प्राप्त करना, वैद्यक, पाचक, ज्योतिषी आदि से मुलाकात, सवत्सा गो की प्रदक्षिणा करके राजसभा मे प्रवेश ।

उपरोक्त वर्णन से भारत के प्राचीन राजा के कर्तव्यों व अधिकारों का सुन्दर चित्र खिच जाता है । वह प्रजा व राष्ट्र का सेवक था, न कि स्वार्थ व निरङ्कुशता का आगार । हर प्रकार से प्रजा की उन्नति करके उसे सुख शान्ति पहुँचाना उसका एक-मात्र कर्तव्य था ।

सप्ताङ्ग राज्य—प्राचीन काल मे राज्य के बारे मे यह मन्तव्य था कि वह एक सुसगठित व सुव्यवस्थित सस्था है, जिसका उद्देश्य प्रजा का योगक्षेम है । राजा उस राज्य का प्रतीक-मात्र था । राज्य के सात अङ्ग माने गए थे, जिन पर उपरोक्त गुणों से युक्त राजा को पूरा-पूरा ध्यान रखना पडता था । अर्थशास्त्र (६।१), मनुस्मृति (८।२८४-२८७), कामन्दकीय नीतिसार (४।१) आदि में राज के सात अङ्गों का अच्छा विवेचन किया है । ये सात अङ्ग इस प्रकार है—(१) स्वामी—सर्वोपरि सत्ता-प्राप्त शासक, (२) अमात्य, मन्त्री (३) जनपद, राज्य का भू-विस्तार तथा वहाँ की जनता, (४) दुर्ग अथवा किलेबन्दी, राज्य की रक्षा के उपाय व साधन, (५) कोष, अर्थात् विभिन्न करों द्वारा अर्थ-सञ्चय, (६) दण्ड सैनिक शक्ति, (७) मित्र अर्थात् मित्रराज्य, जिनकी सहायता से शत्रु को हराया जाता है । यदि इन सातों अङ्गो पर विचार किया जाय तो पता लगेगा कि एक विकसित व बडे राज्य के लिए इन सब की यथावत् रक्षा व व्यवस्था की कितनी आवश्यकता है । आधुनिक राज्यों में भी ये ही सात मुख्य अङ्ग रहते है । राजा को अपने मंत्रि-मण्डल की मन्त्रणा द्वारा राजकाज चलाना पडता था, साथ ही अपने उत्तरदायित्व को निबाहने के योग्य बनना पड़ता था । उसे जनपद

अर्थात् राज्य के अन्तर्गत भूमि और वहाँ के निवासियों का भी पूरा-पूरा ध्यान रखना पडता था। कदाचित् जनपद मे पौर जानपद-सभा का भी समावेश हो जाता हो, क्योंकि सबकी सलाह के बिना राजा कुछ भी नहीं कर सकता था। प्राचीन काल मे राज्य की सम्यक् रक्षा के लिए किलेबन्दी का भी बडा महत्त्व था। पहाडियों पर या नदी के किनारे राज्य की रक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थानों मे बहुत से किले रहा करते थे। ऋग्वेद मे भी इनका उल्लेख आता है। कोष, दण्ड व मित्र भी राज्य की उन्नति और उसके विकास के लिए अत्यन्त ही आवश्यक रहते हैं। बलिषड्-भाग व पण्यदश भाग आदि के द्वारा कोष की वृद्धि होती थी। दण्ड मे सेना का समावेश होता था, जिसमें साधारणतया रथ, हाथी, घोडे, पैदल आदि रहते थे। प्रत्येक राजा को अन्य राज्यों की मैत्री भी सम्पादन करनी पडती थी, जैसा कि आजकल भी होता है। आधुनिक राजनीति-शास्त्र के विद्वानों ने राज्य के पाँच आवश्यक अङ्ग माने हैं, जैसे (१) जनता, (२) भू-विस्तार, (३) राजतन्त्र, (४) सगठन की एकता, (५) सर्वोपरि सत्ता। प्राचीन भारत के सात अङ्गो में और इन पाँच अङ्गों में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

षाड्गुण्य—राज्य की वैदेशिक नीति का सञ्चालन षाड्गुण्य के सिद्धान्त द्वारा सुचारु रूप से किया जाता था। महाभारत (शान्ति, ६१।६६-६८), मनुस्मृति (७।१६०), माघ-कृत शिशुपाल-वध (२।२६) आदि में षाडगुण्य का विवेचन किया गया है, षाड्गुण्य में सन्धि, विग्रह, यान, स्थान, आसन, द्वैधीभाव और वैदेशिक नीति मे सबसे पहले सन्धि को स्थान दिया गया था। प्रत्येक राष्ट्र को कुछ राष्ट्रों को मित्र बनाना आवश्यक है। शत्रु को पराजित करने के लिए तो इसकी अधिक आवश्यकता है। इसके पश्चात् अपने मित्र-राष्ट्रो की सहायता से शत्रु से युद्ध किया जाता था। युद्ध की घोषणा के पश्चात् शत्रु पर आक्रमण करना पडता था। शत्रु के राज्य के निकट पहुँचकर कुछ समय तक ठहरकर कूटनीति आदि द्वारा शत्रु-पक्ष में झगडे उत्पन्न करने का

प्रयत्न किया जाता था, जिससे शत्रु का सहज ही मे नाश हो सके।

त्रिवर्ग—प्राचीन विद्वानो ने राज्य का आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करके उसके तीन तत्त्वों को समझकर त्रिवर्ग के सिद्धान्त को जन्म दिया। क्षत्र, स्थान व वृद्धि का त्रिवर्ग मे समावेश होता है। 'क्षत्र' से राजसत्ता का तात्पर्य है। राजसत्ता बहुत-कुछ राजा के व्यक्तित्व पर रहती थी। 'स्थान' से राज-शक्ति का बोध होता है। इसके अन्तर्गत सेना, कोष, राज्य-विस्तार आदि का समावेश हो जाता है। राज्य की आर्थिक आय शक्ति आदि को बढ़ाना 'वृद्धि' मे आ जाता है। किसी भी राज्य को सशक्त बनने के लिए इन तीन तत्त्वो का सम्यक् विनियोग करना अत्यन्त ही आवश्यक था।

तीर्थ—राज्य-शासन को सगठित व व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए शासन-सम्बन्धी कार्यों को विभिन्न विभागो में विभाजित किया गया था। इन विभागों को राजनीति-शास्त्र मे 'तीर्थ' कहा गया है। प्राचीन साहित्य मे साधारणतया अठारह तीर्थों का उल्लेख है। रामायण (२।१००। ३६), महाभारत (शान्ति० ६७।१७२) अर्थशास्त्र (१।१२।८) आदि में अष्टादश तीर्थों का स्पष्ट उल्लेख है। महाभारत के टीकाकार नील-कण्ठ के मतानुसार अठारह तीर्थ इस प्रकार थे—मन्त्री, पुरोहित, चमूपति, द्वारपाल, अन्तर्वेषिक, कारागाराधिकारी, द्रव्यसञ्चयकृत, 'कृत्याकृत्येष्वर्थाना विनियोजक, अर्थात् योग्य-अयोग्य कार्यों का विनियोग करने वाला-प्रदेष्टा, नगराध्यक्ष, कार्य-निर्माण कृत, धर्माध्यक्ष, दण्डपाल, दुर्गपाल, राष्ट्रान्तपाल व अटवीपाल। अर्थशास्त्र ने अठारह में से पन्द्रह तीर्थों के नाम गिनाये हैं, जैसे मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, दौवारिक, अन्तरवेषिक, प्रशास्ता, समाहर्ता, सन्निधाता, प्रदेष्टा, नायक, दण्डपाल, दुर्गपाल अन्नपाल व आटविक। इन अधिकारियों में से कुछ का उल्लेख ब्राह्मणादि साहित्य में भी पाया जाता है। तैत्तिरीय संहिता व तैत्तिरीय ब्राह्मण मे राजन्य, सेनानी, सूत, ग्रामणी, क्षत्ता, सग्रहीता, भाग दुघ, अक्षावाप आदि का उल्लेख है।

पञ्चविंश ब्राह्मण मे आठ 'वीर' उल्लिखित है, जिनमे पुरोहित, महिषी, सूत, ग्रामणी, त्त्ता, सग्रहीता आदि को सम्मिलित किया गया है। इस प्रकार तीर्थों की प्राचीनता स्पष्टतया समझ मे आ जायगी।

मन्त्रि-मण्डल—राजकाज को ठीक तरह से चलाने के लिए राजा को मन्त्रि-मण्डल भी रखना पडता था। राजनीति के लेखको ने मन्त्रियों की आवश्यकता पर जोर देते हुए मन्त्रि-मण्डल का उल्लेख किया है। महाभारत (शान्ति ४।३७-३८), अर्थशास्त्र (१।३।१।३), मनु (८।५३), शुक्र (२।८१) आदि ने स्पष्टतया लिखा है कि "राजा को मन्त्रियो की सहायता अवश्य लेनी चाहिए, क्योंकि जिस प्रकार एक चक्र से रथ नहीं चल सकता उसी प्रकार मन्त्रियो के बिना शासन-कार्य भी नहीं चल सकता। मामूली काम ही अकेले के लिए दुष्कर हो जाता है तो शासन-कार्य की क्या कथा? एक व्यक्ति सब-कुछ नहीं कर सकता, विभिन्न मति वाले लोगो की सहायता आवश्यक है।" चाणक्य ने मन्त्रियों की योग्यता के सम्बन्ध मे लिखा है कि मन्त्री नाना प्रकार के गुणो से युक्त, कुलीन और प्रभावोत्पादक व्यक्तित्व वाले होने चाहिएँ। मन्त्रियो के वर्ण के सम्बन्ध मे महाभारत, मनु, शुक्र आदि का मत है कि वे साधारणतया ब्राह्मण रहे, किन्तु अन्य वर्ण के विद्वान् भी मन्त्री रह सकते है। यहाँ तक कि यदि शूद्र, म्लेच्छ, सकर-सम्भव आदि योग्य और विद्वान् हों तो मन्त्री बनाये जा सकते है।

मन्त्रि-मण्डल के सदस्य—मन्त्रि-मण्डल में साधारणतया ये मन्त्री सम्मिलित थे—(१) पुरोहित—वैदिक काल से ही राजा की सभा में पुरोहित का स्थान बहुत ऊँचा था। धार्मिक कृत्य, यज्ञ आदि के लिए उसकी परम आवश्यकता थी। हाथी, घोड़े आदि की पूजा के के लिए भी उसकी आवश्यकता होती थी। वैदिक काल मे वह राजा के साथ युद्ध-क्षेत्र मे भी जाता था। उसे धनुर्वेद का ज्ञान भी प्राप्त करना पडता था। (२) प्रतिनिधि—मनु व चाणक्य ने मन्त्रियो मे प्रतिनिधि का समावेश नही किया है। इसकी आवश्यकता हमेशा नहीं रहती

थी। जब कभी राजा बीमार रहता तब इसे उसके स्थान मे काम करना पडता था। यह अक्सर राज-कुल का रहता था। (३) प्रधान—इसे सब राजकाज की देख-भाल करनी पडती थी। इसका पद अत्यन्त ही महत्त्व का था, जैसा कि आधुनिक प्रधान मन्त्री का रहता है। (४) सचिव—यह युद्ध-मन्त्री था। इसके लिए युद्ध-कला मे प्रवीण होना आवश्यकीय था। इसका नाम सेनावित् भी था। काश्मीर मे इसे कम्पन कहते थे। (५) मन्त्री—यह वैदेशिक मन्त्री था। इसके लिए नीति-कुशल होना आवश्यक था। इसे साम, दान, दण्ड, भेद आदि की उपयोगिता अनुपयोगिता का भी विचार करना पडता था। मनुस्मृति व महाभारत मे इसे अमात्य कहा गया है, तथा सन्धि विग्रह का उत्तरदायित्व भी इसी पर छोडा गया था। (६) प्राड्विवाक—यह मुख्य न्यायाधीश था। इस के लिए धर्मशास्त्र का विशेष ज्ञान तथा अन्य आवश्यक गुणों का प्राप्त करना अनिवार्य था। (७) पण्डित—यह धर्म-सम्बन्धी मन्त्री था। इसे प्रजा के धार्मिक जीवन का निरीक्षण करना पडता था। आवश्यकतानुसार धार्मिक नियमों के परिवर्तन आदि का उत्तरदायित्व भी इसी पर था। अशोक के धर्म महामात्र की तुलना इससे की जा सकती है। (८) सुमन्त्र—यह आय-व्यय का परिज्ञाता था। राज्य के आय-व्यय का निरीक्षण करना इसका विशेष कर्तव्य था। कोष मे कितना धन है, और घास, अनाज आदि अन्य चीजें कितनी हैं, इन सबका हिसाब भी इसे ही रखना पडता था। (९) अमात्य—इसे ग्राम व नगरो की परिगणना करनी पडती थी, तथा कर निश्चित करना पडता था। बाद के शिलालेखों में प्रान्तीय शासक के लिए इस नाम का उपयोग किया गया है। (१०) दूत—इसका काम विभिन्न देशों मे एलची भेजना व उन देशो की शक्ति का पता लगाना था। मन्त्रियो की इस सूची मे शिक्षा आदि सार्वजनिक हित-सम्बन्धी मन्त्रियों का उल्लेख नहीं आता। ये काम समाज द्वारा किये जाते थे। ग्रामों में सर्वसाधारण के उपयोग के कार्य ग्रामीण लोग स्वत ही कर लेते थे। चाणक्य ने कहा है कि केन्द्रीय सरकार को सार्व-

जनिक हित के कार्यों के लिए स्थानीय संस्थाओं को आर्थिक सहायता पहुँचानी चाहिए। अर्थशास्त्र मे लिखा है कि उन कार्यों की देख-भाल के लिए एक कर्मचारी भी नियुक्त किया जाना चाहिए।

मन्त्रि-मण्डल पर ऐतिहासिक दृष्टि—मन्त्रि-मण्डल पर ऐतिहासिक दृष्टि डालने से स्पष्टतया सिद्ध होता है कि वह मण्डल केवल नीति-शास्त्रज्ञों के ग्रन्थों मे ही नहीं था, किन्तु यथार्थ मे भी उसका अस्तित्व था, जैसा कि कितने ही ऐतिहासिक उदाहरणों से प्रमाणित किया जा सकता है। वैदिक काल मे जो 'रत्निन्' थे, वे ही तत्कालीन मन्त्रि-मण्डल के सदस्य थे। तैत्तिरीय संहिता (१।८।६) के अनुसार वे 'रत्निन्' इस प्रकार हैं—पुरोहित, राजन्य, महिषी, वावाता, सेनानी, सूत, ग्रामीण, क्षत्ता, संग्रहीता, भागधुक्, अक्षावाप। ये सब राज को धार्मिक, सामाजिक, सार्वजनिक आदि कर्तव्यो मे सहायता देते थे। इस प्रकार, वैदिक काल मे भी बीजरूप से मन्त्रि-मण्डल वर्तमान था। वैदिक काल के पश्चात् भी इतिहास से इसका अस्तित्व प्रमाणित होता है। बौद्ध साहित्य से पता लगता है कि अजातशत्रु का मन्त्रि-मण्डल था। इसने बुद्ध के पास अपने दो मन्त्रियों को यह जानने के लिए भेजा था कि लिच्छवी जीते जा सकते हैं या नहीं। मौर्यों तथा शुङ्गों के भी मन्त्रि-मण्डल थे। प्राचीन लेखों में आन्ध्र, शकक्षत्रप, गुप्त, चालुक्य, राष्ट्रकूट, सिलाहर आदि राजवंशो के कितने ही मन्त्रियों का स्पष्ट उल्लेख आता है। उन मन्त्रियो मे से कुछ ये हैं—रायामच, भण्डाकारिक, अमच्च, मतिसचिव, कर्मसचिव, मन्त्रीन्द्र, महामन्त्री, महाबलाधिकृत्, महा प्रचण्ड दण्डनायक, महासन्धि विग्राहक, श्रमणमहामात्र, विनयस्थिति स्थापक, धर्माङ्कुश, धर्म-प्रधान आदि। शिवाजी के अष्टप्रधान भी इसी प्राचीन मन्त्रि-मण्डल से सम्बन्धित हैं।

स्थानीय शासन—प्राचीन भारत में स्थानीय शासन का प्रारम्भ ग्राम से होता था, जैसा कि आजकल जिले से होता है। ग्राम के सञ्चालन में सरकारी व गैर-सरकारी ऐसे दो प्रकार के कर्मचारियों का

हाथ रहता था। गाँव मे पटेल व पटवारी सरकार की ओर से रहते थे, और ग्राम-पञ्चायत जनता की ओर से रहती थी। कदाचित् उन दोनों सरकारी कर्मचारियों को भी पञ्चायत में रहना पडता था। वैदिक काल मे गाँव का मुखिया ग्रामणी कहलाता था। ऋग्वेद (१०।१०७।५) में उसकी तुलना साक्षात् राजा से की गई है। महावग्ग, कुलावक जातक, खरस्सर जातक, उभतोभट्ट जातक आदि में भी ग्रामणी का उल्लेख है, जहाँ बताया गया है कि वह कर वसूल करता था तथा चोर-बदमाश आदि को गिरफ्तार करता था। इसे ग्राम-सम्बन्धी सब देख रेख रखनी पडती थी। मनु, शुक्र विष्णु आदि स्मृतियो में उसे 'ग्रामिक' कहकर उसके अधिकार व कर्तव्य बताये गए है। हाल-कृत सप्तशती में भी उसका उल्लेख आता है, जहाँ उसे सेनाधिनायक भी कहा गया है। मुस्लिम राज्य में व अंग्रेजी राज्य के प्रारम्भ में भी उसका उल्लेख आता है। बहमनी राज्य मे वह कर वसूल करने मे तहसीलदार की सहायता करता था। मुर्शिदकुली ने कर-वसूली ने लिए बहुत से गाँव-पटेल नियुक्त किये थे।

ग्राम-पञ्चायत—भारत की ग्राम पञ्चायत संस्था भी बहुत पुरानी है। वैदिक काल मे उसका अस्तित्व था। अंग्रेजी राज्य के आने के पहले तक वह एक जीवित संस्था थी। ग्राम के वयोवृद्ध व अनुभवी लोग उसके सदस्य रहते थे। ग्राम-सम्बन्धी सब बातें उसी में तय की जाती थीं। उसको न्याय करने का अधिकार भी प्राप्त था। वैदिक काल के पश्चात् भी उसके अस्तित्व के बहुत से प्रमाण मिलते हैं। बौद्ध-साहित्य में कितने ही स्थलों पर ग्राम-पञ्चायत का उल्लेख है। ईसा की नवीं या दसवीं शताब्दी के लेखों में भी इस संस्था का उल्लेख आता है। शिलालेखों मे उसके सर्वोपरि कर्मचारी को ग्रामाधिप, ग्रामणी, ग्रामकूट, ग्रामपति, पट्टलिक आदि कहा गया है। जातक-साहित्य में उसे 'ग्राम-भोजक' नाम से उल्लिखित किया गया है, उसकी सहायता के लिए दो-तीन सदस्यों की एक छोटी उपसमिति रहती

थी, जिसे बडी पञ्चायत के सामने जवाबदेह होना पडता था। अधिकार के स्थान साधारणतया वशक्रमागत रहते थे। कभी-कभी एक से अधिक भी उपसमितियाँ रहती थीं। उत्कल-लेखो से ऐसी चार या पाँच उपसमितियो का पता चलता है, जैसे (१) एक वर्ष के लिए चुने गए महाजन, (२) दान-धर्म के लिए चुने गए महाजन, (३) तालाब के लिए चुने गए महाजन, (४) बगीचों के लिए चुने गए महाजन, (५) प्रति वर्ष ग्राम के आन्तरिक जीवन की देख-रेख रखने के लिए चुने गए महाजन। ईसा की नवीं व दसवी शताब्दी के चोल तथा उत्तरमल्लूर-लेखो से मालूम होता है कि राजा को भी ग्राम पञ्चायत के अधिकार मान्य रहते थे। ग्राम की सब भूमि, शिक्षा आदि के प्रबन्ध मे ग्राम-पञ्चायत पूर्ण स्वतन्त्र थी।

पञ्चायत की भावना—प्राचीन जीवन के सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक जीवन के विकास मे पञ्चायत-भावना का अत्यन्त ही महत्त्व-पूर्ण स्थान था। दार्शनिको की समष्टि व व्यष्टि की उलझनो को समाज-शास्त्रियो ने इसी भाव की सहायता से सुलझाया था। इसीलिए प्राचीन भारत का सार्वजनिक जीवन सुखी था। पञ्चायत की भावना समाज में इतनी प्रबल हो गई थी कि सार्वजनिक जीवन का प्रत्येक पहलू उसी के द्वारा सञ्चालित होता था। हर प्रकार के सार्वजनिक कार्य के सञ्चा-लन के लिए पञ्चायत-प्रथा थी। आजकल भी इस प्रथा का बिगडा हुआ स्वरूप जाति-पचायतो के रूप मे दिखाई देता है। ऊँचे-से ऊँचे ब्राह्मण से लेकर नीच-से-नीच मेहतरो तक का सामाजिक जीवन जाति-पञ्चायतो द्वारा ही सञ्चालित होता है।

नागरिक जीवन—ग्रामो के अनुसार नगरो का जीवन भी ग्राम-पञ्चायत के समान संस्था द्वारा सञ्चालित किया जाता है। कुछ ऐति-हासिको के मतानुसार वह संस्था आधुनिक म्युनिसिपल कमेटी के समान थी। चन्द्रगुप्त मौर्य के यूनानी राजदूत मेगास्थनीज़ ने पाटलीपुत्र की नगर-सभा का वर्णन किया है। उक्त नगर-सभा के तीस सदस्य

थे, जो पाँच सदस्यो की छः उपसमितियों मे बँट गए थे, तथा नगर का पूर्णतया सञ्चालन करते थे। राजा द्वारा भी ऐसी सस्थाओ को सहायता मिलती थी।

श्रेणि, पूग, निगम आदि—समाज के आर्थिक जीवन का सञ्चालन श्रेणि, पूग निगम आदि सस्थाओ द्वारा होता था। उनसे भिन्न-भिन्न व्यापार व उद्योग-धन्धे करने वालों के सगठित जीवन का पता लगता है। ये सस्थाएँ भी बहुत प्राचीन थीं। बौद्ध साहित्य, रामायण, स्मृत्यादि से उनके अस्तित्व का पता लगता है। उन्हे बहुत से अधिकार भी प्राप्त थे। वे अपने सिक्के भी बना सकती थीं। इस सम्बन्ध मे मनु, याज्ञवल्क्य, बृहस्पति आदि स्मृतियो से तथा नासिक, जुन्नार आदि के प्राचीन लेखो से बहुत-कुछ मालूम होता है। ये संस्थाएँ न केवल आर्थिक जीवन को सगठित करती थीं, किन्तु राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्रता का वातावरण निर्माण करके समाज को सस्कृति के मार्ग मे अग्रसर भी करती थीं। इन सब सस्थाओं के अपने न्यायालय भी होते थे, जिनमें साधारणतया ज़मीन, ज़ायदाद आदि के दीवानी झगडे तय होते थे। फौजदारी मामलो पर राजा के न्यायालयों का अधिकार रहता था, किन्तु बडे-बडे साम्राज्यो के काल मे दीवानी मामलों पर भी राजा ने अपना अधिकार जमाना शुरू कर दिया था। परिणामस्वरूप, श्रेणि, पूग, ग्राम-पञ्चायत आदि के अधिकारों में कुछ कमी अवश्य हुई होगी। मौर्य-साम्राज्य में पाँच दीवानी न्यायालय थे, जैसे प्रान्तीय, स्थानीय (८०० ग्राम), द्रोणमुख (४०० ग्राम), खारवटिक (२०० ग्राम) गोप (२ से ५ ग्राम)। इनके अतिरिक्त कण्टक-शोधन (फौजदारी) न्यायालय भी थे। प्राचीन साहित्य मे न्यायालय को 'सभा' कहा गया है। मनु, याज्ञवल्क्य, शुक्र, नारद आदि स्मृतियो ने इन सभाओ का उल्लेख किया है।

बडे-बडे राज्यों की व्यवस्था—प्राचीन भारत ने बडे-बडे राज्यो की व्यवस्था की भी सुन्दर आयोजना विकसित की थी। मौर्य, गुप्त,

हर्ष आदि के साम्राज्यो के इतिहास से पता लगता है कि राज्य को भिन्न-भिन्न प्रान्तो मे बाँट दिया जाता था, जिनको 'भुक्ति' आदि नामो से सम्बन्धित किया जाता था। उनका ऊपरी अधिकारी राजा द्वारा नियुक्त किया जाता था। अशोक के धर्म लेखो, दामोदरपुर के ताम्र-पत्रों तथा यूएनच्वेङ् आदि चीनी यात्रियों के भारत-वर्णन मे इन प्रान्तों व उनके अधिकारियों का स्पष्ट उल्लेख है। इन प्रान्तों को जनपद मे व जनपद को किसी निश्चित सख्या के ग्रामों में विभाजित किया गया था। यह व्यवस्था बीज रूप से ऋग्वेद में भी पाई जाती है। वैदिक काल में इसी प्रकार की व्यवस्था थी, जिसमे विश, जन, कुल, ग्राम आदि नामो से राज्य के मुख्य विभाग किये गए थे। महाभारत (शान्ति० ८७) में भी ऐसी ही व्यवस्था का उल्लेख है।

प्रजातन्त्र—प्राचीन भारत मे प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली का भी पर्याप्त विकास हुआ था। वैदिक काल की समिति आदि से पता चलता है कि जनसाधारण मे पर्याप्त राजनीतिक जागृति हो चुकी थी। लोगों ने अपने अधिकारो को समझना तथा उनकी रक्षा करना सीख लिया था। प्रजातन्त्र के विकास के लिए ऐसे ही वातावरण की आवश्यकता होती है। इसी से प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली का जन्म हुआ। वैदिक काल में प्रजातन्त्र पूर्ण विकसित रूप में न हो, किन्तु तत्कालीन वातावरण प्रजातन्त्र के भावो से परिपूर्ण अवश्य रहा होगा। ऐतरेय ब्राह्मण मे कहा गया है कि भारत के पश्चिमी भाग मे स्वराज्य शासन-विधान वर्तमान था, जहाँ के शासक को स्वराट् कहते थे। सम्भवतः वहाँ की शासन-पद्धति प्रजातन्त्र के सिद्धान्तो पर अवलम्बित रही हो। प्रजातन्त्र का स्पष्ट उल्लेख पाणिनि, बौद्ध-साहित्य, अर्थशास्त्र, महाभारत आदि में आता है, और यूनानी इतिहासकारों ने भी उसका वर्णन किया है। प्राचीन प्रजातन्त्र का पारिभाषिक नाम 'सङ्घ' था। ये सङ्घ दो प्रकार के रहते थे—गण, जिसमे जनता के प्रतिनिधि सदस्य रहते थे, कुल, जिसमें वंश-क्रमागत सदस्य रहते थे।

अष्टाध्यायी मे सङ्घ—पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी (५।३।११४, ४।१।१६८, काशिका वृत्ति ४५५-४५६) मे सङ्घो से सम्बन्धित शब्दो की व्युत्पत्ति के बारे मे कितने ही नियम बताये हैं। इससे स्पष्ट होता है कि पाणिनि के समय (ई० पू० चौथी शताब्दी के लगभग या उससे कुछ पूर्व) मे सङ्घ वर्तमान थे तथा उन्हे महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। उन नियमों को ध्यानपूर्वक पढने से मालूम होता है कि किस प्रकार राज-शासन व सङ्घ शासन की भिन्नता दरसाई गई है, तथा यह भी दरसाया गया है कि उन सङ्घों मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि सब सम्मिलित हो सकते थे। अष्टाध्यायी में ये सङ्घ उल्लिखित हैं—वृक, दामनी, त्रिवर्गषष्ठ, यौधेय, पार्श्व आदि। इन्हे 'आयुध-जीवी सङ्घ' कहा गया है। अर्थशास्त्र मे इन्हे 'शास्त्रोपजीवी-सघ' कहा गया है। मद्र, वृजि, राजन्य, अन्धक-वृष्णि, महाराज, भर्ग आदि सङ्घों का भी उल्लेख अष्टाध्यायी मे आता है। सिकन्दर के समकालीन यूनानियों ने क्षुद्रक व मालव का तथा पुराणों ने अन्धक-वृष्णि का उल्लेख विशेष-रूप से किया है। वृष्णि-सङ्घ का एक सिक्का (ई० पू० प्रथम शताब्दी) भी मिला है, जिस पर इस प्रकार लिखा है—"वृष्णि-राजन्मा गणस्य"। इन सघों के 'अङ्क' व 'लक्षण' भी रहते थे। इनमे से कुछ में राजकाज चलाने के लिए एक के बदले दो सभाएँ रहती थीं।

बौद्ध-साहित्य मे सघ—बौद्ध-साहित्य में भी सघों का उल्लेख है, जहाँ उन्हे 'गण' कहा गया है। अवदान-शतक (२।१०३) मे वर्णन आता है कि मध्य देश से कुछ वणिक् दक्षिण में गये और वहाँ के राजा से मिले। राजा ने उनसे पूछा कि तुम्हारे यहाँ शासन कैसा होता है ? इस पर उन्होंने कहा कि हे देव कुछ देश गणाधीन हैं व कुछ राजाधीन हैं। शाक्य, कोलिय, लिच्छवी, विदेह, मल्ल, मेरिय, बुलीय, भग्ग आदि सघ भी बौद्ध-साहित्य में उल्लिखित हैं (जातक ३।१५७)। इन संघों की एक सभा रहती थी, जिसकी बैठक एक बडे भवन में होती थी। इस भवन को 'सथागार' कहते थे। इसी मे राजा

का चुनाव होता था। उसके हाथ मे सब शासन-सूत्र रहते थे। वह राजा उक्त सभा का प्रधान रहता था, जिसका चुनाव कदाचित् प्रतिवर्ष हुआ करता था। 'राजा' शब्द पदवी-मात्र का सूचक था। बौद्ध-साहित्य में सघ के अन्य कर्मचारियो का भी उल्लेख आया है, जैसे उपराजा, सेनापति, भाण्डागारिक आदि। इन सघो की सभा के महत्त्वपूर्ण निश्चय पुस्तक रूप में सुरक्षित रखे जाते थे, जिसे 'पवेनीपत्थकम्' कहते थे। न्याय का काम करने के लिए 'विनिच्चय महामात्त', 'वोहारिक', 'सूत्र-धार', 'अष्टकुलक' आदि न्यायाधीश थे।

अर्थशास्त्रादि मे सघो का उल्लेख—कौटिलीय अर्थशास्त्र मे भी कितने ही सघों का उल्लेख है, जैसे लिच्छिविक, वृजिक, मल्लक, मद्रक, कुकुर, कुरु, पाञ्चाल, काम्बोज, सुराष्ट्र, क्षत्रिय, श्रेणी आदि (अर्थशास्त्र, अध्याय ११ पृष्ठ ३७६-३७९, सामशास्त्री द्वारा सम्पादित)। बौद्ध-साहित्य से जो कुछ इन सघो के बारे में ज्ञात होता है, उसकी पुष्टि अर्थशास्त्र से होती है। सिकन्दर के समय में पश्चिम भारत मे बहुत से सघ वर्तमान थे, जैसे कैथियन (कठ), एड्रेस्टी (अरिष्ठ), योधेय, ऑक्सिड्रेकॉय (क्षौद्रक), मल्लोई (मालव), सिबि, (शिवि), जेथोरॉय (क्षत्रिय), ओसेडिऑय (बसाति, महाभारत मे उल्लिखित), एगिसनेइ (अग्रश्रेणी), सेम्बेस्टाइ (अम्बष्ठ), मुसीकेनी (मुचुकर्ण काशिका मे वर्णित), ब्रेकमेनिआय (ब्राह्मणक जनपद, पतञ्जलि द्वारा उल्लिखित), फेगेलस् (भगल, गणपाठ मे उल्लिखित), ग्लौसिऑय (अष्टाध्यायी, ४।३।९९ पर काशिका-वृत्ति मे उल्लिखित ग्लौचुकायनक) इत्यादि। प्राचीन लेख, सिक्को आदि से भी इनके अस्तित्व की पुष्टि होती है। महाक्षत्रप रुद्रदामा के गिरनार-लेख, समुद्रगुप्त के प्रयाग-स्तम्भ-लेख, विजयगढ़-शिलालेख आदि मे यौधेय, मालव, आर्जुनायन आदि गणराज्यों का स्पष्ट उल्लेख है। यौधेय, मालव, आर्जुनायन, शिबि आदि के बहुत से सिक्के भी मिले है। यौधेयो के सिक्के अधिकतर सतलज, जमुना नदी के कछारो मे मिले है।

ये संघ बहुत समय तक शक्तिशाली रहे, तथा समाज का सांस्कृतिक विकास करते रहे। इनके कारण समाज मे हर प्रकार की स्वतन्त्रता बनी रहती थी। कृष्ण, महावीर, गौतम आदि के समान विभूतियाँ, प्रवर्तक और समाज सुधारक इसी वातावरण में उत्पन्न हुए थे। पञ्जाब के कठ-संघ की ऋग्वेद की काठक-संहिता व कठोपनिषद् से सब परिचित है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि संघो ने भारत के सांस्कृतिक विकास मे पूरी सहायता दी थी। ज्यो-ज्यो समय बीतने लगा, त्यों-त्यों साम्राज्यवाद का प्रभुत्व बढ़ने लगा तथा संघों के अन्तिम दिवस निकट आने लगे। बिम्बिसार, अजातशत्रु, रुद्रदामा, समुद्रगुप्त, स्कन्दगुप्त आदि शक्तिशाली राजाओं ने इनका अन्त कर दिया। ईसा की पाँचवी शताब्दी में संघ शासन भारत से विदा हो गया।

उपसंहार—उपरोक्त वर्णन से प्राचीन भारत के राजनैतिक विकास का स्पष्ट पता लगता है। जो राजनीतिक सिद्धान्त आधुनिक समझे जाते हैं, वे सब प्राचीन भारत मे ज्ञात थे। हॉब्स, लॉक, रूसो आदि के विश्व-विख्यात सिद्धान्त महाभारत के शान्तिपर्व ने पहले ही से संसार के सम्मुख रख दिए थे। राजा का निर्वाचन, वैदिक काल की सभा व समिति, पौर जानपद, मन्त्रि मण्डल, संघ शासन आदि के बारे में जो कुछ प्राचीन साहित्य से उपलब्ध है, उससे आश्चर्यजनक राजनीतिक विकास का पता लगता है। राजनीति को शास्त्रीय पद्धति से विकसित किया गया था, उसे दण्डनीति कहते थे। कौटिलीय अर्थशास्त्र में राजनीति-शास्त्र के कितने ही आचार्यों व उनके सिद्धान्तों का उल्लेख आता है। इस विषय का बहुत सा साहित्य आज भी उपलब्ध है।

नि श्रेयस से पारलौकिक उन्नति एव कल्याण का बोध होता है। जीवन के ऐहिक व पारलौकिक—दोनों पहलुओ से धर्म को सम्बन्धित किया गया था। धर्म उन सिद्धान्तो, तत्त्वो तथा जीवन प्रणाली को कह सकते हैं, जिससे मानव-जाति परमात्म प्रदत्त शक्तियो के विकास से अपना ऐहिक जीवन सुखी बना सके, साथ ही मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा जन्म-मरण के झंझटों मे न पडकर शान्ति व सुख का अनुभव कर सके। धर्म की इससे अधिक उदार परिभाषा और हो ही नहीं सकती। धर्म के शाब्दिक अर्थ पर विचार करने से भी उसका महत्त्व समझ मे आ जायगा। 'धर्म' शब्द 'धृ' (धारण करना) धातु मे 'मप्' प्रत्यय जोडने से बनता है, जिसका अर्थ 'धारण' करने वाला होता है। इस लिए धर्म उन शाश्वत् सिद्धान्तो के समुदाय को कह सकते है, जिनके द्वारा मानव-समाज सन्मार्ग मे प्रवृत्त होकर व उन्नतिशील बनकर अपने अस्तित्व को धारण करता है। 'सनातन धर्म' शब्द भी इसी अर्थ का द्योतक है। इसी प्रकार 'दर्शन' शब्द भी अर्थपूर्ण है। इसमे आत्म-साक्षात्कार या ब्रह्मसाक्षात्कार का भाव भरा है, और भारतीय दर्शनों का उद्देश्य भी यही है। जीव को माया के बन्धन से छुडाकर ब्रह्म के दर्शन कराना, जिससे उसे परम सुख व शान्ति प्राप्त हो, यही भारतीय दर्शन का मूल मन्त्र है।

धर्म व दर्शन का सम्बन्ध – धर्म व दर्शन परस्पर बहुत ही सम्बन्धित हैं। अज्ञात को ज्ञात करना यही दोनो का उद्देश्य है। उनमें अन्तर केवल इतना है कि धर्म जनसाधारण को अज्ञात तक ले जाने के लिए एक जीवन-क्रम तैयार करता है, जिसके अनुसार लोगो को चलना पडता है। धर्म विद्वानों द्वारा बनाया हुआ इस लोक तथा उस लोक को जोड़ने वाला एक मार्ग है, जिस पर चलकर जनसाधारण परम शान्ति का अनुभव करते हैं। दर्शन ब्रह्म, जीवात्मा आदि के साक्षात्कार के प्रयत्नो का समूह है। इसका सम्बन्ध इने-गिने विचारशील एव बुद्धि-प्रधान व्यक्तियों से रहता है, किन्तु इसका भी प्रभाव जन-साधारण पर पड़े

बिना नही रहता। प्राचीन भारत ने धर्म व दर्शन को इसी प्रकार समझा था।

(१)

वैदिक काल

धार्मिक विकास—प्राचीन भारत का धार्मिक विकास वैदिक काल से ही प्रारम्भ हो जाता है। किन्तु यह मानना भ्रमपूर्ण होगा कि वैदिक काल में धर्म अपनी बाल्यावस्था मे हा था, जैसा कि अधिकाश पाश्चात्य विद्वान् मानते हे। उनके मतानुसार ऋग्वेद मे प्रकृति-पूजा का स्पष्ट उल्लेख है। ऋग्वेदकालीन आर्य इन्द्र, वरुण, अग्नि, सूर्य आदि प्रकृति के विभिन्न रूपो की पूजा करते थे। यही धर्म की बाल्यावस्था समझी जाती है। जगली व असभ्य जातियो में भी इसी प्रकार के धार्मिक विश्वास पाये जाते हैं। किन्तु यथार्थ मे बात ऐसी नहीं है। ऋग्वेद के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक काल मे धर्म पूर्ण रूप से विकसित हो चुका था। ऋग्वेद मे इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि विभिन्न देवताओ की स्तुति भले ही हो, किन्तु उसमें एकेश्वरवाद के सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से समझाया गया है। वैदिक आर्य ईश्वर को निराकार व सर्वव्यापी मानते थे। वे समझते थे कि इस ससार मे जो-कुछ है, वह सब उसी की लीला है। प्राकृतिक जगत् उसी की भिन्न-भिन्न शक्तियों द्वारा सञ्चालित होता है। ऋग्वेद मे उन्हीं शक्तियों को विभिन्न नामों से सम्बोधित किया गया है। प्रत्येक शक्ति को सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी परमात्मा का स्वरूप मानकर उसकी स्तुति की गई है। उन्हे स्वतन्त्र ईश्वर नहीं माना है।

मैक्समुलर का मत—पाश्चात्य विद्वान् मैक्समुलर ने ऋग्वेद के धार्मिक विश्वासो के बारे में यह मत स्थापित किया है कि ऋग्वेद मे किसी विशेष देवता को कुछ समय के लिए सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी

व सर्वोपरि माना है। तत्पश्चात् अन्य देवता को उसी प्रकार माना है। इस मत को 'हिनोथीइज़्म' या 'केनोथीइज्म' कहा गया है। ऋग्वेद के मन्त्रो को ध्यानपूर्वक पढने से स्पष्टतया ज्ञात हो जाता है कि एक ही परमात्म-शक्ति को विभिन्न नामो से सम्बोधित किया गया है। ऋग्वेद (१।१६४।४६) मे 'एक सत् विप्रा बहुधा वदन्ति' आदि शब्दो द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है कि परमेश्वर तो एक ही है किन्तु विद्वान् लोग नाना प्रकार से उसके सम्बन्ध मे कहते है, अर्थात् विभिन्न नामों से उसी एक परमात्मा का सम्बोधन करते है। इस प्रकार मैक्समूलर के सिद्धान्त की निरर्थकता स्पष्ट हो जाती है।

वैदिक काल मे धार्मिक जीवन—वैदिक काल का धार्मिक जीवन उदात्त व नैतिकता के पाये पर अवलम्बित था, जैसा कि ऋग्वेद के वरुणसूक्तो को पढने से मालूम होता है। वरुण से कितनी ही बार प्रार्थना की गई है कि "हे वरुणदेव, मानव-जीवन को उदात्त बनाइए।" आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक आदि तीन प्रकार के तापों या बन्धनों से मुक्त किये जाने के कितने ही मन्त्रो द्वारा प्रार्थना की गई है। वरुण के 'ऋत' अर्थात् नैतिक जीवन-क्रम को अपनाने का उल्लेख कितने ही स्थलों पर है (ऋ० १।२३।५, १।२४।१-२)। ज्यों-ज्यो समय बीतता गया, त्यो-त्यो ऋत का महत्त्व बढ़ता गया, और जो-कुछ उसके विपरीत था वह बुरा एव हेय समझा जाने लगा। अनृत व असत्य दोनों एक समान ही त्याज्य, तथा ऋत व सत्य दोनों एक समान ही ग्राह्य समझे जाने लगे।

ऋग्वेद में साधारणतया विभिन्न देवताओ की स्तुति की गई है, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं—अग्नि, वायु, इन्द्र, मित्रावरुण, अश्विन, वरुण, सविता, भग, प्रजापति, पूषा, विष्णु, आप., विश्वेदेवाः, सरस्वती, इळा, भारती, द्यावापृथिवी, इन्द्राणी, रुद्राणी, अरण्यानी आदि। इन स्तुतियों पर यदि गूढ़ विचार किया जाय तो तत्कालीन धार्मिक व दार्शनिक विकास का स्पष्ट दिग्दर्शन हो जायगा। ईश्वर का

सर्वशक्तिमत्त्व तथा उसकी एकता तत्कालीन धार्मिक मन्तव्यों की आधार-शिला थी। इस प्रकार इतने प्राचीन काल मे भारत मे 'एकेश्वरवाद' का सिद्धान्त भली भाँति ज्ञात था। कुत्स आङ्गिरस ऋषि इन्द्र की स्तुति करते हुए कहते है—"पृथ्वी व आकाश तथा यह महान् मानव-जाति उसी इन्द्र के है। वरुण, सूर्य आदि उसी के व्रत मे रहते हैं। घोडे, गाय आदि का वही सञ्चालक है और सम्पूर्ण जगत् व प्राणियो का रक्षक है। उसी ने दस्युओ को हराया। उसे ही मैत्री के लिए हम बुलाते हैं। शूरो, भागते हुए भीरुओं तथा विजेताओ द्वारा जिसका आह्वान किया जाता है, उसी इन्द्र ने इन सब भुवनों को बनाया है, उसी की मैत्री हम प्राप्त करें।" गृत्समद ऋषि आदित्य की स्तुति करते हुए कहते हैं—"तुम वरुण हो, और जितने ही देव, असुर व मर्त्य हैं उन सबके राजा हो। हमे सौ वर्ष की आयु प्रदान करो।" हिरण्य-गर्भ प्राजापत्य ऋषि 'क' (प्रजापति ईश्वर) की स्तुति मे कहते हैं—"हिरण्यगर्भ ही सर्वप्रथम वर्तमान था, तथा जो-कुछ उत्पन्न हुआ था, उसका एकमात्र पति था। उसी ने पृथ्वी व आकाश को धारण किया है। उसी 'क' देवता को हम हविष् प्रदान करते हैं। वही आत्मा व बल का देने वाला है, विश्व उसी की उपासना करता है। मृत्यु व अमरत्व उसी के अधिकार में हैं। हिमालय, समुद्र और ये सब दिशाएँ आदि उसी की हैं। उसी ने विस्तृत आकाश व पृथ्वी को दृढ किया तथा स्वर्ग को स्तम्भित किया।" (ऋ० ३।४६।२, १।१०१।३-६, २।२७।१०)। इन उद्धरणो से स्पष्ट है कि ऋग्वेद-काल में "एकेश्वर-वाद' का विकास पूर्णतया हो गया था।

ऋग्वेद के देवता—ऋग्वेद में वर्णित देवताओ को विश्व के तीन विभाग—स्वर्ग, वायु व पृथ्वी के अनुसार विभाजित किया जा सकता है। द्यौ, वरुण, मित्र, आदित्य, सूर्य, सविता, पूषा, विष्णु, अश्विन्, उषा, रात्रि आदि स्वर्गीय देवता है। इन्द्र, रुद्र, मरुत, वायु या वात, अपानपात, पर्जन्य, आप आदि वायवीय देवता हैं। पृथ्वी, अग्नि,

बृहस्पति, सोम आदि पार्थिव देवता है। इनमे कुछ नदियो को भी सम्मिलित किया गया है, जैसे सिन्धु, विपाश, असिक्नी, शुतुद्री, सरस्वती आदि। इन नदियो को साक्षात् देवी मानकर सम्बोधित किया गया है। धाता, त्वष्टा, प्रजापति, विश्वकर्मा, बृहस्पति आदि कभी कभी किसी देवता के विशेषण के रूप मे व कभी-कभी स्वतन्त्र रूप मे वर्णित किये गए है। इसी श्रेणी मे मन्यु, श्रद्धा, अदिति आदि को भी रखा जाता है। उनकी स्तुति मे एक-एक दो-दो सूक्त ही है। ऋभु, वास्तोष्पति आदि साधारण देवता माने गए हैं। ऋग्वेद में देवियो का अधिक महत्त्व नही है। केवल उषा ही महत्त्वपूर्ण है। सरस्वती, वाक्, पृथ्वी, रात्रि, अरण्यानी आदि से सम्बन्धित एक-एक सूक्त ही है। इन्द्र, वरुण आदि की पत्नियो का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही है। कभी कभी दो देवताओं की स्तुति एक साथ की गई है। जैसे मित्रा-वरुणा, द्यावापृथिवी आदि। कुछ देवताओ का आह्वान सामूहिक रूप से किया गया है। देवताओ से लडने वाले राक्षसो का भी उल्लेख आता है। इन्द्र वृत्र युद्ध तो ऋग्वेद मे प्रसिद्ध है। बल, अर्बुद, पणि, विश्वरूप आदि इन्द्र से लडते है, स्वर्भानु सूर्य को निगलता है।

कुछ महत्त्वपूर्ण देवताओ पर विस्तार से विचार करना आवश्यक है—

इन्द्र—ऋग्वेद के लगभग एक चतुर्थांश सूक्तो में इन्द्र की स्तुति की गई है। त्वष्टा द्वारा बनाये हुए वज्र को धारण कर कभी-कभी धनुष-बाण लेकर इन्द्र असुरों का मर्दन करता है। उसका रथ सोने का बना हुआ है। उसे सोम बहुत ही प्रिय है। सोम पीकर मरुतो को साथ लेकर वह वृत्र या अहि पर आक्रमण करता है। जब घनघोर युद्ध होता है, तब पृथ्वी व आकाश काँपने लगते हैं। परिणामत वज्र द्वारा वृत्र के टुकडे-टुकडे होते हैं, और रुका हुआ पानी स्वतन्त्र की गई गायों के समान दौड निकलता है। इसलिए वह 'वृत्रघ्न' कहलाता है। वह जगत् की उत्पत्ति, प्रलय आदि का सञ्चालन करता है। उसने अस्थिर

पर्वतो व मैदानो को स्थिर किया तथा द्यावापृथिवी का विस्तार किया। उसने एक ही क्षण मे अव्यक्त को व्यक्त किया। वह स्तुति करने वालों का रक्षक, सहायक तथा मित्र है। वह उन्हे धन देता है, एव इतना उदार है कि 'मघवन्' कहलाता है।

वरुण—बारह सूक्तो में वरुण का वर्णन किया गया है। वह नैतिक देव है। वह अपने प्रासाद से बैठकर मनुष्यो के कर्मों का निरीक्षण करता है। उसके गुप्तचर उसके आसपास बैठकर दोनो लोको का अवलोकन करते है। वह विश्व का सम्राट् है। उसकी शक्ति, माया व दिव्य साम्राज्य का उल्लेख कितनी ही बार आता है। उसने द्यावापृथिवी की स्थापना की। उसने आकाश मे सूर्य को चमकाया। वायु उसी की श्वास है, व चन्द्र तारे आदि उसी की आज्ञा मानते हैं। उसने नदियों को भी बहाया। उसके नैतिक नियमों को 'ऋत' कहा गया है, जिसका पालन देवताओ को भी करना पडता है। उसके तीन पाश हैं—उत्तर, मध्यम और अवर, जिन्ह ऋत द्वारा ही तोड़ा जा सकता है। वह सर्वज्ञ है। पाप से उसे क्रोध आता ह, जिसके लिए वह कडा दण्ड देता है। किन्तु वह दयालु भी है, पश्चात्ताप करने वालो को वह अपने व पूर्व-पितरो के पापो के लिए क्षमा भी कर देता है।

विष्णु—विष्णु की स्तुति केवल पाँच या छ सूक्तो मे की गई है। वह एक विशालकाय युवक के रूप मे वर्णित है, व उसके तीन पदो का उल्लेख है, जिनसे वह पृथ्वी व आकाश को नापता है। विष्णु के नाम से सूर्य के ही गुणों का गान किया गया है। वामन अवतार की कल्पना का प्रारम्भ भी विष्णु के तीन पदो से होता है। विष्णु के प्रिय धाम में धर्मात्मा व्यक्ति ही जा सकते हैं व आनन्द का उपभोग ले सकते हैं, जहाँ मधु का एक बडा स्रोत है।

सविता—सविता की स्तुति लगभग ग्यारह सूक्तो में की गई है। वह सुवर्ण के रथ में घूमता है। वह अपने सुवर्ण के हाथों से प्राणीमात्र को जागृत करता है, तथा उन्हे आशीर्वाद देता है। वह नीचे व

ऊपर सब प्राणियो का निरीक्षण करते हुए सुवर्ण रथ मे घूमता है। वह बुरे स्वप्न, पाप, राक्षस आदि को भगा देता है।

पूषा—लगभग आठ सूक्तो मे पूषा की स्तुति की गई है। उसके पैर, दाहिना हाथ, डाढी व जटा का उल्लेख आया है। वह सोने का भाला, चाबुक आदि रखता है व उसके रथ मे बकरे जुते रहते है। वह सब प्राणियों का निरीक्षण करता है, और द्यावापृथिवी मे दूर दूर तक जाता है। वह मार्गों का रक्षक है व सब भयो को दूर करता है। वह मवेशियो की भी रक्षा करता है, तथा गुमे हुए ढोरो को घर वापिस ले आता है।

अश्विन्—अश्विन् से दो देवो का तात्पर्य है। उनकी स्तुति पचास या उससे अधिक सूक्तो में की गई है। उष काल व सूर्योदय के बीच के समय मे वे दिखाई देते है। उषा उनको जागृत करती है। वे अन्धकार को दूर करते व दुष्ट राक्षसो को भगा देते है। वे दो हैं, व कभी पृथक् नहीं किये जा सकते। वे युवा होते हुए भी प्राचीन, सुन्दर एव सुवर्णप्रकाश-युक्त हैं, तथा सुवर्ण मार्ग पर चलते है। मधु से उन्हे बहुत प्रेम है, जोकि वे खूब पीते है। वे बहुत बुद्धिशाली हैं व आपत्तियों से सब की रक्षा करते हैं। वे दिव्य वैद्य भी हैं, व बीमार पगु आदि को ठीक कर देते हैं। वे पुन युवावस्था व दृष्टि प्रदान करते है। उन्होंने भुज्ज्यु के जहाज़ को समुद्र मे डूबने से बचाया था, व ऐसे और भी परोपकार के काम किये थे।

उषा—उषा उष काल की देवी है। लगभग बीस सूक्तों में उसकी स्तुति की गई है। प्रकाशयुक्त वस्त्र धारण कर वह पूर्व दिशा मे एक नर्तकी के समान दिखाई देती है। वह अन्धकार को भगाती है व रात्रि के काले वस्त्र को हटाती है। वह पुराणी रहते हुए भी युवती है। वह बार-बार उत्पन्न होती है व मर्त्यों के जीवन को व्यतीत करती है। जब वह अपना आलोक फैलाती है, तब पक्षी अपने घोसलो से बाहिर उडते हैं तथा मनुष्य पुष्टि को प्राप्त होते हैं। वह सूर्य से सम्बन्धित की जाती है, जोकि उसका प्रेमी है व उसके पीछे पीछे जाता है, जैसे कोई युवक

किसी युवती का पीछा करता है। इस प्रकार वह बहुधा सूर्य की पत्नी बन जाती है, किन्तु सूर्य के पहले दिखाई देने मे कभी-कभी उसकी माता भी कही गई है, तथा देदीप्यमान बालक को लेकर आती हुई वर्णित की गई है।

अग्नि—लगभग दो सौ सूक्तो मे अग्नि की स्तुति की गई है। उसकी पीठ घृत की बनी है, बाल ज्वालाओ के है और दाँत सुवर्ण के। उसी की जिह्वा से देवता हविष् ग्रहण करते है। लकडी या घी उसका भोजन है। वह दिन मे तीन बार भोजन करता है जब वह जगलो पर आक्रमण करता है और दाढी बनाने वाले नाई के समान पृथ्वी की हजामत करता है, तब उसका मार्ग काला रहता है। वह चमकने वाले विद्युत्-रथ मे बैठता है और यज्ञ मे अपने साथ देवताओ को लाता है। वह बहुत बुद्धिशाली है तथा सब कुछ जानता है। वह स्तुति करने वालो को हर प्रकार के वर देता है, जिससे वे लोग समृद्धि, सन्तान तथा आनन्दपूर्ण गृहस्थाश्रम का उपभोग करते है।

सोम—ऋग्वेद मे यज्ञ की दृष्टि से सोम-यज्ञ अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। लगभग एक सौ बीस सूक्त सोम की स्तुति मे है। उसके पास तेज और भयानक शस्त्र रहते है, जिसे वह अपने हाथों से पकडता है। उसके पास धनुष-बाण भी रहते है। वह वायु व इन्द्र के समान दिव्य रथ मे बैठकर घूमता है और यज्ञ मे हविष् ग्रहण करने के लिए आता है। सोमरस को बहुधा मधु भी कहा गया है। किन्तु अधिकाश उसे 'इन्दु' शब्द से सम्बोधित किया गया है। ऋग्वेद का सम्पूर्ण नवाँ मण्डल सोम से सम्बन्धित है। इस रस को दूध या पानी के साथ मिलाया जाता था, जिससे उसमें मीठापन आ जाय। सोमरस को अमृत भी कहा गया है, क्योंकि उसके पीने से अमरत्व प्राप्त होता है।

यज्ञ—यज्ञ वैदिक काल के धार्मिक जीवन का मुख्य अङ्ग था। अग्नि को प्रज्वलित कर उसमे सुगन्धित द्रव्य, घृत आदि डाले जाते थे जबकि विभिन्न देवताओं का आह्वान किया जाता था। यज्ञ से सम्ब-

न्धित कर्मकाण्ड का भी पर्याप्त विकास हो चुका था। होता, अध्वर्यु, उद्‌गाता, ब्रह्मा आदि की सहायता से यज्ञ सम्यक् रूप से सम्पादित किया जाता था। वैदिक काल मे राज-पुरोहित का स्थान बहुत ऊँचा था। वह राजा के लिए यज्ञादि की व्यवस्था करता था। ऋग्वेद (१।१।१) मे अग्नि को यज्ञ का पुरोहित, देव व ऋत्विज् कहा गया है। इन शब्दो से यज्ञ का महत्त्व भली भाँति समझ मे आ जाता है।

यज्ञ का विकास उत्तरोत्तर होता रहा। सम्पूर्ण यजुर्वेद यज्ञ से ही सम्बन्धित है। इसके पश्चात् ब्राह्मण-साहित्य मे तो यज्ञ की चरम-सीमा के दर्शन होते है। एक प्रकार से जीवन यज्ञमय ही हो गया था। प्रत्येक गृहस्थ को दैनिक जीवन मे पञ्च महायज्ञ करने पडते थे। अमा-वस्या, पूर्णिमा आदि विशेष तिथियों पर अन्य विशेष कितने ही नैमित्तिक यज्ञ करने पडते थे। विभिन्न संस्कारो के अवसर पर या कोई शुभ कार्य करने के पूर्व यज्ञ करना अनिवार्य था। ये यज्ञ द्विज-मात्र के लिए थे। राजाओ के लिए कुछ विशेष यज्ञ भी थे, जैसे राजसूय, वाजपेय, अश्व-मेध, सर्वजित् आदि। प्राचीन राजा भी इन यज्ञो को यथाविधि करना अपना पुनीत कर्तव्य समझते थे। ऐतरेय ब्राह्मण, शतपथ-ब्राह्मण, रामा-यण, महाभारत, पुराण आदि मे कितने ही राजाओ द्वारा इन यज्ञो के किये जाने का उल्लेख है।

यज्ञ-सम्बन्धी साहित्य—यज्ञ के महत्त्व के बढ़ने पर तत्सम्बन्धी साहित्य भी स्वतन्त्र-रूप से विकसित होने लगा। भिन्न-भिन्न यज्ञो को कराने के लिए भिन्न-भिन्न नियम बनाये गये थे। पुरोहित लोगो ने इन सब नियमों को अलग-अलग पुस्तको के रूप मे एकत्रित किया है। ये ही कल्पसूत्र हैं, जिनमें श्रौत, गृह्य, धर्म आदि सूत्रो का समावेश हो जाता है। किन्तु यज्ञो का स्पष्ट विवेचन ब्राह्मण-ग्रन्थो में मिलता है।

यज्ञ और पशुबलि—कुछ विद्वानों के मतानुसार वैदिक काल में यज्ञ में पशु-बलि होती थी। किन्तु वेदों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उनमें स्थान-स्थान पर अहिंसा के सिद्धान्त को प्रतिपादित किय

गया है तथा स्थावर व जगम जीवों को एक समान माना गया है। ऋग्वेद मे गाय के सम्बन्ध मे कहा गया है कि उसे मारना नही चाहिए। वैदिक आर्य पशु-हिसा को धार्मिक कृत्य नही मानते थे। वैदिक काल के पश्चात् एक समय ऐसा था जब यज्ञो के लिए पशु-हिसा की जाती थी तथा परिणामत महावीर और गौतम बुद्ध को उस हिसा का विरोध करना पडा।

भक्ति-मार्ग का प्रादुर्भाव—वैदिक काल के पश्चात् भारत के धार्मिक जीवन मे भक्ति-मार्ग ने विशेष स्थान प्राप्त कर लिया था। विष्णु शिव, ब्रह्मा आदि भिन्न-भिन्न देवताओ को आराध्य और इष्टदेव मानकर विभिन्न सम्प्रदायो ने भारतीय धार्मिक जीवन को सकलित व सञ्चालित किया। इसमे विष्णु का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिसके नाम से भागवत धर्म व वैष्णव धर्म सैकडो वर्ष तक जोरदार रहे। इसी भक्तिमार्ग के बीज वेदो मे वर्तमान हैं। उषा, वाक् आदि से सम्बन्धित सूक्तो में भावी भक्ति के तत्त्व दृष्टिगोचर होते है (ऋ० १।६२ १।११३, १०।७१)। ऋग्वेद के विष्णु मे पुराणों का विष्णु बीज-रूप से दृष्टिगोचर होता है। विष्णु का तीन पदो मे ही वामनावतार का भाव निहित है। इसी प्रकार वेदो से अन्य अवतारो के भाव के लिए भी पर्याप्त सामग्री मिलती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि भारत का धार्मिक जीवन वेदो से ही विकसित होता है।

दार्शनिक विकास—वैदिक काल से ही भारतीय दर्शन-शास्त्र का प्रारम्भ होता है। भारत की भौगोलिक परिस्थिति ने जीवन-कलह को बिलकुल ही सरल बना दिया था। इसलिए भारतीयों ने जीवन की पहेलियो पर विचार कर उन्हें समझना ही जीवन का मुख्य कर्तव्य समझा। हम कौन हैं, कहाँ से आये है, क्यो आये हैं, कहाँ जायँगे आदि प्रश्नों के उत्तर ढूँढने मे उन्होंने अपने सब प्रयत्न लगा दिये- (केनोपनिषद् १०)। जीव, ब्रह्म, ससार, जीवन, मरण आदि सम्बन्धी पहेलियों को सुलझाने मे उन्होंने कोई बात उठा न रखी। ऋग्वेदादि

मे इस मानसिक वृत्ति के दर्शन होते हैं, जिसका विस्तृत विकास उपनिषदों मे किया गया है।

जीव व ब्रह्म—वैदिक आर्यों ने प्राकृतिक जगत् का अध्ययन करके यह अनुभव किया था कि जगत् का कर्ता कोई अवश्य है, जिसने प्राणियो मे जीवन-शक्ति भर दी है जो 'जीव' या 'प्राण' कहलाती है। वेदो में उस परम शक्ति की स्तुति में कितने ही मन्त्र मिलते है। उनसे तत्कालीन आध्यात्मिक विकास का पता चलता है। वैदिक आर्यों ने जीव व ब्रह्म के सम्बन्ध को भी भली भाँति समझने का प्रयत्न किया था। जीव व ब्रह्म की एकता जैसी कि छान्दोग्योपनिषद् (६।८।७) के 'तत्त्वमसि' अर्थात् 'तू वही है' वाक्य मे निहित है, वेदो मे भी समझाई गई है। यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय में, जिसे ईशोपनिषद् भी कहते हैं, यह तत्त्व अच्छी तरह से समझाया गया है (यजु० ४०।७)।

सृष्टि की उत्पत्ति—वेदो मे सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे ऊँचे-से-ऊँचे सिद्धान्त मिलते हैं। सृष्टि के प्रवाह को अनादि व अनन्त मानकर उसकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई, यह समझाने का प्रयत्न किया गया है। ऋग्वेद (१०।१६०।१-३) मे बताया गया है कि परमात्मा ने सर्वप्रथम तप द्वारा ऋत व सत्य को उत्पन्न किया, तत्पश्चात् दिन-रात, आकाश, पृथ्वी आदि बनाये गए। उसने सूर्य, चन्द्र आदि को पहले के समान बनाया। इस सम्बन्ध में जो 'यथापूर्व' शब्द प्रयुक्त किया गया है, उससे सृष्टि क्रम के अनादित्व का बोध होता है। वरुण, इन्द्र, विश्वकर्मा आदि को भी सृष्टि का कर्ता बताया गया है। ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ सूक्त (१०।१२१) मे कहा गया है कि हिरण्यगर्भ सृष्टि के प्रारम्भ मे वर्तमान था। वही एकमात्र ससार का स्वामी है। वही आकाश, पृथ्वी आदि का निर्माता है। उसे ही हविष् प्रदान करना चाहिए, इत्यादि। पुरुष-सूक्त (ऋ० १०।६०) में आलङ्कारिक भाषा में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। यह विश्व परमात्मा रूपी पुरुष के

शरीर से बना है। सृष्टि की उत्पत्ति के कार्य को महान् यज्ञ माना गया है, जिसमे पुरुष को 'मेध्य' कहा गया है। उस पुरुष से विराट् उत्पन्न हुआ तथा विराट् से पुन पुरुष उत्पन्न हुआ। इस प्रकार पुरुष उत्पादक एव उत्पादित दोनो हैं। वही परम आत्मा व अहकारमय जीवात्मा दोनों ही हैं। यही शकर के मायावाद का मौलिक स्वरूप है। इस सूक्त मे वर्ण-व्यवस्था, चन्द्र, सूर्य, भेड, बकरी आदि की उत्पत्ति भी वर्णित है। नासदीय सूक्त (ऋ० १०।१२९) मे दार्शनिक ढङ्ग पर सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। उसमे सृष्ट्युत्पत्ति के पूर्व की अवस्था पर विचार किया गया है। उस समय न सत् था न असत्, सब अन्धकार-मय था। तप द्वारा सत् व असत् का द्वैधीभाव हुआ तथा पश्चात् अन्य ससृष्टि हुई। इस सूक्त में काम को सृष्टि की उत्पत्ति का मुख्य कारण बताया गया है। उसे 'मनसो रेत' कहा गया है। इस सूक्त के 'सत्' व 'असत्' मे साख्य के पुरुष व प्रकृति के दर्शन होते हैं, तथा 'सत्' व 'असत्' के पूर्व की जो ऐक्यमयी स्थिति बताई गई है, उसी मे वेदान्त का अद्वैतवाद या मायावाद बीज-रूप से दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि नासदीय सूक्त से ही भारतीय दर्शन शास्त्र का प्रारम्भ होता है।

कर्म-सिद्धान्त—वैदिक आर्यों ने कर्म-सिद्धान्त को भी अच्छी तरह समझ लिया था। कर्म-सिद्धान्त के द्वारा मृत्यु के रहस्य को भी समझने का प्रयत्न किया गया था। समाज मे यह मन्तव्य प्रचलित था कि कर्मों के अनुसार जीव विभिन्न शरीरों को धारण करते हैं। अथर्ववेद (१९।६७।६८) मे इस सिद्धान्त का स्पष्ट उल्लेख आता है [illegible] व नरक का भाव भी वैदिक काल मे वर्तमान था। यह माना जाता था कि मृत्यु के पश्चात् यम के राज्य मे आनन्दानुभव किया जाता है (ऋ० ९।९।१०, ६।४१।२, १०।८८।९)। स्वर्ग-लोक मे बहुत-से सींगवाली गायें रहती हैं और वहाँ पर शहद का भण्डार है (ऋ०

१।१९४।१,६) इस विष्णुलोक का रसास्वादन करने के लिए वैदिक आर्य उत्सुक रहा करते थे।

उपनिषदो का अध्यात्मवाद—उपनिषदो के अध्यात्मवाद का प्रारम्भ वेदो से होता है। ब्राह्मण-काल में यज्ञो को अत्यन्त ही अधिक महत्त्व दिये जाने के कारण अध्यात्मवाद पिछड गया था। किन्तु उपनिषदों मे वह पुन शक्तिशाली हो गया। मन को बाह्य जगत् से हटाकर अन्तर्जगत् पर लगाया जाने लगा। जीव व ब्रह्म के साक्षात्कार करने का प्रयत्न किया जाने लगा। "ब्रह्मण कोशोऽसि" अर्थात् 'तू ब्रह्म का कोश है" (बृहदा० १।४।१०, छान्दोग्य० ३।१४) आदि शब्दो द्वारा ब्रह्म व जीव का निकटतम सम्बन्ध स्थापित किया जाने लगा। ससार आत्मिक विकास की श्रृङ्खलामात्र है। यज्ञो द्वारा कभी भी आत्मा परम पद को प्राप्त नहीं हो सकता। ससार की अन्तरात्मा को समझ उससे तादात्म्य स्थापित करने पर ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है। यज्ञ भी इसी तथ्य के प्रतीक है (बृहदा० १।१।२, छान्दोग्य १।१।१०, १।१२)। सासारिक बन्धनो के अन्धकार से मुक्ति प्राप्त कर उस परम तत्त्व को प्राप्त होने की इच्छा उपनिषदों मे कितने ही स्थलो पर दर्शाई गई है। असत् से सत्, तमस् से ज्योति व मृत्यु से अमृत की ओर ले जाये जाने की उत्कट अभिलाषा प्रकट की गई है (बृहदा० १।३।२७)। आत्मा के प्रश्न को भी सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। आत्मा ही सुख दु ख का पूर्णतया भोक्ता है, प्रकृति उससे बिलकुल भिन्न है, जिसका यथार्थ मे अस्तित्व नही है (बृहदा० ८।६।१, ४।३।६, छान्दोग्य ३।१३।७,८।१।२)। जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति तुरीया अथवा वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ, तुरीय आदि चार अवस्थाएँ आत्मा की हैं। ब्रह्म को जगत् का सत्स्रष्टा मान उसके स्वरूप को समझने का प्रयत्न किया गया है। तैत्तिरीय उपनिषद् (३।१) में लिखा है कि जहाँ से ये जीवधारी उत्पन्न होते हैं अथवा उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं व मरने पर जाते हैं, वह ब्रह्म है। बृहदारण्यक उपनिषद् (२।५।१९ मे आता

है कि वही आत्मा सब भूतों का अधिपति है, सब भूतों का राजा है। जीव, लोक, देव, प्राण आदि सबका समावेश इसी मे हो जाता है। यही आनन्दमय ब्रह्म है व प्रत्येक जीवात्मा इसी मे लीन होना चाहता है।

आत्मा व ब्रह्म—उपनिषदों में आत्मा व ब्रह्म की एकता भी अच्छी तरह से समझाई गई है। छान्दोग्योपनिषद् के 'तत्त्वमसि' वाक्य द्वारा इस मन्तव्य को प्रतिपादित किया गया है। इसी वाक्य के भिन्न-भिन्न अर्थों पर वेदान्त के भिन्न-भिन्न वाद निहित है। शकर, रामानुज, मध्व, वल्लभ, निम्बार्क आदि मध्यकालीन दार्शनिक इसी वाक्य को अपने-अपने सिद्धान्तो का मूल बनाकर उपनिषदो से अपने मन्तव्य के लिए पुष्टि प्राप्त करते है। "तत्त्वमसि, के भाव को इस प्रकार समझाया जा सकता है—वैश्वानर (आत्मा) = विराट् (ब्रह्म), तैजस (आत्मा) = हिरण्यगर्भ (ब्रह्म), प्राज्ञ (आत्मा) = ईश्वर (ब्रह्म), तुरीय (आत्मा) = आनन्द (ब्रह्म)। उपनिषदों मे जीव और प्रकृति को ब्रह्म का परिवर्तित रूप माना गया है। ब्रह्म ही इस जगत् का एक मात्र निमित्तादि कारण है। उसी ब्रह्म मे से इस जगत् का विकास प्रारम्भ होता है। भिन्न-भिन्न जीव इसी विकास के परिणाम है। इस विकास का प्रारम्भ प्रकृति से होता है, और अन्त आनन्द में होता है। इसे मकडी और उसमे उत्पन्न जाले की उपमा दी जाती है। इस प्रकार समस्त विश्व की जड मे ब्रह्म ही है। जगत् मे दीखने वाली भिन्नता के पीछे इसी एकता का साम्राज्य है (बृहदारण्यक उप० १।२।१४, छान्दोग्य० ६।१०)।

उपनिषदों मे बाह्य भिन्नता को समझाने का प्रयत्न भी किया गया है। ब्रह्म के अश के कम या अधिक रहने से ही यह भिन्नता बन गई है, लेकिन सब-कुछ उसी ब्रह्म का स्वरूप है (ऐतरेय उप० १-२, तैत्तिरीयोप० २।१)। ऐतरेयोपनिषद् मे जीवों के चार प्रकार बताये गए हैं, जैसे जरायुज, अण्डज, स्वेदज व उद्भिज। इनके अतिरिक्त

पञ्च महाभूतों का भी उल्लेख है। प्राकृतिक विकास में इन महाभूतों का महत्त्व भी भली भाँति समझाया गया है। इन भूतों का विकास इस प्रकार बताया गया है—आकाश (शब्द)—वायु (शब्द,स्पर्श), अग्नि (शब्द, स्पर्श, रूप), जल (शब्द, स्पर्श, रूप व रस)—भूमि (शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध)। इन पञ्च महाभूतों के साथ पञ्च तन्मात्राएँ भी उल्लिखित हैं। किन्तु यह सब उसी ब्रह्म का परिवर्तित स्वरूप है। बाह्य भिन्नता का यथार्थ में अस्तित्व नहीं है, सब ब्रह्म ही ब्रह्म है (ऐतरेयोपनिषद् १-२, तैत्तिरीयोप० २।१)। उपनिषदों के अनुसार मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है कि वह उन कारणों को दूर करे, जिनके कारण जीवात्मा जन्म-मरण के बन्धन में पड़ता है। इसी को मोक्ष कहा गया है। आत्म-तत्त्व को पहिचाने बिना यह मोक्ष सम्भव नहीं है। इसलिए 'अहंभाव' को एकदम हटा देना परम आवश्यक है, क्योंकि 'अहंकार' के कारण ही मनुष्य संसार-रूपी गर्त में पड़ता है। पाशविक मनोवृत्ति के निरोध से ही सब-कुछ साधा जा सकता है। इसलिए आत्मनिग्रह भी आवश्यक है। कुत्सित इच्छाओं का अन्त करने से सब प्रकार की साधना सरल हो जाती है। इस प्रकार तैयारी करके मोक्ष का अनुभव किया जा सकता है, जोकि एक आनन्दमय अवस्था है। जो जीव इस अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकते उनके लिए कर्म-सिद्धान्त के अनुसार पुनर्जन्म का बन्धन रहता है। मृत्यु के पश्चात् जीव स्थूल-शरीर को छोड़ देता है, किन्तु सूक्ष्म-शरीर से जिसे लिङ्ग-शरीर भी कहते हैं, जकड़ा ही रहता है। जो जीव अपने पुण्यों द्वारा आत्मतत्त्व को पहिचान पाता है वह देवयान या अर्चिमार्ग द्वारा ब्रह्मलोक या सत्यलोक को जाता है, जहाँ से वापिस नहीं आना पड़ता। साधारण पुण्य वाले जीव पितृयान या धूम मार्ग द्वारा चन्द्रलोक को जाते हैं, जहाँ से पुण्यफल के क्षीण होने पर उन्हें वापिस आना पड़ता है। जो जीव मोक्ष की प्राप्ति कर लेते हैं, उन्हें किसी मार्ग का भी अनुसरण नहीं करना पड़ता। उपनिषदों के इसी अध्यात्मवाद ने जैन व बौद्ध

मन्तव्यो तथा षट् दर्शनो के विभिन्न सिद्धान्त को जन्म दिया। इसी अध्यात्मवाद की भूमिका पर भारत का दार्शनिक भवन खडा किया गया है।

(२)
वैदिक काल के पश्चात्
(क) दार्शनिक विकास

बौद्ध व जैन काल मे आध्यात्मिक उथल-पुथल—ईसा के पूर्व छठी शताब्दी ने भारत मे ही क्या किन्तु विश्व-भर मे आध्यात्मिक उथल-पुथल के दर्शन किये थे। कन्फ्यूशियस, जरथुस्त्र, बुद्ध, महावीर आदि इसी शताब्दी में उत्पन्न हुए थे। बौद्ध-साहित्य से मालूम होता है कि उस समय अनेकों आचार्य उत्पन्न हुए, जिन्होंने मोक्ष प्राप्ति के नये-नये मार्ग समाज के सामने रखे (दीघनिकाय १ मज्झिमनिकाय १, बम्ह-जालसुत्त)। इन सिद्धान्तों को तीन विभागों मे विभाजित किया जा सकता है—(१) चार्वाक, जैन, बौद्ध आदि (ई० पू० ६०० के लगभग) (२) भगवद्गीता व पश्चात् के उपनिषद् (ई० पू० ५०० के लगभग, व (३) षट् दर्शन (ई० पू० ३००—ई० पू० २००)। इस युग के सर्व-साधारण रूप से मान्य सिद्धान्त ये थे—पुनर्जन्म, ससार की क्षण-भङ्गुरता व तज्जन्य दुःख कर्म-सिद्धान्त, तपश्चर्या, वर्णाश्रम धर्म, नैतिकता के सिद्धान्त आदि।

चार्वाक या लोकायतिक सिद्धान्त—इस दार्शनिक उथल-पुथल के युग मे कुछ विचारक ऐसे भी थे, जो भौतिक अस्तित्व को ही सब-कुछ मानकर अज्ञात अध्यात्मवाद को ढकोसला समझते थे। ईश्वर, जीव आदि पर विचार करना तो अलग रहा, वे उनके अस्तित्व को भी नहीं मानते थे। उनके आदि आचार्य चार्वाक थे, जिनके सिद्धान्तों का उल्लेख अन्य ग्रन्थों मे मिलता है। बार्हस्पत्य-सूत्र इनका आदि ग्रन्थ माना जाता था, जो अप्राप्य है। सर्व-दर्शन-संग्रह के प्रथम अध्याय मे चार्वाक

मत के सिद्धान्तों का साराश दिया हुआ है। 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक के द्वितीय अङ्क मे भी उसके सिद्धान्तो को 'लोकायत' कहकर उल्लिखित किया गया है। लोकायत मत के अनुसार लोकायत ही एक-मात्र सच्चा शास्त्र है, जिसका प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है। भूमि, जल, अग्नि, वायु आदि तत्त्वों के अतिरिक्त ससार में कुछ भी नहीं है। इन्ही चार तत्त्वों के सम्मिश्रण से चेतना-शक्ति और बुद्धि का प्रादुर्भाव होता है। द्रव्य-प्राप्ति, भोग आदि ही जीवन के सच्चे उद्देश्य हैं। दूसरा और कोई लोक नहीं है। मृत्यु के पश्चात् सब चीजों का अन्त हो जाता है। कोई ईश्वर नहीं है। इसलिए खूब आनन्द, मौज, ऐश-आराम आदि करने चाहिएँ। वेदों के बनाने वाले धूर्त, भाँड और निशाचर थे। शरीर के भस्म हो जाने पर वह पुन कैसे आ सकता है? प्राचीन भारत मे लौकायतिक सिद्धान्त के मानने वाले कितने थे और समाज पर काफी उसका प्रभाव रहा या नहीं रहा, इस सम्बन्ध मे सप्रमाण कुछ नही कहा जा सकता। किन्तु उसके एक ग्रन्थ का भी न पाया जाना प्रमाणित करता है कि उसके मानने वाले इने-गिने ही रहे होंगे। समाज ने उसे कभी भी अपनाया न होगा।

जैन मत—वर्धमान महावीर जैन मत का सस्थापक तथा सुधारक था। उसकी कठिन तपस्या के परिणाम स्वरूप उसे 'जिन' की पदवी मिली, जिससे उसके अनुयायी जैन कहलाये। किन्तु जैन मत के मानने वालो का मौलिक नाम 'निग्गन्थ' मालूम होता है, जिसका उल्लेख बौद्ध-साहित्य मे आता है। यज्ञो मे की जाने वाली हिसा से घबराकर वर्धमान ने यज्ञों तथा उनका प्रतिपादन करने वाले वेदों का भी विरोध किया। यज्ञों का ऐसा विरोध तो उपनिषदों मे भी मिलता है। वर्धमान जैनियों का चौबीसवाँ तीर्थंकर था। जैनियों का प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और तेईसवाँ पार्श्वनाथ था। इस प्रकार कहा जा सकता है कि जैन मत बहुत प्राचीन है। वर्धमान ने उसे अन्तिम स्वरूप दिया।

ज्ञान का सिद्धान्त—वर्धमान ने अध्यात्मवाद और नैतिक तप का

सिद्धान्त अपने पुरोगामियों से सीखा था, किन्तु ज्ञान का सिद्धान्त उसका स्वतः का था। उसने ज्ञान पाँच प्रकार का माना है, जैसे—(१) मनि (साधारण ज्ञान), (२) श्रुति (शब्दों द्वारा प्राप्त, (३) अवधि (किसी माध्यम के बिना प्राप्त ज्ञान), (४) मन पर्याय (दूसरों के विचारों का जान जाना), (५) केवल (पूर्ण ज्ञान)। प्रथम दो प्रकार का ज्ञान प्रत्यक्ष और बाकी का परोक्ष कहलाता है। ज्ञान के दो प्रकार और माने गए हैं जैसे प्रमाण अर्थात् किसी वस्तु का उसी के दृष्टि-बिन्दु से प्राप्त ज्ञान, व नय अर्थात् अन्य दृष्टि बिन्दु से प्राप्त ज्ञान। 'नय' के सात प्रकार कहे गए हैं जैसे (१) नैगमनय—किसी वस्तु को साधारण एवं विशेष गुणों से युक्त देखना तथा उन दो प्रकार के गुणों के भेद को समझ न पाना, (२) सग्रहनय—इसमें साधारण गुणो पर जोर दिया जाता है, (३) व्यवहारनय—बाह्य ज्ञान पर आश्रित लौकिक दृष्टिकोण, (४) ऋजुसूत्रनय—विशिष्ट समय पर किसी वस्तु की अवस्था का ज्ञान, (५) शब्दनय—किसी नाम के लेने पर मन मे उससे बोधित वस्तु-विशेष की स्मृति लाने वाला ज्ञान, (६) समाभिरूढ़नय—किसी वस्तु के लौकिक अर्थ वाले नाम से उसके विभिन्न पहलुओ व स्वरूपो में से किसी एक की कल्पना से उत्पन्न ज्ञान, (७) नयाभास—भ्रमपूर्ण दृष्टि-कोण से उत्पन्न ज्ञान। जैन दर्शन के अनुसार किसी भी वस्तु या उसके गुण धर्म को दरसाने के सात प्रकार है, जिसे स्याद्वाद या सप्तभङ्गीनय कहते हैं, जैसे—(१) स्यादस्ति, (२) स्याद् नास्ति, (३) स्याद-स्तिनास्ति, (४) स्यादवक्तव्य, (५) स्यादस्ति अवक्तव्य, (६) स्यान्नास्ति अवक्तव्य और (७) स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य। सप्तभङ्गीनय का तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण सत्य कहीं भी नहीं है, सब वस्तुएँ सद-सदात्मक हैं। जब सब-कुछ परिवर्तनशील है, तब कहा ही नहीं जा सकता कि कोई भी वस्तु कभी भी सातत्य प्राप्त कर सकती है। यही जैन मत का अनेकान्तवाद है।

नवतत्त्व—ससार की प्रत्येक वस्तु उत्पन्न तथा नष्ट होती है।

उसमे द्रव्य और गुण का प्राधान्य है, जिनका समवाय-समवायी-सम्बन्ध है। ससार की सब वस्तुओ के और दो विभाग किये गए है, जैसे जीव (भोक्ता) और अजीव (भुक्ता)। यह ससार चक्र धर्म (गतिशीलता) और अधर्म (अगतिशीलता) आदि शक्तियों से चलता है। इस ससार मे नौ तत्त्व मुख्य है, जिनको जाने व समझे बिना जीवन सार्थक नही हो सकता। वे तत्त्व इस प्रकार हैं—(१) जीव, (२) अजीव, (३) पुण्य, (४) पाप, (५) आश्रव, (६) सवर, (७) बन्ध, (८) निर्जरा और (९) मोक्ष। इन तत्त्वो के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि जैन दर्शन मे कर्म को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। कर्मों के ही कारण जीव ससार-बन्धन मे पडता हे। सम्यक् ज्ञान द्वारा कर्म के बन्धन से मुक्ति मिल सकती है। प्रत्येक मुमुक्षु को तीन रत्न अवश्य अपनाने चाहिएँ, जैसे सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र्य। इसके अतिरिक्त सत्य, अहिसा, ब्रह्मचर्य आदि को भी अपनाना आवश्यकीय था।

साधु और श्रावक—जैनियो को मुख्य दो विभागो मे विभक्त किया गया है, जैसे साधु व श्रावक। इन दोनों को भिन्न-भिन्न नियम पालने पडते थे। साधु को दीक्षा प्राप्त करने के पश्चात् दतौन, स्नान आदि का अधिकार प्राप्त नहीं था। उसे प्रतिदिन भिक्षा मॉगनी पडती थी और अपने अपराधों को स्वीकार करना पडता था। इसके पश्चात् अध्ययन करने का समय आता था। स्त्रियो को भी दीक्षा लेने का अधिकार प्राप्त था। प्रत्येक साधु को पॉच व्रत धारण करने पडते थे, जैसे अहिसा, असत्य-त्याग, अस्तेयव्रत, ब्रह्मचर्यव्रत और अपरिग्रहव्रत। उसे रात्रि-भोजन भी त्यागना पडता था। श्रावक को अपना जीवन धार्मिक बनाना पडता था। उसे पञ्च अतिचार छोडने पडते थे, जिसके लिए ये व्रत धारण करने पडते थे—प्राणातिपतविरमणव्रत, मृषावाद-विरमणव्रत, मैथुन विरमणव्रत, अदत्तादान विरमणव्रत और परिग्रह-विरमणव्रत। इन्हे अनु-व्रत कहा गया है। जो इन अनुव्रतों का पालन

करता था तथा मदिरा, मास, मधु आदि से दूर रहता था वह सच्चा श्रावक कहलाता था। इसके अतिरिक्त तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत भी श्रावक को धारण करने पडते थे। उसे साधु, उपाध्याय, आचार्य, तीर्थङ्कर या अरिहन्त तथा सिद्ध आदि का आदर करना पडता था। श्रावकों को बहुत से देवी-देवताओं की पूजा करनी पडती है। इन देवताओं का निवास नरक, पाताल, स्वर्ग आदि मे रहता है।

समय के प्रभाव से जैनियो के दो भेद हो गए है, जैसे दिगम्बर और श्वताम्बर। इन भेदो के होने के बारे मे ऐतिहासिको मे बहुत मतभेद है। दोनो के माननीय ग्रन्थ अलग-अलग रहते है। दोनो के मन्दिर रहते है, किन्तु श्वेताम्बर जैनियो के देवता वस्त्र धारण करते है और दिगम्बर जैनियो के देवता नग्न रहते हैं।

बौद्ध दर्शन—जैन दर्शन के समान बौद्ध दर्शन ने भी कर्म-सिद्धान्त, पुनर्जन्म आदि बहुत-सी बातें उपनिषदो से ली है, किन्तु फिर भी उसका विकास स्वतन्त्र ही मालूम होता है। बौद्धो के मुख्य सिद्धान्त दो हैं—(१) चार आर्य सत्य और (२) बारह प्रकार का प्रतीत्य-समुत्पाद। चार आर्य सत्य ये है—दु ख, समुदय, निरोध और प्रतिपद या मार्ग। बारह प्रकार का प्रतीत्य समुत्पाद इस प्रकार वर्णित है – अविद्या, संस्कार, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरामरणं, शोक—'परिदेवनदु खदौर्मनस्योपयासा.' आदि। बौद्ध मत का मुख्य मन्तव्य है कि यह ससार दु खमय है, जिससे मुक्त होना प्रत्येक जीवधारी का कर्तव्य है। इच्छा दु ख का कारण है। सासारिक वस्तुओ के क्षणिक रहने से अज्ञान द्वारा उत्पन्न इच्छाओं की पूर्ति नहीं हो सकती। यह जीवन परिवर्तनों की एक शृङ्खला-मात्र है। इसमे सत्याश कुछ भी नहीं। इसकी चार अवस्थाएँ है, जैसे उत्पाद, स्थिति, जरा और निरोध। यही सिद्धान्त आगे चलकर क्षणिक वाद में परिणित हो जाता है। आत्मा के सम्बन्ध मे गौतम बुद्ध ने मौन धारण करना ही उचित समझा था। उसके मतानुसार मनुष्य का

व्यक्तित्व परिवर्तनशील है। उसका अन्तर पञ्चस्कन्धों का समुदाय है जिसे 'पुग्गल' या 'पुद्गल' कहते है। रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार व विज्ञान यह पञ्चस्कन्ध है। इनका विकास उपनिषदो के नामरूप से हुआ है। नाम के अन्तर्गत चित्त, विज्ञान आदि का समावेश हो जाता है। सासारिक वस्तुओ को दो विभागों मे विभाजित किया जा सकता है, जैसे रूपिणी, जिसके अन्तर्गत चार तत्त्व व उनसे बने हुए पदार्थ है, व 'अरूपिणी' जिनका कोई रूप नही है। इनमे चेतना की भिन्न अवस्थाओ का समावेश हो जाता है, अर्थात् पञ्चस्कन्धो का। ये अरूपी व रूपी उपनिषदों के नाम रूप से सम्बन्धित हैं।

कर्म-बन्धन—पञ्चस्कन्धों को एकत्रित करने मे कारण रूप कर्म ही है। इसी को पुनर्जन्म या ससार कहते है। नामरूप का ही पुनर्जन्म होता है। कर्म के बन्धन से छूटने मे ही सच्ची मुक्ति है। आठ प्रकार के मार्ग पर चलने से ही कर्म बन्धन तोडा जा सकता है। वह मार्ग इस प्रकार है—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् सकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् चारित्र्य, सम्यक् वृत्ति आदि। इस मार्ग में सफल होने के लिए आवश्यक है कि सब कर्म शुद्ध हों, आश्रव से अशुद्ध न किये गए हो। उन चार आर्य सत्यों का भी हमेशा ध्यान करना चाहिए, जिससे मनुष्य सन्मार्ग से कभी भी विमुख न हो सके। प्रत्येक मनुष्य को ध्यान, शील, दान, प्रज्ञा, विज्ञान आदि से युक्त होकर मोक्ष-प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए। निर्वाण-प्राप्ति के लिए जो तप, ध्यान, धारणा आदि किये जाते है, उनमे ब्रह्म-विहार की प्राप्ति होती है जोकि चार है, जैसे मैत्री, करुणा, मुदिता व उपेक्षा।

सुवर्ण मध्य—गौतम बुद्ध ने महावीर के समान तप की पराकाष्ठा करना उचित नही समझा। उसने सुवर्ण मध्य को ही स्वीकार किया। भिक्षुओं के लिए अच्छे-अच्छे वस्त्र, नियमित भोजन आदि की उत्तम व्यवस्था की गई थी। बुद्ध को यह बात भली भाँति ज्ञात थी कि शारीरिक कष्ट मानसिक व आत्मिक विकास के लिए हानिकारक हैं।

त्रिरत्न—जैनियो के अनुसार बौद्धो के भी तीन रत्न थे, जैसे बुद्ध, सङ्घ व धर्म। बौद्ध सङ्घ बहुत ही सुन्दर ढङ्ग पर विकसित किया गया था। सङ्घ के सदस्य हुए बिना निर्वाण-प्राप्ति सम्भव नहीं है। उपासक व भिक्षु ऐसे दो प्रकार के सङ्घ के सदस्य थे। इन दोनों के लिए दैनिक जीवन के भिन्न भिन्न नियम थे।

हीनयान व महायान—समय के प्रभाव से बौद्ध धर्म मे भी दो शाखाएँ हो गईं, जैसे हीनयान व महायान। हीनयान मे आध्यात्मिक व नैतिक सिद्धान्तों पर अधिक जोर दिया गया है। निर्माण के लिए तप, आत्मनिग्रह आदि आवश्यक माने गए थे। सम्पूर्ण ससार क्षणिक है, बहुत से छोटे-बड़े धर्म मिलकर आत्मा का भास कराते हैं। निर्वाण-प्राप्ति के लिए आर्य सत्यों का ध्यान व उनकी धारणा आवश्यक है। इस प्रकार जीवन को परिष्कृत बनाने से मनुष्य अर्हत् बनता है, जब उसे ससार से बाँधने के लिए कोई भी कर्म नहीं रहता। हीनयान के मन्तव्यानुसार निर्वाण की प्राप्ति एकान्तवर्तिनी गुफाओं को अन्धकार में ध्यानावस्थित होने से हो सकती है। किन्तु प्रारम्भिक बौद्ध सिद्धान्तों के अनुसार जीवन-कलह में भाग लेना आवश्यक था। हीनयान के अनुयायी कितने ही देवी, देवताओं को भी मानते थे। वे देवता न तो सर्वान्तर्यामी थे और न सर्वव्यापी। बुद्धि को 'देवातिदेव' कहा जाता था। पहले बुद्ध को देवता माना गया, तत्पश्चात् बुद्ध बनने के मार्ग में प्रवृत्त मुनियो को, फिर ब्राह्मण देवताओं को भी इनमे सम्मिलित कर लिया गया। इस प्रकार हीनयान एक विचित्र मत बन गया, जो सैद्धान्तिक रूप से ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानता, किन्तु बुद्ध की पूजा करना उचित समझता है। स्वर्ग-नरक की भावना भी अपनाई गई थी। हीनयान के सब ग्रन्थ पाली भाषा में हैं। हीनयान को उत्तरीय बौद्ध मत भी कहते हैं।

महायान—यदि बौद्ध मत के प्रादुर्भाव से अशोक के पूर्व तक के सिद्धान्तों को प्रारम्भिक बौद्धमत कहा जाय, तो अशोक के समय

सिद्धान्तो को हीनयान मत से सम्बन्धित किया जा सकता है। अशोक के पश्चात् से कनिष्क के समय तक जो दार्शनिक और धार्मिक वृत्तियाँ बौद्ध जगत् मे रही उन्हे महायान से सम्बन्धित किया जा सकता है। जब बौद्ध मत समस्त भारत और विदेशो मे फैलने लगा, तब उसे अपना अस्तित्व सुरक्षित रखने के लिए कितने ही परिवर्तनों को अपनाना पडा। यही महायान की विशेषता है। महायान के मतानुसार पञ्चस्कन्ध सत्य नही है। ससार भी पूर्णतया मिथ्या है। भूततथता या धर्मकाय ही जीवन का सार है। उसी के द्वारा निर्वाण-प्राप्ति हो सकती है। भूततथता की तुलना उपनिषदो के ब्रह्म से की जा सकती है। सब जीव उसी के स्वरूप है। अविद्या के कारण ही संसार-चक्र चलता है। अश्वघोष के मत मे अविद्या और चेतना एक ही हैं।

महायान के धार्मिक सिद्धान्तो मे विचार स्वातन्त्र्य को पूरा स्थान दिया गया है। आदि बुद्ध को तो परम पूज्य माना ही गया है, किन्तु प्राचीन वैदिक देवताओं को भी बौद्ध बाना पहनाकर अपना लिया गया है। इन देवताओं की स्तुति, भक्ति आदि जनसाधारण के लिए आवश्यक मानी गई है। भक्ति द्वारा ही निर्वाण-प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार महायान के भक्ति-मार्ग को भगवद्गीता के सिद्धान्तों से भिन्न प्रमाणित करना कठिन हो जाता है। सब पदार्थों मे धर्मकाय का अस्तित्व है। उसके ऊपर सम्भोगकाय है, जिसके द्वारा सासारिक वस्तुओं का भोग किया जाता है। उसके पश्चात् निर्माणकाय है, जिससे मन विकारपूर्ण बनता है। महायान का आदर्श बोधिसत्त्व है। इस आदर्श तक पहुँचने के लिए दस प्रकार की भूमि को प्राप्त करना आवश्यक है, जैसे प्रमुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुक्ति, दूरङ्गमा, अचला, साधुमती, तथागतता (धर्ममेव)। प्रत्येक को दान, वीर्य, क्षान्ति, ध्यान, प्रज्ञा आदि के लिए भी प्रयत्नशील रहना चाहिए। महायान का निर्वाण अन्धकारमय नहीं है।

बौद्ध दर्शन—ब्राह्मण दार्शनिको के मतानुसार चार बौद्ध दर्शन हैं,

दो हीनयान के और दो महायान के। वैभाषिक व सौत्रान्तिक हीनयान के है। ये सर्वास्तिवादी कहलाते है, क्योकि वे ससार के अस्तित्व को सत्य मानते है। योगाचार और माध्यमिक महायान के है। वैभाषिक के अनुयायी अन्य दर्शनो की भाषा को 'विरुद्ध भाषा' कहते थे, या वे अभिधर्म की टीका विभाषा को सर्वोपरि मानते थे, इसलिए कदाचित् उनके दर्शन का नाम वैभाषिक पडा हो। वे सूत्रो को नहीं मानते, केवल अभिधर्म को ही मानते है। उनके सिद्धान्तानुसार प्रत्येक वस्तु को अनुभव स समझने का प्रयत्न करना चाहिए। वे प्रकृति और मन के अस्तित्व को पृथक् मानते है। सत्य ज्ञान की प्राप्ति केवल ऐन्द्रिक और काल्पनिक ज्ञान मे हो सकती है। उनके मत मे गौतम बुद्ध साधारण व्यक्ति था, जिसने बुद्धत्व-विशिष्ट निर्वाण प्राप्त करके मृत्यु से अन्तिम निर्वाण प्राप्त किया और अपने अस्तित्व का भी नाश किया। किसी की सहायता के बिना सत्य-ज्ञान की प्राप्ति मे ही गौतम बुद्ध का दिव्यत्व था।

सौत्रान्तिक सिद्धान्तो के अनुसार वैकारिक जगत् का स्वतन्त्र अस्तित्व माना जाता है। वैभाषिक के अनुसार इस दर्शन मे भी कण-वाद को अपनाया गया है। इसके सिद्धान्तानुसार विचार मे स्वत विचार करने की शक्ति है। इस प्रकार चेतना शक्ति प्राप्त होती है।

योगाचार (विज्ञानवाद) दर्शन का सूत्रपात आर्य सङ्ग (असङ्ग) और उसके छोटे भाई वसुबन्धु (दिङ्नाग का गुरु) ने किया। अश्व-घोष भी इसी दर्शन का मानने वाला था। इसके अनुसार परम सत्य या बोधि केवल वे ही प्राप्त कर सकते है, जो कि योगाभ्यास करते है। प्रकृति एक विचार-मात्र है। चेतना मे कार्यशक्ति स्वयसिद्ध है। इसीलिए इसे निरालम्बवाद भी कहते है। आन्तरिक द्रष्टा और बाह्य दृश्य के द्वैत के कारण 'आलय' एक छोटा सा जगत् ही बन जाता है। 'आलय' चेतना की परिवर्तनशील धारा ही है। आलय और अविद्या के योग से अह भाव उत्पन्न होता है तथा उससे बाह्य जगत् अस्तित्व में आता है।

माध्यमिक दर्शन के अनुसार सुवर्ण मध्य को अपनाना प्रत्येक का कर्तव्य है। नागार्जुन इसी दर्शन का अनुयायी था। इस दर्शन के मन्तव्यानुसार वैकारिक जगत् सत्य नही है। सम्पूर्ण सत्य कही भी नही है। इस जगत् मे सब-कुछ कार्य-कारण की श्रृङ्खला पर ही निर्भर है। संसार के अतिरिक्त कोई ईश्वर नही है तथा ईश्वर के अतिरिक्त कोई ससार नहीं है। दोनो ही आभास-मात्र है। कुछ भी सत्य नहीं है। जगत् मे 'शून्य' का प्राधान्य है। इस शून्य से कुछ लोग पूर्ण अभाव का अर्थ लेते है, जो कि वैकारिक जगत् के बारे में ठीक हो सकता है, और कुछ लोग उस परम सत्य का अर्थ लेते है, जो इन परिवर्तनो मे छिपा हुआ है। उसको आध्यात्मिक सत्य से सम्बन्धित किया जा सकता है।

षट्दर्शन—न्याय, वैशेषिक, साख्य, योग, पूर्वमीमासा, उत्तरमीमासा आदि आस्तिक षट्दर्शनों का इतिहास बहुत ही प्राचीन है। उनमे से कुछ का उल्लेख जैन साहित्य मे भी आता है। किन्तु व्यवस्थित रूप प्राप्त करने मे कुछ समय लगा होगा। ऐतिहासिको का मत है कि ई० पू० पॉचवीं शताब्दी से लेकर ई० पू० पहली शताब्दी तक इन दर्शनों ने व्यवस्थित रूप धारण कर लिया था। ये दर्शन आस्तिक कहलाते है, क्योंकि वेद-प्रामाण्य इन्हे मान्य है। आस्तिकता और नास्तिकता का ईश्वर के अस्तित्व से कोई सम्बन्ध नहीं था। उनमे कितने ही सिद्धान्त सर्वसाधारण रूप से पाए जाते है, जैसे पुनर्जन्म, वर्णाश्रम, चित्तशुद्धि, मुक्ति, माया, अविद्या, प्रमाण आदि। प्रत्येक दर्शन अपने-अपने ढङ्ग पर मनुष्य को जीवन-मरण के बन्धन से छुडाकर मोक्ष दिलवाने का दावा करता है।

न्याय—इस दर्शन के प्रणेता गौतम मुनि माने जाते हैं, जिन्होने अपने न्याय सूत्रों में इस दर्शन के सिद्धान्तो का विवेचन किया है। इसमें बुद्धि को सर्वोच्च स्थान दिया गया है, क्योंकि बुद्धि के द्वारा सब-कुछ जाना जा सकता है। इस दर्शन के अनुसार सोलह तत्त्व हैं,

जिनको अच्छी तरह से जानने से निःश्रेयस की प्राप्ति हो सकती है। ये सोलह तत्त्व इस प्रकार हैं—प्रमाण, प्रमेय, सशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति व निग्रहस्थान। प्रमाण, जो कि ज्ञान-प्राप्ति के साधन है, चार प्रकार के हैं, जैसे प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान व शाब्दिक। इन्द्रिय व उसके अर्थ के सन्निकर्ष से जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह प्रत्यक्ष ज्ञान है। अनुमान तीन प्रकार का है—पूर्ववत्, शेषवत् व सामान्यतो दृष्ट। 'पूर्ववत्' मे कारण-कार्य भाव रहता है। कार्य से कारण का अनुमान 'शेषवत्' कहाता है। दो वस्तुओ में गत्यादि सामान्य रूप से रहने के कारण जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे 'सामान्यतो दृष्ट' कहा जा सकता है। उपमान मे प्रसिद्ध वस्तु-साधर्म्य से अप्रसिद्ध की साधना होती है, जैसे यथा गौस्तथा गवय। आप्तोपदेश को शब्द-प्रमाण कहते है। इसमे वेदादि आगमो द्वारा प्राप्त ज्ञान का समावेश हो जाता है।

प्रमाण ग्राह्य अर्थ प्रमेय है, जिसके अन्तर्गत आत्मा, देह, बुद्धि, इन्द्रिय-सुख आदि हैं। किसी वस्तु-विशेष के सम्यक् ज्ञान के प्रति जो शका होती है वह सशय है। किसी फल की इच्छा से जो कार्यारम्भ होता है वह प्रयोजन है। दृष्टान्त वह है जिसमे विवाद का कोई विषय ही न रहे। सिद्धान्त चार प्रकार के हैं, जैसे सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण व अभ्युपगम। प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय, निगम आदि पाँच अवयव हैं। सशय का उपरम तर्क कहाता है। सन्देह व तर्क के पश्चात् जो निश्चय होता है उसे निर्णय कहते है। पक्षप्रतिपक्ष-परिग्रह से गुरु-शिष्य के जो प्रश्नोत्तर होते हैं उसे वाद कहते है। वादी-प्रतिवादी की विजिगीषा से प्रेरित बातचीत मे छल-जात्यादि दूषण का आ जाना जल्प कहाता है। प्रतिपक्ष-साधन-विहीन बातचीत को वितण्डावाद कहते हैं। हेत्वाभास, जिसमे हेतु का आभास-मात्र ही रहता है, पाँच प्रकार का होता है, जैसे असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, कालात्ययापदिष्ट व प्रकरणसम। छल उसे कहते हैं, जिससे बोलने वाले के अर्थ को तोड़-

मरोडकर दूसरा ही अर्थ लगाया जाय। इसके तीन प्रकार हैं—वाक् छल, सामान्य छल व उपचार छल। जाति मे अदूषण का दूषण के समान आभास होता है। इसके चौबीस प्रकार हैं। निग्रहस्थान उसे कहते हैं जहाँ विपक्ष का निग्रह होता है। प्रतिज्ञा, हानि, सन्यास, विरोध आदि इसके विभेद हैं।

न्याय के अनुसार, आत्मा व प्रकृति एक-दूसरे से भिन्न है। ज्ञान जीवात्मा का गुण है। इच्छा, प्रयत्न, सुख, दु ख आदि भी उससे सम्बन्धित है। प्रकृति पूर्णतया जड है। मन व आत्मा के संयोग से चेतना-शक्ति उत्पन्न होती है। आत्मा व शरीर दोनो ही बिलकुल भिन्न-भिन्न है। आत्मा शरीर के बन्धन से मुक्त होना चाहता है। वह जन्म मरण के दु खो से छुटकारा पाना ही सर्वोत्तम समझता है। वह मन की सहायता से एक शरीर से दूसरे शरीर मे प्रवेश करता है। शरीर छोडते समय वह दिखाई नही देता, क्योकि वह अणु-मात्र ही है। चर्मचक्षुओं से उसे देखना असम्भव ही है। विभिन्न शरीरो मे रहने वाली आत्मा को जीव भी कहते हैं। ऐसे कितने ही जीव है। दृष्ट जगत्, जो कि जीवात्मा व प्रकृति से बना है, ईश्वर की कृति है। जीवात्मा के विभिन्न अनुभवो के लिए वह इस सृष्टि की रचना करता है। उसी की उपासना से कैवल्य प्राप्त होता है।

वैशेषिक—कणाद मुनि इस दर्शन के प्रणेता थे। नैयायिक व वैशेषिक देवताओ के विषय में कोई भेद नही है, भेद केवल तत्त्वों के सम्बन्ध मे है। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय आदि तत्त्व हैं। द्रव्य नौ हैं, जैसे भू, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा आत्मा व मन। गुण चौबीस है, जैसे स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, शब्द, संख्या, विभाग, सयोग, परिणाम, पृथक्त्व, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुखेच्छा, दु खेच्छा, धर्म, अधर्म, प्रयत्न, सस्कार, द्वेष, स्नेह, गुरुत्व, द्रवत्व व वेग। कर्म के पाँच भेद हैं, जैसे उत्क्षेप, अवक्षेप, अवकुञ्चनक, प्रसारण व गमन। सामान्य के दो प्रकार है, पर, अपर। विशेष के द्वारा वस्तुओं

की भिन्नता का ज्ञान होता है। आधार-आधेयभूत अयुतसिद्धो का जो सम्बन्ध रहता है उसे समन्वय कहते है, जैसे पट मे तन्तु। पश्चात् के आचार्यों ने अभाव को सातवाँ तत्त्व माना है। इस दर्शन मे प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति, आर्षज्ञान आदि चार प्रमाण मान्य है। सशय, विपर्यय, अनध्यवसाय, स्वप्न आदि से विपरीत ज्ञान प्राप्त होता है।

परमाणुवाद वैशेषिक दर्शन की विशेषता है। उसका प्रारम्भ उपनिषदों से होता है। जैन, आजीविक आदि द्वारा भी उसका उल्लेख किया गया है। किन्तु कणाद ने उसे व्यवस्थित रूप दिया। परमाणु जगत् के उपादान कारण माने जाते है। परमाणु एकत्रित व पृथक् होते रहते हैं। यह कार्य अनन्त काल से चला आता है। अग्नि व पृथ्वी के परमाणुओं द्वारा ईश्वर के ध्यान-मात्र से यह ब्रह्माण्ड उत्पन्न हो जाता है। इसमे ईश्वर जगत् व ब्रह्मा को उत्पन्न करता है। इस प्रकार और सृष्टि भी होती है। ब्रह्मा परम ज्ञान व परम शक्ति द्वारा मानस-पुत्र, प्रजापति, मनु, देवता, पितर, ऋषि, चार वर्ण व अन्य जीवों को उत्पन्न करता है। सृष्टि व प्रलय अनन्त काल तक होते रहते है। अहिसा ही परम धर्म है व हिसा अधर्म है। ससार से घृणा करना ही हिसा है। धर्म से हर प्रकार की उन्नति होती है। इसलिए दुष्ट मनोवृत्तियों का निरोध करना चाहिए। आत्मा का अदृष्ट से सम्बन्धित होकर शरीर धारण करना ही ससार है। उससे पृथक् होना मोक्ष है। नैयायिको के समान वैशेषिक सिद्धान्त के अनुयायी भी एक जगन्नियन्ता ईश्वर को मानते है। सैद्धान्तिक दृष्टि से न्याय व वैशेषिक मे बहुत कम अन्तर है। दोनो मे आत्मा-सम्बन्धी सिद्धान्त एक-सा है। यही हाल उनके परमाणुवाद का भी है।

साख्य—इस दर्शन के प्रणेता कपिल मुनि थे। इस दर्शन मे पच्चीस तत्त्व माने गए हैं, जिनमे पुरुष व प्रकृति मुख्य है। उन दोनों का सम्बन्ध अन्धे व लँगडे के सम्बन्ध के समान है। प्रकृति अन्धी है। व पुरुष लँगडा है। जब तक पुरुष प्रकृति से अपना पृथक्त्व नही समझ

लेता, तब तक ससार का नाटक चला करता है। पुरुष को कैवल्य-ज्ञान होते ही यह सब बन्द हो जाता है। अविवेक ही पुरुष व प्रकृति का सम्बन्ध कराता है। यह ससार प्रकृति से ही विकसित हुआ है। प्रकृति के सत्व, रज, तम आदि तीन गुण हैं। जब तक तीनो गुण साम्य की अवस्था मे रहते है तब तक प्राकृतिक विकास नहीं होता। किन्तु गुण क्षोभ होते ही प्रकृति का विकास प्रारम्भ हो जाता है, व पुरुष भी अविद्या के कारण इसमे फँस जाता है। यह विकास इस प्रकार होता है—प्रकृति (प्रधान, अव्यक्त) (१) महत् (२) बुद्धि (३) अहकार (सात्त्विक, राजस, तामस)—सात्त्विक अहंकार (४) मन (५-१४) दस इन्द्रिय, तामस अहकार (१५-१९) पञ्चतन्मात्रा (२०-२४) पञ्चमहाभूत। इस प्रकार प्रकृति के चौबीस तत्त्व विकसित होते हैं व पचीसवाँ तत्त्व पुरुष है। ये सब मिलकर साख्य के पचीस तत्त्व होते है।

साख्य दर्शन में आत्मा को पुरुष कहा गया है। पुरुष अनेक हैं। वे चुपचाप प्रकृति-नटी का नाटक देखते है। साख्य दर्शन में पुरुष को अमूर्त, चेतन, भोगी, नित्य, सर्वगत, अक्रिय, अकर्ता, निर्गुण सूक्ष्म इत्यादि माना गया है। जब पुरुष शरीर, मन, इन्द्रिय आदि से बँध जाता है, तब जीव कहाता है। प्रत्येक जीव का स्थूल शरीर रहता है, जो मृत्यु के पश्चात् नष्ट हो जाता है। उसका एक सूक्ष्म शरीर भी रहता है, जिसे लिग शरीर भी कहते है। इसी शरीर के साथ जीवात्मा पुनर्जन्म धारण करता है। साख्य दर्शन मे ज्ञान पाँच प्रकार का माना गया है, जैसे प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा व स्मृति। प्रमाण तीन हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान व शब्द। यह ससार दु खमय है। यहाँ आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक आदि तीन प्रकार के दु ख रहते है। सत्य ज्ञान या विवेक द्वारा इन दु खों से छुटकारा होता है। मिथ्या ज्ञान से उनकी वृद्धि होती है। नि:स्वार्थ वृत्ति द्वारा सद्गुणों को प्राप्त करने से सत्य ज्ञान की प्राप्ति होती है। योग, वैराग्य, ध्यान आदि भी आवश्यकीय हैं। रजो गुण व तमो गुण को घटाकर सत्व

की वृद्धि करनी चाहिए। कुछ विद्वानों का मत है कि साख्य दर्शन मे ईश्वर को स्थान नहीं है। साख्य के प्राचीन आचार्यों ने यह तो स्पष्ट रूप से नही कहा कि ईश्वर नहीं है, किन्तु इस बात का उल्लेख किया है कि ईश्वर के अस्तित्व की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। यह जगत् प्रकृति से ही विकसित होता है। किन्तु आगे चलकर साख्य के आचार्यों को अपने दर्शन की एक त्रुटि का अनुभव होने लगा। जब कि पुरुष तटस्थ व द्रष्टा मात्र है व अन्धी प्रकृति स्वत कुछ भी नही कर सकती, तब प्राकृतिक विकास का प्रारम्भ कैसे होता है? वाचस्पति, विज्ञानभिक्षु, नागेश प्रभृति को एक व्यवस्थापक ईश्वर की आवश्यकता प्रतीत हुई व उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व को मान लिया। वही ईश्वर प्रकृति के विकास को व्यवस्थित करता है।

योग—इस दर्शन के प्रणेता पतञ्जलि मुनि माने जाते है, जो कदाचित् महाभाष्यकार भी थे। योग व साख्य मे इतनी सैद्धान्तिक समानता ह कि कपिल के निरीश्वर साख्य से इसकी भिन्नता बताने के लिए इसे सेश्वर साख्य भी कहते है। इसके सिद्धान्तों के अनुसार सासारिक जीवन का उद्भव इच्छाओ के कारण होता है। इसलिए चित्त-वृत्तियों का निरोध परम आवश्यकीय है। यही सच्चा योग है। इन इच्छाओ को रोकने का अभ्यास करने से चित्त को अधीन किया जा सकता है। चित्त-वृत्ति के निरोध के लिए अष्टाङ्ग योग की साधना आवश्यकीय है। यम, [illegible] [illegible]हार, ध्यान, धारणा, समाधि आदि [illegible] अष्टाङ्ग योग के साधन से शरीर व मन की अच्छी पुष्टि होती ह, जिससे मन पर कुवासनाओ का कोई प्रभुत्व नहीं हो सकता। इस प्रकार कैवल्य की प्राप्ति हो सकती है योग दर्शन मे इस बात को भी मान लिया गया है कि सब लोग कैवल्य की प्राप्ति नहीं कर सकते। उनके लिए क्रियायोग ही पर्याप्त है, जिसके अन्तर्गत तप, स्वाध्याय व ईश्वर-प्रणिधान है। योग का ईश्वर जगत् का कर्ता नही है, किन्तु प्राकृतिक विकास का प्रथम दर्शक

है, व जीवों को प्रकृति से पृथक् उन्हे कैवल्य प्राप्त कराने मे भी सहायक होता है।

पूर्व मीमासा—इसके प्रणेता जैमिनि मुनि थे। इसे कर्म मीमासा भी कहते है, क्योंकि इसका सम्बन्ध कर्मकाण्ड से है। इसके मन्तव्यानुसार नित्त, नैमित्तिक यज्ञादि के करने से ही सच्ची मुक्ति प्राप्त हो सकती है। सब कर्मों का प्रारम्भ वेदो से होता है। इस मीमासा के अनुसार चोदना लक्षण वाला अर्थ ही धर्म है, (मीमासा-सूत्र १।१।२) व उसी धर्म का परीक्षण करना पूर्व मीमासा का मुख्य उद्देश्य है। इसमे यज्ञो का ही प्राबल्य है, दार्शनिक सिद्धान्त तो गौण रूप से हैं। वेद सर्वोपरि है व कर्म का ज्ञान पर प्रभुत्व है। पूर्व मीमासा में तीन प्रमाण माने गए हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान व शब्द। पश्चात् के आचार्यों ने तीन प्रमाण और माने है—उपमान, अर्थापत्ति व अभाव। इन प्रमाणों से सिद्ध ज्ञान ही उपादेय है। ज्ञान-प्राप्ति के चार अङ्ग हैं—ज्ञाता,, ज्ञेय, ज्ञान कारण व ज्ञातता। पूर्व मीमासाकार ने आत्मा के अस्तित्व के लिए विस्तृत रूप से कोई प्रमाण नहीं दिए। इस सम्बन्ध में वेदान्त के मन्तव्य को ही मान लिया गया है। प्राकृतिक जगत् का अस्तित्व यथार्थतापूर्ण है, तथा वह मन से पृथक् है, जो कि उसका साक्षात्कार करता है। प्रभाकर के मतानुसार, आठ तत्त्व हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य व सख्या। गुणों के अधिष्ठान को द्रव्य कहते हैं, जो कि नौ है—भू, जल, वायु, अग्नि, आकाश, आत्मा, मन, काल व स्थान। द्रव्य तथा गुण के सम्बन्ध के बारे मे पूर्व मीमासा ने वैशेषिक दर्शन से लिया है। इस मीमासा के अनुसार कर्म तीन प्रकार के माने गए है—नित्य, नैमित्तिक व काम्य। तीनों वर्ण इन कर्मों के करने के अधिकारी हैं। कर्म व परिणाम का सञ्चालन 'अपूर्व' द्वारा होता है। पूर्व मीमासा में कितने ही देवताओं का उल्लेख है जो यज्ञ में हविष् प्राप्त करते हैं। मीमासको को इन देवताओं के अतिरिक्त किसी अन्य सर्वोपरि देवता की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। उनके

सिद्धान्तानुसार कर्म ही परम सत्य है और ईश्वर-धर्म है।

वेदान्त—इस दर्शन को उत्तर मीमासा भी कहते हैं। इसके प्रणेता बादरायण या व्यास मुनि माने जाते हैं। इस दर्शन के अनुसार प्रमाण दो हैं—श्रुति (प्रत्यक्ष), व स्मृति (अनुमान)। इस जगत् में ब्रह्म ही सत्य है। पुरुष व प्रकृति उसी के परिवर्तित स्वरूप हैं। पुरुष में जो ब्रह्म है, उस पर पुरुष का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। दिनों का भेद मुक्ति के पश्चात् भी रहता है। यह ससार ब्रह्म के सकल्प का परिणाम है। यह उसकी लीला है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए जीवात्मा को अच्छे-अच्छे गुण प्राप्त करने चाहिएँ, जिससे आत्म शुद्धि हो सके व जीवन पवित्र बन जाय।

शकर का मायावाद—शकराचार्य ने वेदान्त-सूत्रों पर भाष्य लिखकर एक नया सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, जिसे शाकर वेदान्त या मायावाद कहते हैं। वेदान्त सूत्रों में शकर के सिद्धान्त के लिए सामग्री अवश्य है, किन्तु उसका स्वरूप व्यवस्थित नहीं है। उसे शकर ने व्यवस्थित किया। मायावाद का मुख्य सिद्धान्त है कि जो-कुछ दिखाई देता है वह सत्य नहीं है, वह केवल आभास-मात्र है। जिस प्रकार रात्रि के अन्धकार में रस्सी में सर्प का भ्रम हो जाता है, उसी प्रकार अविद्या के अन्धकार में ब्रह्म इस जगत् के रूप में दिखाई देता है। ब्रह्म का इस प्रकार दिखाई देना उसके मायान्वित होने के कारण भी है। जीव को मायान्वित ब्रह्म भी कह सकते हैं। इस प्रकार अनेकत्व केवल आभास है व एकत्व एक मात्र सत्य है। "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" (ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है), "सर्वं खलु इद ब्रह्म" (यह सब-कुछ ब्रह्म है), "तत्त्वमसि" (तू वही है) आदि उपनिषदों के वाक्यों से शकर मत की पुष्टि की जाती है। जब जीवात्मा सच्चे ज्ञान के प्रकाश में अविद्या-न्धकार को दूर करके माया के फन्दे को तोड़ देता है, तब उसे एकत्व का भास होने लगता है, और वह अनुभव करने लगता है कि "अहं ब्रह्म अस्मि" (मैं ही ब्रह्म हूँ)। इसी को मुक्ति कहते हैं।

अन्य आचार्यों के मत—रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ आदि मध्यकालीन आचार्यों ने भी वेदान्त-सूत्र पर अपने-अपने भाष्य लिख-कर भिन्न-भिन्न मन्तव्य प्रतिपादित किये, जो विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि नामो से जाने जाते है। जीव व ब्रह्म के सम्बन्ध को समझाने मे जो भेद है उसी के कारण उनके मन्तव्यों मे भी भिन्नता आ गई है, अन्यथा अन्य सब सिद्धान्त एक से हैं। स्थानाभाव के कारण यहाँ उन पर विस्तृत रूप से विचार नहीं किया जा सकता।

(ख) धार्मिक विकास

त्रिदेव—वैदिक काल के पश्चात् ज्यो-ज्यो समय बीतता गया, त्यों-त्यों धार्मिक जीवन में भी बहुत-से परिवर्तन होते गए और उसका विकास होने लगा। समय की गति से वह विकास उस अवस्था को पहुँचा जो 'हिन्दू-धर्म' के नाम से जाना जाता है। यों तो आज जो धार्मिक मन्तव्य इस नाम से जाने जाते हैं, उनका आरम्भ वेदों से ही होता है, किन्तु इस धर्म में विकास की अवस्था में बहुत-सी ऐसी बातें समा गई, जो उसकी मौलिक अवस्था में नहीं थीं। वैदिक काल के इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश आदि ने ले लिया। उन्हीं की स्तुति, उपासना आदि की जाने लगी। त्रिदेव की भावना पुराणों में अधिक विकसित हुई। इस भावना का यह मतलब कदापि नहीं हो सकता कि वेदकालीन एकेश्वरवाद का स्थान अनेकेश्वरवाद ने ले लिया। ब्रह्मा, विष्णु और महेश परमेश्वर के ही तीन स्वरूप उसकी विभिन्न शक्तियों के द्योतक माने गए। ब्रह्मा का काम सृजन करना, विष्णु का काम रक्षण करना और शिव का काम नाश करना था। ससार में तीनो प्रवृत्तियाँ स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं। ये परमेश्वर द्वारा ही प्रेरित होती हैं। इस प्रकार त्रिदेव की कल्पना में एक ही परमात्मा को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा गया है। उसमें अनेक देवताओं का भाव निहित नहीं हैं। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया,

ज्यों-ज्यों लोग गूढ़, धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्त समझने मे असमर्थ होने लगे। परिणामत मुक्ति प्राप्त करने का या ईश्वर को समझने का एक और मार्ग ढूँढ़ा गया। इसका नाम 'भक्ति-मार्ग' है।

भक्ति-मार्ग—भक्ति-मार्ग का उद्देश्य इष्ट देवता की उपासना, भक्ति, उसके गुण-गान, भजन, सकीर्तन आदि द्वारा मुक्ति प्राप्त करना है। पहले-पहल ब्रह्मा, विष्णु और महेश ही साधारणतया इष्टदेव माने जाते थे। किन्तु धीरे-धीरे इन तीन देवों के अतिरिक्त कितने ही इष्टदेव हो गए और प्रत्येक की भक्ति, पूजा आदि की विधि में भी अन्तर हो गया। इस प्रकार वैष्णव, शैव आदि कितने ही सम्प्रदाय उत्पन्न हो गए। धर्म के इस परिवर्तित स्वरूप का सुन्दर और स्पष्ट चित्र पुराणो में मिलता है। एक पुराण से अठारह महापुराण और अठारह उपपुराणो का बनना ही इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि भक्ति की गङ्गा भिन्न-भिन्न स्रोतों मे बहने लगी थी और उसने समस्त भारतवर्ष को अपने जल से परिप्लावित कर दिया था।

कुछ विद्वानो का मत है कि यदि ऐतिहासिक दृष्टि से भक्ति-मार्ग पर विचार किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि कदाचित् बौद्ध-धर्म के महायान के प्रभाव से भक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। बोधिसत्त्वादि की पूजा उसके गुण-गान, भजन, सकीर्तन आदि करना महायान का मुख्य मन्तव्य था। इससे जनसाधारण का आकर्षण उसकी ओर बढ़ने लगा। हिन्दू-धर्म ने महायान की इस विशेषता को अपनाकर बौद्ध धर्म के बढते हुए वेग को रोक दिया। बोधिसत्त्व के स्थान मे विष्णु, शिव आदि की भक्ति की जाने लगी। इस मन्तव्य को पूर्णतया पुष्टि नहीं दी जा सकती। भक्ति-मार्ग के विकास पर बौद्धधर्म का कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। किन्तु यह तो सम्भव नहीं है कि उसका प्रारम्भ बौद्ध धर्म से हुआ हो, क्योंकि जैसा कि पहले बताया जा चुका है, भक्ति-मार्ग की जड़ें तो ऋग्वेद में पाई जाती हैं।

भागवत या वैष्णव सम्प्रदाय—ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध

होता है कि ईसा के पूर्व की पहली शताब्दी में भागवत सम्प्रदाय का प्राबल्य था। पश्चिमोत्तर प्रान्त के यूनानी राजा एण्टियाल्किडास का राजदूत हिलीयोडोरो मध्यभारत के बेसनगर (आधुनिक भेलसा के निकट) के राजा के पास भेजा गया था। वहाँ जाकर हिलीयोडोरो विष्णु का परम भक्त हो गया, यहाँ तक कि उसने विष्णु का मन्दिर बनवाया और एक विष्णु-ध्वज-स्तम्भ खड़ा करवाया, जिस पर एक लेख खुदवाया। उक्त लेख में 'परम भागवतो हिलीयोडोरो' शब्द भी आते हैं। इससे पहले के भी भक्ति मार्ग के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन यूनानी राजदूत मेगास्थनीज़ ने कृष्ण और शिव की भक्ति के प्राबल्य का स्पष्ट उल्लेख किया है। पातञ्जल महाभाष्य (ई० पू० द्वितीय शताब्दी) में कंस-वध और बाली-वध नाटकों के अभिनय के उल्लेख से भी पता चलता है कि ई० पू० द्वितीय शताब्दी में भी भक्ति-मार्ग का प्राबल्य था। भक्ति-मार्ग का प्राबल्य उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। गुप्त सम्राटों के लेखों से मालूम होता है कि वे अपने नाम को 'परम भागवत' पदवी से अलकृत करते थे। इस प्रकार भागवत सम्प्रदाय का इतिहास बहुत ही प्राचीन तथा विस्तृत है।

शैव सम्प्रदाय—भागवत सम्प्रदाय के साथ-साथ शैव सम्प्रदाय का भी विकास हुआ था। प्राचीन काल में इसका विशेष प्राबल्य पश्चिमी भारत में था। महाभारत और पुराण में जो शाकद्वीपों का वर्णन आता है, उसमें बताया गया है कि वहाँ शैवों का प्राबल्य था। ईसा की द्वितीय शताब्दी में कुछ कुशानवंशी राजा भी शैव बन गए थे। ईसा की छठवीं शताब्दी में हूणों ने भी इस मत को अपनाया, जैसा कि तोरमाण, मिहिरगुल आदि हूण राजाओं के सिक्कों से मालूम होता है। धीरे-धीरे यह सम्प्रदाय भारत भर में फैल गया। कितने ही वर्षों तक दक्षिण भारत में इस सम्प्रदाय का प्रभुत्व रहा। वैष्णव और शैव दोनों ही सम्प्रदाय बराबरी से उत्तरोत्तर वृद्धि करने लगे। कभी-कभी

उनके अनुयायियों में कुछ मुठभेड भी हो जाती थी, किन्तु साधारण-तया भारत के धार्मिक वातावरण में सहिष्णुता का साम्राज्य रहता था।

पुराण—पुराणों के विकास और सम्प्रदायों के विकास का घनिष्ठ सम्बन्ध मालूम होता है। प्राचीन काल से ही इतिहास-पुराण का साहित्य जनसाधारण को प्रिय लगता था। इसी प्रकार भक्ति-मार्ग भी उनका प्रिय मार्ग था। इसलिए पुराण और भक्ति-मार्ग का सम्बन्धित हो जाना स्वाभाविक ही था। पुराणों ने सम्प्रदायों के धर्मग्रन्थों का काम दिया। इष्टदेवता की भक्ति, पूजा आदि अत्यन्त ही विस्तार से वर्णन करना पुराणों का मुख्य उद्देश्य बन गया। शिव, मार्कण्डेय, विष्णु, मत्स्य, गरुड, भागवत आदि पुराणों का रहस्य इसी मे छिपा हुआ है।

भक्ति-मार्ग का उत्तरोत्तर विकास—ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों भक्ति-मार्ग विकसित होता ही गया। मध्यकाल में इस विकास की पराकाष्ठा हो गई, जब कि भारत के भिन्न-भिन्न भागों मे कितने ही सन्त उत्पन्न हुए, जिन्होने हिन्दी, गुजराती, मराठी, बङ्गला कन्नड, तामिल, तेलुगू आदि भारत की विभिन्न भाषाओं में मध्यकालीन भक्ति-साहित्य का निर्माण किया। कबीर, रामानन्द, सूरदास, तुलसीदास, चैतन्य महाप्रभु, नरसिंह मेहता, मीराबाई, तुकाराम, रामदास, ज्ञानेश्वर आदि सन्तों ने मध्यकाल में भक्ति की गंगा को समस्त भारत में बहाया था। आज भी भारत के जनसाधारण के हृदय-सिंहासन पर वे ही सन्त वर्तमान हैं। उन्हीं के वचन भारतीयों के जीवन को नियन्त्रित और सञ्चालित करते हैं। उनमें से कितनों ने ज्ञान और भक्ति का सुन्दर समन्वय करने का प्रयत्न भी किया है। भक्ति-काव्य ने भारत के हृदय पर अपना अच्छा प्रभुत्व जमा लिया है।

भक्ति-मार्ग की बुराइयाँ—भक्ति-मार्ग के विकास की चरम सीमा होने के पश्चात् उसमें कितनी बुराइयाँ भी आने लगीं। ईश्वर की भक्ति के नाम पर कितना ही अनाचार किया जाने लगा। विभिन्न

सम्प्रदायों के आचार्यों में से विद्वत्ता का लोप होने से आडम्बर, इन्द्रिय-लोलुपता आदि का साम्राज्य बढने लगा। आचार्य और उनके अनुयायी अपने आदर्शों से विचलित होने लगे। परिणामत: इन सम्प्रदायों के व्यावहारिक जीवन के प्रति शिक्षित समुदाय में घृणा का भाव पैदा होने लगा, व समाज में एक प्रकार की क्रान्ति उत्पन्न हो गई, जिसका दौर-दौरा अभी भी चला जाता है। इस प्रकार भारत के धार्मिक इतिहास में भक्ति-मार्ग का स्थान अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है।

११

साहित्यिक विकास

(१)
वैदिक वाङ्मय

वेद—'वेद' शब्द 'जानना' अर्थ वाली 'विद्' धातु मे 'अच्' या 'घञ्' प्रत्यय लगाने से बनता है, व उसका अर्थ ज्ञान होता है। उसकी प्राचीनता व पवित्रता के कारण उसे ईश्वरीय ज्ञान भी कहते हैं। धर्मनिष्ठ भारतीय उसे अपौरुषेय मानते हैं, अर्थात् ईश्वर को उसका कर्ता मानते हैं। विभिन्न मन्त्रों के ऋषि मन्त्रद्रष्टा-मात्र माने जाते हैं। वेद या वैदिक साहित्य से साधारणतया तीन प्रकार के साहित्यिक ग्रन्थों का बोध होता है, जिनमे से कुछ आज तक सुरक्षित हैं, व कई का पता नहीं है। प्राप्य साहित्य का ब्यौरा इस प्रकार है—*(१) सहिता*—ऋक्, यजु, साम, अथर्व आदि चार सहिताएँ हैं, *(२) ब्राह्मण*—इस साहित्य में गद्य के रूप में यज्ञादि-विषयक बहुत सी बातें हैं। प्रत्येक सहिता से सम्बन्धित ब्राह्मण हैं, जैसे ऐतरेय, कौशीतकी या शाङ्खायन (ऋग्वेद), तैत्तिरीय, शतपथ (यजुर्वेद), पञ्चविश, षड्विश, अद्भुत, छान्दोग्य (सामवेद), गोपथ (अथर्व वेद, आरण्यक व *(३) आरण्यक व उपनिषद्*—ब्राह्मण साहित्य का अन्तिम भाग आरण्यक कहलाता है, उसमे यज्ञों को दार्शनिक ढग पर समझाया गया है। आरण्यक के अन्तिम भाग को उपनिषद् कहते हैं, जिसमें दार्शनिक ढङ्ग पर ब्रह्म, जीव, प्रकृति आदि

का विवेचन किया गया है। विभिन्न वेदों से सम्बन्धित उपनिषद् इस प्रकार हैं—ऐतरेय, कौशीतकी (ऋग्वेद), तैत्तिरीय महानारायण, कठ मैत्रायणीय, बृहदारण्यक (यजुर्वेद), छान्दोग्य, केन (सामवेद)।

वेद-काल—उपरिनिर्दिष्ट साहित्य मे ऐतिहासिक दृष्टि से सहिताएँ सर्व प्रथम हैं, तत्पश्चात् ब्राह्मण व उपनिषद् माने जाते है। सहिताओ में भी ऋग्वेद सहिता प्राचीनतम है। अतएव वेद-काल निर्णय में ऋग्वेद-काल-निर्णय ही मुख्य प्रश्न है। ऋग्वेद का काल-निर्णय करना एक जटिल समस्या है। भाषा की कठिनता व प्राचीनता के कारण वैदिक मन्त्रों के सच्चे अर्थ को समझना भी मुश्किल हो गया है। इसलिए इस सम्बन्ध मे कोई भी मत स्थिर करना सरल नहीं हैं। इस दिशा में मैक्समूलर का प्रयत्न महत्त्वपूर्ण है। उसने प्राचीन उपनिषदों में बौद्ध सिद्धान्तों की भूमिका देखकर तय किया कि उपनिषद् बौद्ध काल के कुछ ही पहले के होने चाहिएँ। उनका समय ई० पू० छठी शताब्दी रखा गया। उसने ब्राह्मण-साहित्य के लिए ई० पू० ८०० वर्ष यजुर्वेद, अथर्ववेद आदि के लिए ई० पू० १००० वर्ष, ऋग्वेद के लिए ई० पू० १२००-१२०० के मध्य का काल निश्चित किया। ज्योतिष शास्त्र की सहायता से तिलक व जेकोबी ऋग्वेद को ई० पू० ४५०० वर्ष तक ले जाते हैं। विण्टरनीज भारत के बाहर पाये गए वैदिक सस्कृति के चिह्नों के आधार पर ऋग्वेद को ई० पू० ३००० वर्ष का सिद्ध करते हैं। ब्हूलर मैक्समूलर के मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि ऋग्वेद ई० पू० १२०० वर्ष के बहुत पहले का होना चाहिए। इन सब सिद्धान्तों के विपरीत अविनाशचन्द्रदास भूगर्भ-शास्त्र की सहायता से ऋग्वेद को लाखों वर्ष पूर्व का सिद्ध करते है।

वेदोत्पत्ति व पुराण—वेद कब व कैसे बने इन प्रश्नों को पुराणों की सहायता से हल किया जा सकता है। वायु, विष्णु आदि पुराणों में जहाँ राज-वंशावलियाँ दी हैं, वहाँ वेद-मन्त्रों के द्रष्टा ऋषियों के सम्बन्ध में भी कुछ-कुछ ऐतिहासिक सामग्री मिल जाती है। वैदिक

संहिताओं व अनुक्रमणिकाओं मे मन्त्र द्रष्टा ऋषियो का वर्णन आता है। इन मन्त्र-द्रष्टा ऋषियो मे से कुछ के नाम पुराणो मे भी आते हैं तथा वहाँ उनके बारे मे जो-कुछ कहा गया है, उसकी पुष्टि वैदिक सहिताओ से होती है। वेद-मन्त्रों को उनके ऋषियो के क्रम के अनुसार व्यवस्थित करके उनकी भाषा आदि का आलोचनात्मक अध्ययन करके पुराणो की सहायता से उन वेद-मन्त्रो की बनावट व उनके काल-निर्णय के सम्बन्ध मे बहुत-कुछ निश्चित रूप से जाना जा सकता है पुराणों की सहायता से वेद-सम्बन्धी कितने ही भ्रम दूर किये जा सकते हैं। यदु, द्रुह्यु आदि को आधुनिक विद्वानों ने वेदकालीन जातियों के नाम माना है, जिन्हें पञ्जाब से सम्बन्धित किया गया है व जिनका सम्बन्ध उस कपोल कल्पित 'दाशराज्ञ-युद्ध' से जोड़ा जाता है (ऋ० ८।८३)। किन्तु पुराणों मे यथार्थ स्थिति का बोध होता है व कहा जा सकता है कि यदु, द्रुह्यु आदि चन्द्रवशी राजा ययाति के पुत्र थे, व भारत के विभिन्न भागों में राज्य करते थे, यदु के वशज आज भी भारत में 'यादव' नाम से जाने जाते हैं। इस प्रकार पुराणों की सहायता से वेदों के मन्त्रो को उनके सच्चे स्वरूप मे समझा जा सकता है व तिथि-क्रम के अनुसार व्यवस्थित किया जा सकता है।

ऋग्वेद—ऋग्वेद सहिता को ऐतिहासिक लोग प्राचीनतम मानते हैं। उसमें दस मण्डल हैं और सब १०२८ सूक्त हैं। सम्पूर्ण ऋग्वेद को आठ अष्टकों मे भी विभाजित किया गया है। प्रत्येक अष्टक मे आठ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय मे कितने ही वर्ग हैं, जिनमें साधरणतया पाँच मन्त्र रहते हैं। मण्डलों के द्रष्टा ऋषि-विशेष हैं। उन ऋषियों के नाम ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा वैदिक अनुक्रमणिकाओं में पाये जाते हैं, जैसे गृत्समदे, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज और वशिष्ठ। ये ऋषि व उनके वशज दूसरे मण्डल से सातवें मण्डल तक मन्त्र-द्रष्टा माने जाते हैं। अनुक्रमणिकाओं में पहले, नवें और दसवें मण्डल के सब ऋषियों के नाम भी दिये गए हैं। उनमें कुछ स्त्रियाँ भी हैं, जैसे वागाम्भृणी

(ऋ० १०।१२५) घोषा काक्षीवती (ऋ० १०।३६,१०।४०), अपाला आत्रेयी (ऋ० ८।६२)। ऋग्वेद पूर्णतया धार्मिक ग्रन्थ है। उसमे विभिन्न देवताओ की स्तुति की गई है। उसके धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों का वर्णन धर्म और दर्शन' के अध्याय में किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त उसमे कुछ मन्त्र ऐसे भी है जिनकी सहायता से तत्कालीन राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक विकास का पता चलता है। इस प्रकार उसमें धर्म और दर्शन के अतिरिक्त राजनीति, समाज शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, गणितादि विद्या, ज्योतिष-शास्त्र, काव्य, अलकार आदि विभिन्न शास्त्रों और विद्याओं के मौलिक सिद्धान्तों का उल्लेख है, जिनका विवेचन अन्यत्र किया गया है।

सामवेद—सामवेद ऋग्वेद से अधिक सम्बन्धित है। ऐतिहासिक दृष्टि से उसका कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि ७५ मन्त्रों के सिवाय सब ही मन्त्र ऋग्वेद से लिये गए हैं, जो कि सोम-सम्बन्धी हैं। इस वेद का सग्रह यज्ञ की दृष्टि से हुआ है। इसके सब मन्त्र सोम-यज्ञों के समय उच्चारित किये जाते हैं। इन मन्त्रो को गाया जाता है। सामवेद में १५४९ मन्त्र हैं और समस्त ग्रन्थ को दो अर्चिकाओ में बाँटा गया है। पहली अर्चिका में ६ प्रपाठक है, जिनमे अग्नि, सोम और इन्द्र की स्तुति की गई है। दूसरी अर्चिका मे ९ प्रपाठक हैं।

यजुर्वेद—यजुर्वेद विशेष रूप से यज्ञ से सम्बन्धित है। विभिन्न यज्ञो के समय उच्चारित किये जाने वाले मन्त्रों का इसमें संग्रह है। इसमे भी ऋग्वेद के मन्त्र लिये गए हैं। ब्राह्मण-रहित यजुर्वेद को शुक्ल यजुर्वेद कहते हैं, जिसमें ४० अध्याय है। कुछ विद्वानों का मत है कि इसमें सर्वप्रथम १८ अध्याय थे, बाकी के अध्याय बाद में मिलाये गए। इन अध्यायों में विभिन्न यज्ञों का वर्णन है। किन्तु इस वेद में यत्र-तत्र सामाजिक और आर्थिक परिस्थिति के चित्र के लिए भी सामग्री मिलती है, तथा रेखागणित, अङ्कगणित-सम्बन्धी भी बहुत-सी बातें मालूम होती हैं। ऐतिहासिकों के मतानुसार यजुर्वेद ऋग्वेद से विभिन्न भौगो-

लिक, धार्मिक, सामाजिक आदि परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराता है। उसमें पञ्जाब की सिन्धु आदि नदियों का उल्लेख नहीं है, उसमे उत्तर भारत के उस प्रदेश का निर्देश है, जहाँ कुरु और पाञ्चाल बसे थे। कुरु का प्रदेश कुरुक्षेत्र अत्यन्त पवित्र माना गया है, जो सतलज और यमुना के मध्य में स्थित था। उसके पूर्व में गगा और यमुना का मध्य-वर्ती भू-भाग पाञ्चालों का प्रदेश कहाता था। ये दोनों प्रदेश भारत के सास्कृतिक विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। साधारणतया विद्वानों का ऐसा मत है कि ब्राह्मणधर्म, संस्कृति आदि ने अपना स्वरूप नहीं धारण किया। धार्मिक दृष्टि से यजुर्वेद और ऋग्वेद में विशेष अन्तर प्रतीत नहीं होता, क्योंकि दोनो मे लगभग एक-से ही देवता हैं। ऋग्वेद में यत्र-तत्र उल्लिखित प्रजापति यजुर्वेद में अधिक महत्त्वशाली है। ऋग्वेद का रुद्र यहाँ शिव के रूप में उपस्थित होता है, और शकर, महादेव आदि नामों से उल्लिखित है। इसी प्रकार विष्णु ने महत्त्वर्ण स्थान ग्रहण कर लिया है तथा यज्ञ से उसका तादात्म्य स्थापित किया गया है। देव और असुर को क्रमश अच्छाई और बुराई से सम्बन्धित करके उनके पारस्परिक झगड़ों का भी उल्लेख किया गया है। यजुर्वेद में बहुत-सी अप्सराओं का भी उल्लेख है।

यजुर्वेद में सर्वप्रथम उपनिषद् के ब्रह्म के दर्शन होते हैं। यद्यपि धार्मिक जीवन में विभिन्न देवताओं को स्थान प्राप्त था, तो भी यज्ञ अधिक महत्त्वपूर्ण माने जाते थे। यज्ञ की विधि, सामग्री तथा अन्य आवश्यक बातों का विस्तारश वर्णन किया गया है। शुक्ल यजुर्वेद के पहले अध्याय से दसवे अध्याय तक अमावस्या-सम्बन्धी तथा ग्यारहवें से अठारहवें तक पूर्णिमा-सम्बन्धी यज्ञों का विस्तृत वर्णन है, जिन पर शतपथ ब्राह्मण (१-२।६-१) ने अच्छा प्रकाश डाला है। इस प्रकार इस समय यज्ञ का महत्त्व बढ़ गया था और यज्ञ से अलौकिक शक्तियों की प्राप्ति मानी जाती थी। समाज मे वर्ण-व्यवस्था का भी महत्त्व बढ़ गया था।

अथर्ववेद—अथर्ववेद संहिता २० काण्डों में विभाजित है, जिनमे ७३० सूक्त और ६००० मन्त्र हैं। लगभग १२०० मन्त्र ऋग्वेद से लिये गए हैं। बहुत-से विद्वान् इस संहिता को अन्ध-विश्वास और जादू-टोने का भण्डार मानते है। किन्तु इसमें राजनीति, समाज-शास्त्र, आयुर्वेद आदि से सम्बन्धित ऊँचे-ऊँचे सिद्धान्त भरे पडे है (अथर्व० ३।४।२,७।१२।१-२, २।३१-३३)। कुछ विद्वानों का मत है कि इसमे जन-साधारण के धार्मिक जीवन का प्रतिबिम्ब है। इस वेद मे ईश्वर को 'व्रात्य' कहकर उसका गुण-गान बहुत ही सुन्दर ढङ्ग से किया गया है। वरुणादि से सम्बन्धित सूक्तों में उच्चतम नैतिकता के दर्शन होते हैं। काल-सम्बन्धी मन्त्रो में काल की महिमा का वर्णन करते हुए संसार की क्षणभंगुरता का बोध कराया गया है। इसी प्रकार सामाजिक और राज-नीतिक जीवन पर प्रकाश डालते हुए वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त की सामाजिक उपादेयता तथा राजा और प्रजा के पारस्परिक सम्बन्ध पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। सभा और समिति को प्रजापति की विदुषी दुहिताएँ बताया गया है।

अथर्ववेद में आयुर्वेद-सम्बन्धी सामग्री भी पर्याप्त रूप मे मिलती है। यदि सूर्य की स्वास्थ्यप्रद शक्ति और विभिन्न कृमियों के विस्तृत वर्णन पर वैज्ञानिक ढङ्ग से विचार किया जाय तो कीटाणु-शास्त्र के सम्बन्ध में बहुत-कुछ ज्ञात होगा। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि इस वेद मे बुखार, कोढ़, पीलिया, खाँसी, गजापन, नपुंसकता, सर्प-दंश, विष प्रभाव आदि को दूर करने के लिए जादू-टोने से सम्बन्धित कितने ही मन्त्र हैं, जिनके उच्चारण-मात्र से रोग भाग जाते थे, ऐसी मान्यता प्रसरित थी। ज्योतिष-सम्बन्धी मन्त्रों में नक्षत्रों का उल्लेख है। इसमें भूगोल-सम्बन्धी वर्णन अधिक नहीं है। गान्धार, मूँजवत, महावृष, वाह्लीक, मगध, अङ्ग आदि भू-भागों के नाम उल्लिखित हैं।

ब्राह्मण-साहित्य—संहिताओं के पश्चात् यज्ञ-सम्बन्धी गद्यात्मक साहित्य का निर्माण हुआ। इसके विकास का समय ई० पू० ८००—

५०० वर्ष माना जाता है। यज्ञ के क्रिया-कलाप में संहिता के मन्त्रों का विनियोग कैसा होना चाहिए, इस पर इस साहित्य में प्रकाश डाला गया है। इसलिए कुछ विद्वान् इसे वेद-मन्त्रो का भाष्य भी मानते है। इसमे वर्णित विषयों को तीन विभागो मे विभाजित किया जाता है, जैसे (१) विधि—इसमें यज्ञ करने की विधि, यज्ञवेदी बनाने का ढङ्ग और यज्ञ के लिए आवश्यक अन्य बातों का विधान किया गया है, (२) अर्थवाद—इसमे अच्छे-अच्छे उदाहरण देकर यज्ञ के महत्त्व और फल को समझाया गया है, इसके अन्तर्गत प्राचीन काल के कितने ही यज्ञ करने वाले राजाओं का वर्णन आता है, जिससे तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक जीवन आदि का अच्छा दिग्दर्शन होता है, (३) उपनिषद्—इसमें यज्ञ और तत्सम्बन्धी कितनी ही बातो पर दार्शनिक ढङ्ग से विचार किया गया है। यज्ञ के कर्मकाण्ड को दार्शनिक विचार-सरणी की सहायता से प्रतीक के रूप में समझाने का प्रयत्न किया गया है।

तिथि-क्रम की दृष्टि से यजुर्वेद के गद्यांशों के पश्चात् पञ्चविंश व तैत्तिरीय ब्राह्मण को रखा जा सकता है। जैमिनीय, कौशीतकी व ऐतरेय ब्राह्मण उनके बहुत पश्चात् के हैं, व शतपथ ब्राह्मण तो उनके भी बहुत बाद का है। अथर्ववेद का गोपथ ब्राह्मण व सामवेद के छोटे छोटे ब्राह्मण इन सबके पीछे के है। इन ब्राह्मणों के अन्त में आरण्यक जोड़ दिये गए हैं जिन्हें केवल संसार को त्यागकर वन में बसने वाले पुण्यात्मा ही पढ़ सकते थे। आरण्यको के अन्तिम भाग मे उपनिषदों का समावेश हो जाता है।

ऋग्वेद के दो ब्राह्मणों मे ऐतरेय ब्राह्मण अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसमें चालीस अध्याय हैं, जिन्हे आठ पञ्चिकाओं मे विभाजित किया गया है व प्रत्येक पञ्चिका मे पाँच-पाँच अध्याय आते हैं। इस ब्राह्मण में एक दिन में समाप्त होने वाले अग्निष्टोम, एक वर्ष में समाप्त होने वाले गवामयन तथा बारह दिन में समाप्त होने वाले द्वादशाह आदि सोम-यागों का विस्तृत वर्णन है। इसके पश्चात् अग्निहोत्र, राज्याभिषेक आदि

का विशद विवेचन किया गया है। कौशीतकी या शाङ्खायन ब्राह्मण मे तीस अध्याय हैं। इसमें वर्णित विषय भी ऐतरेय ब्राह्मण के विषयो से बहुत मिलते-जुलते हैं, केवल उनका रूप अधिक विस्तृत है। प्रारम्भ मे अग्न्याधान, प्रात -साय अग्निहोत्र, व दार्श, पौर्णमास, चातुर्मास आदि यज्ञों का विवेचन किया गया है। सोमयाग को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

इन ब्राह्मणो मे कुछ भौगोलिक सामग्री भी प्राप्त होती है। ऐतरेय ब्राह्मण में बहुत-सी जातियों तथा कुरुपाञ्चाल देश का उल्लेख आता है। कौशीतकी ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि उत्तर भारत मे भाषा के सम्यक् अध्ययन पर विशेष ध्यान दिया जाता था, और वहाँ के विद्वानो को भाषा-सम्बन्धी समस्याओं में प्रमाणभूत माना जाता था। इनमे वर्णित दन्तकथाओं और कथानकों का ऐतिहासिक महत्त्व कुछ कम नही है। ऐतरेय ब्राह्मण (७।३) में वर्णित शुन शेपाख्यान से कितनी ही महत्त्वपूर्ण बाते मालूम होती हैं।

अन्य वेदों के ब्राह्मणों में शुक्ल यजुर्वेद का शतपथ ब्राह्मण अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसे शतपथ इसलिए कहा जाता है कि इनमे १०० अध्याय हैं। इसमें यज्ञवेदी आदि बनाने का विधान तथा विभिन्न यागों का विवेचन किया गया है। इसमें गान्धार, शाल्व, केकय, कुरुपाञ्चाल, कोशल, विदेह, सृञ्जय आदि देशों का उल्लेख भी आता है। इसमें वर्णित भौगोलिक सामग्री के सहारे कहा जा सकता है कि कुरुपाञ्चाल प्रदेश आर्य-संस्कृति का केन्द्र था। इसमें कुरुराज जनमेजय तथा पाञ्चालदेशीय विद्वान् आचार्य का उल्लेख भी आता है। इसी प्रकार सुप्रसिद्ध दार्शनिक याज्ञवल्क्य का कितनी ही बार उल्लेख आया है। अर्हन्, श्रमण, प्रतिबुद्ध आदि शब्दों तथा गौतम गोत्र के व्यक्तियों का उल्लेख बौद्ध धर्म की याद दिलाए बिना न रहेगा। साख्य-दर्शन के आचार्य आसुरि का नाम भी उल्लिखित है। इसमें पुरुरवा तथा उर्वशी की प्रेम-गाथा का विशद और सुन्दर वर्णन है। भरत, दुष्यन्त

और शकुन्तला का भी उल्लेख आता है। इस ब्राह्मण में महा प्रलय की कथा का भी वर्णन है, जिसका उल्लेख अथर्ववेद, अवेस्ता तथा यहूदी ईसाई, मुसलमान आदि के धर्म ग्रन्थों में भी आता है।

उपनिषदों का साहित्य—उपनिषदों में दार्शनिक विचार-सरणी को अपनाकर जीव, ब्रह्म, प्रकृति, जीवन, मरण आदि सम्बन्धी पहेलियों को समझाने का प्रयत्न किया गया है। उनके समय के बारे में कहा जाता है कि सबसे प्राचीन उपनिषद् ई० पू० ६०० वर्ष के पहले के नहीं हो सकते, क्योंकि उनमें वर्णित सिद्धान्तों का उल्लेख बौद्ध साहित्य में पहले ही से वर्तमान है। तिथि-क्रम के अनुसार उनके चार वर्ग किये जाते हैं। बृहदारण्यक, तैत्तिरीय, ऐतरेय तथा कौशीतकी उपनिषद् गद्य में लिखे गए हैं तथा उनकी शैली ब्राह्मणों की शैली के समान क्लिष्ट है। अतएव उन्हें प्राचीनतम वर्ग में रखा जाता है। केनोपनिषद् पहले तथा दूसरे वर्ग के मध्य का माना जाता है, क्योंकि उसमें गद्य तथा पद्य दोनों प्रयुक्त किये गए हैं। काठक, ईशा, श्वेताश्वतर, मुण्डक तथा महा-नारायण उपनिषद् पद्यात्मक हैं तथा उनमें दार्शनिक सिद्धान्त विकास की अवस्था को पार करके स्थिर हो गए हैं तथा साहित्यिक दृष्टि से अधिक रोचक है। ये सब उपनिषद् दूसरे वर्ग में रखे जाते हैं। तीसरे वर्ग में प्रश्न, मैत्रायणीय तथा माण्डूक्य उपनिषद् आते हैं। ये उपनिषद् गद्य में हैं, किन्तु यह गद्य साहित्यिक गद्य से बहुत-कुछ मिलता है। अथर्व-वेद के उपनिषदों का समावेश चौथे वर्ग में होता है।

ऐतरेय तथा कौशीतकी—ऐतरेय सबसे छोटा उपनिषद् है। इसमें तीन अध्याय हैं। जगत् आत्मा अथवा ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, इस सिद्धान्त को ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के आधार पर समझाया गया है। कौशीतकी उपनिषद् लम्बे-लम्बे चार अध्यायों का बना है। पहले में मृत्यु के पश्चात् जीव जिन दो मार्गों का अनुसरण करते हैं, उनका वर्णन है। दूसरे में प्राण को आत्मा का प्रतीक मानकर उसकी व्याख्या की गई है। अन्तिम दो अध्यायों में ब्रह्म का विवेचन करते हुए तन्मात्रा,

ज्ञानेन्द्रिय, प्राण, प्रज्ञात्मा आदि का पारस्परिक सम्बन्ध अच्छी तरह से समझाया गया है। ये दोनों ऋग्वेद से सम्बन्धित है।

छान्दोग्य तथा केन—जिस प्रकार ऋग्वेद के उपनिषद् अपने सिद्धान्तों को 'उक्थ' के विवेचन से प्रारम्भ करते हैं, उसी प्रकार सामवेद के उपनिषदों में सर्वप्रथम सामन् की विवेचना की गई है। छान्दोग्योपनिषद् सामवेद का महत्त्वपूर्ण उपनिषद् है। इसमें आठ अध्याय है, जिनमे प्रत्येक स्वतन्त्र ग्रन्थ बन सकता है। पहले दो अध्यायों में सामन्, उद्गीथ आदि का विवेचन किया गया है, ओ३म् तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ आदि तीन आश्रमों का भी वर्णन है। तीसरे अध्याय मे ब्रह्म को जगत् का सूर्य कहकर तथा जीव से उसकी एकता का निरूपण करके मोक्ष-प्राप्ति के साधनों का सुन्दर विवेचन किया गया है। चौथे अध्याय में वायु, प्राण आदि को ब्रह्म से सम्बन्धित करके यह बताया गया है कि मृत्यु के पश्चात् जीव ब्रह्म को किस प्रकार प्राप्त होता है। पाँचवे अध्याय में पुनर्जन्म का विवेचन है, और अनेकत्वपूर्ण जगत् के मिथ्यात्व को समझाया गया है। शेष अध्यायों में आत्मा तथा ब्रह्म के पारस्परिक सम्बन्ध तथा दोनो का तादात्म्य स्थापित करने के साधन आदि का विशद विवेचन किया गया है, साथ ही 'तत्त्वमसि' के गूढ रहस्य को भी समझाया गया है। सामवेद का एक और उपनिषद् है, जिसे तलवकार या केन कहते हैं। इसका प्रारम्भ 'केन' (किसके द्वारा) शब्द से होता है। इसलिए इसे केन कहते हैं। इसके दो भाग हैं। प्रथम भाग में पद्य में सगुण तथा निर्गुण ब्रह्म का विवेचन किया गया है। द्वितीय में गद्य रूप में वैदिक देवताओं तथा ब्रह्म के सम्बन्ध का निरूपण किया गया है। इसका प्रथम भाग बाद की मिलावट प्रतीत होता है।

मैत्रायणीय, काठक, श्वेताश्वतर—कृष्ण यजुर्वेद के विभिन्न उपनिषद् बाद के मालूम होते हैं। मैत्रायणीय गद्यात्मक उपनिषद् है, जिसमें बीच-बीच में पद्यांश भी है। इसमें आठ अध्याय हैं। इसमें

उपनिषदों के सिद्धान्तों तथा सांख्य तथा बौद्ध सिद्धान्तों की मिलावट को सारांश रूप से उपस्थित किया गया है। काठक तथा श्वेताश्वतर भी कृष्ण यजुर्वेद के ही उपनिषद् हैं। पहले में १२० तथा दूसरे में ११० श्लोक हैं। काठक में नचिकेता की कथा आती है तथा योग के सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। श्वेताश्वतर में योग तथा वेदान्त के सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है।

बृहदारण्यक, ईशा—बृहदारण्यक उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद से सम्बन्धित है। यह सबसे बड़ा तथा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसे तीन भागों में विभाजित किया गया है, और प्रत्येक भाग में दो दो अध्याय हैं। पहले भाग में अश्वमेध यज्ञ को जगत् का प्रतीक मानकर समझाने का प्रयत्न किया गया है। तत्पश्चात् आत्मा तथा ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है तथा समझाया गया है कि परमात्मा ही सर्वोपरि तथा सबका आधारभूत है। आत्मा के पुरुष, प्राण आदि रूपों पर भी प्रकाश डाला गया है। दूसरे भाग में जिज्ञासुओं के साथ याज्ञवल्क्य का दार्शनिक वाद विवाद वर्णित है। याज्ञवल्क्य तथा जनक की बातचीत द्वारा ब्रह्म, प्राण, मन, आत्मा आदि के पारस्परिक सम्बन्ध को अच्छी तरह से समझाया गया है। इसी प्रकार याज्ञवल्क्य तथा उनकी पत्नी मैत्रेयी की दार्शनिक बातचीत भी बहुत रोचक है। सबसे छोटा उपनिषद् ईशोपनिषद् भी शुक्ल यजुर्वेद से सम्बन्धित है, तथा यही वाजसनेयी संहिता का अन्तिम अध्याय भी है। इसमें ईश की सत्ता तथा आत्मा और ब्रह्म के सम्बन्ध का सुन्दर निरूपण किया गया है।

अथर्ववेद के उपनिषद्—अथर्ववेद से कितने ही उपनिषद् सम्बन्धित किये जाते हैं, किन्तु साधारणतया उनकी संख्या सत्ताईस मानी जाती है। इनमें अधिकांश बहुत बाद के हैं, यहाँ तक कि अल्लोपनिषद् तो मुस्लिम काल का है। ये उपनिषद् वेदों से प्रत्यक्ष रूप से

का समन्वय है। इन्हे वर्णित विषय के अनुसार चार श्रेणियों मे विभाजित किया जाता है। पहली श्रेणी के उपनिषदों में आत्मा के स्वरूप को निरूपित किया गया है। दूसरी व तीसरी श्रेणी के उपनिषदो में योग व संन्यास का वर्णन है। अन्तिम श्रेणी के उपनिषद् पूर्णतया साम्प्रदायिक है। उनमें शिव, ईशान, महेश्वर, महादेव, विष्णु, नारायण, नृसिह आदि देवताओ को आत्मा से सम्बन्धित किया गया है। उनमें मुण्डक, प्रश्न व माण्डूक्य प्राचीनतम हैं।

सूत्र साहित्य—ज्यो-ज्यों समय बीतता गया, त्यो त्यों वैदिक साहित्य की जटिलता बढती गई व उसको समझना कठिन हो गया। इसलिए धार्मिक सिद्धान्तों, विशेषकर यज्ञादि से सम्बन्धित सिद्धान्तो को नया साहित्यिक रूप दिया गया। 'गागर मे सागर' के सिद्धान्तानुसार कम-से-कम शब्दो मे अधिक अर्थ भर देने के विचार से सूत्र साहित्य का निर्माण किया गया। इसे 'कल्प' कहकर वेदाङ्ग साहित्य में सम्मिलित कर लिया गया। धर्म व कर्मकाण्ड-सम्बन्धी सूत्र साहित्य को तीन विभागों में विभाजित किया जाता है, जैसे श्रौत-सूत्र, गृह्य सूत्र व धर्म सूत्र। श्रौत सूत्रों मे वैदिक यज्ञ-सम्बन्धी कर्म काण्ड का वर्णन है, गृह्य सूत्रो मे गृहस्थ के दैनिक यज्ञ आदि तथा धर्म सूत्रों मे सामाजिक नियमो आदि का विवेचन किया गया है।

श्रौत सूत्र—ये सूत्र प्राचीनम प्रारम्भिक बौद्ध काल के हो सकते हैं। ऋग्वेद के दो श्रौत सूत्र है—शाङ्खायन और आश्वलायन। पहला उत्तर गुजरात और दूसरा गोदावरी तथा कृष्णा के मध्यवर्ती प्रदेश से सम्बन्धित है। इन दोनो मे आश्वलायन अधिक पुराना मालूम होता होता है। सामवेद के तीन श्रौत सूत्र प्राप्य है—मशक या आर्षेय कल्प, लाटायन तथा द्राह्यायण। शुक्ल यजुर्वेद से कात्यायन श्रौत सूत्र सम्बन्धित है। कृष्ण यजुर्वेद के छ श्रौत सूत्र प्राप्त हैं, जैसे आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, बौधायन, भारद्वाज, मानव तथा वैखानस। इनमें पहले चार तैत्तिरीय शाखा के हैं और पाँचवाँ मैत्रायणीय संहिता का है। वैतान सूत्र अथर्व-

वेद से सम्बन्धित किये गए है। इन सूत्रो मे श्रौत कर्मों का विधान है। श्रौत कर्मों की सख्या चौदह है—सात हविष्यज्ञ और सात सोम यज्ञ। हविष्यज्ञ मे प्रात -साय अग्निहोत्र, दार्श, पौर्णमास्य, चातुर्मास्य आदि यज्ञों का समावेश होता है। अग्निष्टोम, सत्र आदि सोम यज्ञ हैं। अग्नि-चयन कर्म भी सोम यज्ञ से सम्बन्धित है, जिसे समाप्त होने मे एक वर्ष लग जाता था।

गृह्य सूत्र—ये सूत्र श्रौत सूत्र के पश्चात् के प्रतीत होते हैं। शाङ्खायन, शाम्बव्य, आश्वलायन आदि ऋग्वेद के गृह्य सूत्र है। गोभिल और खादिर सामवेद से सम्बन्धित हैं। गोभिल प्राचीनतम गृह्य सूत्र है। पारस्कर (कातीय या वाजसनेय) शुक्ल यजुर्वेद का गृह्य सूत्र है। आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, बौधायन, मानव, काठक, वैखानस आदि कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्धित हैं। अथर्ववेद का कौशिक गृह्य सूत्र है। गृह्य सूत्रों में जन्म से मरण तक किये जाने वाले पारिवारिक जीवन से सम्बन्धित कर्मों का विधान है, जो कि आवसथ्य या वैवाहिक अग्नि मे सम्पादित किये जाते थे। इनमे चालीस सस्कारो का वर्णन है, जो मानव जीवन के विभिन्न महत्त्वपूर्ण अवसरों पर किये जाते थे। इनमें पञ्च महायज्ञ, पाकयज्ञ, श्राद्ध आदि का भी समावेश हो जाता है।

धर्म सूत्र—धर्म सूत्रों मे सामयाचारिक धर्मों का विवरण है। इनमें सामाजिक रुढि, रीति-रिवाज आदि के आधार पर सामाजिक जीवन के सञ्चालन के लिए नियमो का विवेचन किया गया है। वेदशाखा से सम्बन्धित धर्म सूत्रों में केवल तीन ही प्राप्त हैं जैसे आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी तथा बौधायन। अन्य प्राप्त तथा अन्यत्र उल्लिखित धर्म सूत्र भी कदाचित् किसी-न-किसी वेद-शाखा से सम्बन्धित रहे होंगे। बूल्हर के मतानुसार आपस्तम्ब धर्म सूत्र का समय ई० पू० ४०० वर्ष के लगभग निश्चित किया जा सकता है। इसमे ब्रह्मचारी, गृहस्थ आदि के कर्तव्य निषिद्ध भोजन, शुद्धि, तप, विवाह, दाय आदि का वर्णन है। इसमें उत्तर भारत के कुछ रिवाजों की जो टिप्पणी की गई है, उससे मालूम

होता है कि इसका सम्बन्ध दक्षिण भारत से था। हिरण्यकेशी धर्म सूत्र का इससे घनिष्ठ सम्बन्ध है। कहा जाता है कि हिरण्यकेशी आपस्तम्बियों की एक शाखा थी जो कोंकण मे पहुँची थी। हिरण्यकेशी धर्म सूत्र ई० स० ५०० के पहले का होना चाहिए, क्योंकि उस समय के एक शिलालेख मे एक हिरण्यकेशी ब्राह्मण का उल्लेख है। बौधायन धर्म-सूत्र भी दक्षिण भारत से सम्बन्धित मालूम होता है, व आपस्तम्ब धर्म सूत्र से पहले का है। इसमे वर्णाश्रम धर्म, वर्णसंकर, विभिन्न यज्ञ, तप, शुभ संस्कार, राजा के कर्तव्य, न्यायालयादि के व्यवहार, स्त्रियो के स्थान आदि का वर्णन आता है। गौतम धर्मशास्त्र भी सूत्र-ग्रन्थ ही माना जाना चाहिए, क्योंकि इसमे सूत्र भाषा ही प्रयुक्त की गई है। यह ई० पू० ५०० वर्ष के लगभग का माना जाता है। इसी प्रकार वशिष्ठ धर्म-शास्त्र भी एक सूत्र-ग्रन्थ है, क्योंकि इसमे भी सूत्र ही है और कहीं-कही त्रिष्टुप् छन्द भी है। यह मनुस्मृति से भी सम्बन्धित है। मनुस्मृति में इसका एक श्लोक भी आता है। यह गौतम के पश्चात् और मनु के पहले रखा जाता है। वशिष्ठ धर्मशास्त्र मे मानव धर्म सूत्र भी उल्लिखित है। ईसा की तीसरी शताब्दी का वैखानस सूत्र भी इन सबकी श्रेणी में रखा जाता है।

वेदाङ्ग साहित्य—बहुत समय के पश्चात् जब वैदिक साहित्य की भाषा जटिल होने लगी तब उसको समझने मे सहायता देने के लिए नया सूत्र साहित्य तैयार किया गया, जिसे वेदाङ्ग कहा गया। वेदाङ्ग छ है, जैसे शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, कल्प और ज्योतिष। प्रथम चार वेदाङ्ग वेद-मन्त्रो के शुद्ध उच्चारण और शुद्ध अर्थ को समझने के लिए, व अन्तिम दो वेदाङ्ग कर्मकाण्ड व धार्मिक कृत्य तथा एतदर्थ उपयुक्त समय सूचित करने के लिए बनाये गए थे।

शिक्षा—इसका सम्बन्ध शब्द-शास्त्र से है। इसमे वर्ण और उनके उच्चारण आदि सम्बन्धी नियम दिये गए है। आज 'शिक्षा' नाम से बहुत से ग्रन्थ उपलब्ध है, किन्तु वे बाद के हैं। इस सम्बन्ध का सर्व-

प्रथम प्रयास वेद के संहिता पाठ में दृष्टिगोचर होता है, जहाँ कि सन्धि के नियमों का उपयोग किया गया है। इस वैदिक शिक्षा का प्रतिनिधित्व प्रातिशाख्य साहित्य को दिया जा सकता है जिसका संहिता और पद-पाठ से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। यह साहित्य पाणिनि के बाद का मालूम होता है, किन्तु उसने भी कदाचित् इसके प्राचीन रूप से लाभ उठाया हो। ऋग्वेद, अथर्ववेद, वाजसनेयी और तैत्तिरीय संहिता के प्रातिशाख्य उपलब्ध है।

छन्द—ब्राह्मण साहित्य में यत्र-तत्र छन्द शास्त्र को उल्लिखित किया गया है, किन्तु शाङ्खायन श्रौत सूत्र (७।२७), ऋग्वेद प्रातिशाख्य (अन्तिम तीन पटल) तथा सामवेद से सम्बन्धित निदान-सूत्र में इस शास्त्र का स्पष्ट और व्यवस्थित वर्णन किया गया है। पिङ्गल के छन्द सूत्रों के एक भाग में भी वैदिक छन्दों का वर्णन आता है। पिङ्गल का सूत्र-ग्रन्थ वेदाङ्ग कहाने का दावा करता है, किन्तु उसका अधिकांश भाग वेदों के पश्चात् के छन्दों से सम्बन्धित है।

व्याकरण—वैदिक पद-पाठ के आलोचनात्मक अध्ययन से व्याकरण-सम्बन्धी ज्ञान के विकास का पता लगता है। उच्चारण और सन्धि के नियम, नाम, सर्वनाम, आख्यान, उपसर्ग, निपात आदि सम्बन्धी ज्ञान से तत्कालीन व्याकरण शास्त्र के स्वरूप का बोध होता है। ब्राह्मण साहित्य में भी 'वर्ण', 'वृषन्', 'वचन', 'विभक्ति' आदि व्याकरण के पारिभाषिक नामों का उल्लेख आता है। आरण्यक, उपनिषद्, सूत्र आदि में ऐसे कितने ही शब्द पाये जाते हैं। व्याकरणों में पाणिनि का स्थान सबसे ऊँचा और महत्त्व का है। उसकी अष्टाध्यायी में 'वैदिकी प्रक्रिया' का अध्याय भी सम्मिलित किया गया है। यों तो पाणिनि को संस्कृत का सर्वप्रथम और सबसे बड़ा व्याकरण माना जाता है, किन्तु उसके पहले भी कितने ही बड़े-बड़े व्याकरण थे, जिन्हें यास्क के निरुक्त और अष्टाध्यायी में उल्लिखित किया गया है। उनमें

से कुछ के नाम ये हैं—शाकटायन, गार्ग्य, शाकल्य, तथा स्फोटायन आदि।

निरुक्त—यास्क-कृत निरुक्त यथार्थ मे वेदों का भाष्य है। उसका आधार वैदिक शब्दकोष निघण्टु है। यास्क ने अपने बारह अध्याय के निरुक्त मे निघण्टु के वैदिक शब्दो को अच्छी तरह से समझाया है, व वेद-मन्त्रों को उदाहरण रूप से उल्लिखित करके उनके अर्थ को निरुक्त की दृष्टि से समझाया है।

ज्योतिष—लगध-कृत छोटे-से ज्योतिष-ग्रन्थ को ज्योतिष शास्त्र-सम्बन्धी वेदाङ्ग का श्रेय दिया जाता है। यह ग्रन्थ ज्योतिष की प्रारम्भिक अविकसित अवस्था का सूचक है। किन्तु वैदिक काल मे एवं उसके पश्चात् भी ज्योतिष का विकास किया गया था। यज्ञ के समय के लिए उसकी उपयोगिता थी।

कल्प—इसके बारे में पहले ही लिख दिया गया है। श्रौतादि सूत्रों को ही कल्प कहते हैं।

वेदानुक्रमणी—वेदो से सम्बन्धित एक और साहित्य है, जिसे 'अनुक्रमणी' कहते हैं। इन अनुक्रमणियो मे वेद-मन्त्र, ऋषि, छन्द, देवता आदि की सूचियाँ दी हैं। शौनक-कृत सात अनुक्रमणियाँ ऋग्वेद से सम्बन्धित हैं, जो कि श्लोक और त्रिष्टुप् मे बनाई गई है। आर्षानुक्रमणी मे ३०० श्लोकों मे ऋग्वेद के ऋषियो का सूची दी है। छन्दोनुक्रमणी मे ३०० श्लोकों मे ऋग्वेद के छन्दों की सूची दी गई है। अनुवाकानुक्रमणी में ४० श्लोकों मे ऋग्वेद के ८५ अनुवाको मे प्रत्येक के प्रारम्भिक शब्दों और प्रत्येक अनुवाक के सूक्तों की सख्या का ब्यौरा आता है। इसमे यह भी बताया गया है कि ऋग्वेद मे १०१७ सूक्त, १०५८०$\frac{१}{२}$ मन्त्र और १५३८२६ शब्द है। पादानुक्रमणी मे मन्त्रों के पाद का ब्यौरा है। सूक्तानुक्रमणी और देवतानुक्रमणी के अन्य स्थानो पर उल्लिखित किये जाने से उनके भी अस्तित्व का पता लगता है। १२०० श्लोक वाले बृहद्देवता ग्रन्थ में ऋग्वेद के प्रत्येक मन्त्र के देवता

का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त उसमे कितनी ही दन्तकथाएँ और कथानक एकत्रित किये गए है। इन सब अनुक्रमणियों को कात्यायन-कृत सर्वानुक्रमणी में साराश रूप से वर्णित किया गया है। सामवेद की 'आर्ष' और 'दैवत' नामी दो अनुक्रमणियाँ हैं, जिनमें नैगेय शाखा के सामवेद के ऋषि और देवताओं का ब्यौरा है। कृष्ण यजुर्वेद की दो और शुक्ल यजुर्वेद की एक अनुक्रमणी प्राप्य है।

(२)

रामायण तथा महाभारत आदि

रामायण—भारत के साहित्यिक इतिहास का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसे सस्कृत का 'आदि काव्य' और इसके लेखक वाल्मीकि को 'आदि कवि' कहा गया है। पश्चात् के सस्कृत कवियों ने इसी ग्रन्थ से प्रेरणा प्राप्त करके कितनी ही काव्यमय रचनाएँ कीं। धार्मिक दृष्टि से भी इसका महत्त्व कुछ कम नहीं है। यह ग्रन्थ नौ काण्डों में विभाजित है, तथा इसमे २४००० श्लोक है। प्रो० जेकोबी का कहना है कि इसका मौलिक रूप केवल पाँच काण्डो (२-६) का ही था, क्योंकि प्रथम काण्ड मे कही गई कितनी बातों का खण्डन पश्चात् के काण्डों मे है। इसके अतिरिक्त दो विषय-सूचियाँ हैं। इस प्रकार यह कहा जाता है कि इस ग्रन्थ में बाद में मिलावट की गई है। इसमें वर्णित घटना-चक्र कोसल के इक्ष्वाकु वश से सम्बन्धित है।

रामायण के रचना-काल के विषय मे विद्वानो ने विभिन्न मत उपस्थित किये हैं। किन्तु इस बात मे सबका प्राय एकमत ही है कि इस ग्रन्थ का रचना-काल ई० पू० छठी शताब्दी के अधिक पहले का नहीं हो सकता। प्रो० बेबर महाभारत व यूनान देश के कवि होमर के पश्चात् रामायण का रचना-काल मानते हैं। प्रो० जेकोबी ई० पू० छठी शताब्दी मे रामायण की रचना मानते है। मेकडॉनेल के मतानुसार रामायण का मौलिक रूप ई० पू० ५०० वर्ष के लगभग बना और बाद की मिलावट ई० पू० २०० वर्ष के पश्चात् हुई। डॉ० भाण्डारकर रामायण की रचना

पाणिनि के बाद मानते है। श्री चिन्तामणि वैद्य वर्तमान रामायण का रचना-काल भारत और महाभारत दोनो के बाद ई० पू० २०० वर्ष के पूर्व मानते है। कीथ रामायण का रचना-काल ई० पू० चौथी शताब्दी मानते है। रामायण का कथानक बौद्ध साहित्य के दशरथ-जातक मे वर्णित है। रामायण मे बुद्ध का उल्लेख केवल एक ही बार आया है, और वह भी ऐसे प्रकरण मे जो कि बाद मे मिलाया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि रामायण का रचना-काल बौद्ध-काल के पहले होना चाहिए। रामायण मे यवनो का उल्लेख दो बार आया है, जो कि प्रो० जेकोबी के मत मे बाद की मिलावट है। इस प्रकार प्रो० वेबर का मन्तव्य कि रामायण के कथानक पर यूनान का प्रभाव है, निराधार सिद्ध हो जाता है। रामायण मे राजनीतिक परिस्थिति का चित्रण किया गया है, उससे भी रचना काल-निर्णय मे सहायता मिलती है। रामायण मे पाटलीपुत्र का कोई उल्लेख नहीं है, जो कि ई० पू० चौथी शताब्दी मे बसाया गया था और उस शताब्दी के अन्त मे मौर्य साम्राज्य की राजधानी था। बालकाण्ड के पैंतीसवे अध्याय मे राम का उसी स्थान से जाना वर्णित है, जहाँ पर यह नगर बसा था। इस अवसर पर पूर्वी भारत के कितने ही नगरो का उल्लेख किया गया है। यदि पाटलीपुत्र का अस्तित्व होता, तो उसका उल्लेख भी अवश्य किया जाता। मूल रामायण मे अयोध्या को कोसल देश की राजधानी बताया गया है, किन्तु बौद्ध, जैनी, यूनानी, पतञ्जलि आदि साकेत को कोसल की राजधानी बताते हैं। रामायण के अन्तिम काण्ड मे कहा गया है कि लव ने श्रावस्ती में अपनी राजधानी रखी, जिसका उल्लेख रामायण के प्राचीन भाग में नही है और बौद्ध साहित्य से मालूम होता है कि गौतम बुद्ध का सम कालीन कोसल नरेश श्रावस्ती मे राज्य करता था। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मूल रामायण का रचना-काल तब हो सकता है, जब कि अयोध्या कोसल का मुख्य नगर था तथा श्रावस्ती कोसल की राजधानी नहीं बनी थी। बालकाण्ड मे मिथिला और विशाला विभिन्न

राजाओं द्वारा शासित अलग-अलग नगर के रूप में उल्लिखित किये गए है, किन्तु गौतम बुद्ध के समय में वैशाली के रूप में दोनों नगर एक हो गए थे।

काव्य की दृष्टि से भी रामायण एक उत्तम ग्रन्थ है। उसमे कितने ही स्थलों पर लेखक की कवित्व शक्ति का परिचय मिलता है। इसमें कितने ही अलङ्कारों का प्रयोग किया गया है। इस सम्बन्ध में उपमा व रूपक विशेष उल्लेखनीय है। रामायण की वर्णन शैली भी काव्यमय है। वाल्मीकि ने विभिन्न रसों के सुन्दर उपयोग में अच्छा कौशल दिखाया है। रामायण में ही महाकाव्य शैली के दर्शन होते है। रामायण के मुख्य कथानक से भारत का बच्चा-बच्चा परिचित है। दशरथ, राम, भरत तथा सीता आदि क्रमश पुत्र प्रेम, पितृ प्रेम, भ्रातृ-प्रेम व पति-प्रेम के आदर्श माने जाते है। इस मुख्य कथा के अतिरिक्त रामायण में दन्तकथाएँ भी है, जैसे रावण की ब्रह्मा से वर-प्राप्ति, विष्णु का राम के रूप में अवतार, गङ्गावतरण, विश्वामित्र और वशिष्ठ का युद्ध, श्लोक की उत्पत्ति सम्बन्धी कथा आदि। इन कथाओं के कारण भी रामायण की लोकप्रियता बढ गई है।

महाभारत—महाभारत का मुख्य उद्देश्य भरत-वंशजों के आपसी युद्ध का वर्णन करना है। कौरवों व पाण्डवों के अठारह दिन के युद्ध का वर्णन लगभग २०,००० श्लोकों में किया गया है। इस वर्णन के बीच में देवता, राजा, ऋषि आदि-सम्बन्धी कथाएँ तथा सृष्ट्युत्पत्ति, दर्शन, धर्म, वर्णाश्रम आदि का वर्णन भी जोड दिया गया है, कहीं-कहीं भगवद्गीता के समान स्वतन्त्र रचनाएँ भी जोड दी गई हैं। इस प्रकार महाभारत को धर्मशास्त्र, स्मृति, कार्ष्णवेद आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है। इतनी सब मिलावट होने पर भी उसकी मौलिक कथा की ऐतिहासिकता पर किसी को शङ्का नहीं हो सकती। महाभारत का ऐतिहासिक घटना-चक्र कम से-कम ई० पू० १० वीं शताब्दी का या उसके पहले का होना चाहिए। महाभारत के रचना-

काल के सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। किन्तु वर्णित विषय के आलोचनात्मक अध्ययन के सहारे मेकडॉनेल प्रभृति विद्वानों ने यह मत स्थिर किया है कि महाभारत का मौलिक रूप ई० पू० पाँचवी शताब्दी के लगभग का होना चाहिए। आश्वलायन गृह्य सूत्र में भारत व महाभारत का उल्लेख आता है। इससे भी ई० पू० पाँचवीं शताब्दी का समय निश्चित होता है। यह महाभारत के विकास की पहली अवस्था थी। विकास की दूसरी अवस्था में महाभारत मे लगभग २०,००० श्लोक हो गए, जब कि शिव व विष्णु का माहात्म्य बहुत बढ़ गया था। मेगास्थनीज के भारत-वर्णन से मालूम होता है कि ई० पू० ३०० वर्ष के लगभग उत्तर भारत मे शिव और विष्णु की भक्ति का बहुत जोर था। इसके अतिरिक्त यवन, शक, पमाव आदि जातियो का उल्लेख भी महाभारत में आता है। उसमें मन्दिर बौद्ध स्तूप आदि का भी उल्लेख है। इस प्रकार ई० पू० ३०० वर्ष के पश्चात् व ईस्वी सन् के आरम्भ मे महाभारत का स्वरूप बढ़ा होगा। ईसा की पाँचवीं शताब्दी के ताम्र-पत्रों के सहारे यह कहा जा सकता है कि उस समय महाभारत ने स्मृति या धर्म शास्त्र का स्वरूप धारण कर लिया था। ई० स० ३५० तक महाभारत को यह रूप मिल गया होगा। प्रो० हॉल्जमेन के मतानुसार ईसा की नवी शताब्दी के पश्चात् महाभारत ने यह रूप धारण किया। ईस्वी सन् ६००-११०० वर्ष के सस्कृत-साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि महाभारत ने उस समय अपना आधुनिक रूप धारण कर लिया था, उसमें हरिवंश गीता आदि का समावेश हो चुका था। ईसा की ग्यारहवी शताब्दी के मध्य में काश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र ने महाभारत को भारत-मञ्जरी नाम से साराश रूप में प्रकट किया। इसी प्रकार ईसा की ग्यारहवीं सदी में महाभारत का जावा की भाषा मे किया गया अनुवाद प्राप्त है।

महाभारत की मुख्य कथा का उद्देश्य कौरव व पाण्डवों के अठारह

दिन के युद्ध का वर्णन करना है। परीक्षित राजा के सर्प-दंश से मर जाने पर उसका पुत्र सर्पों के लिए एक बडा यज्ञ करवाता है। उस अवसर पर वैशम्पायन यह कथा सुनाते हैं। वैशम्पायन ने यह कथा व्यास जी से सुनी थी। उन्ही व्यास ने वेदो तथा पुराणो को व्यवस्थित किया था। महाभारत मे मुख्य कथा के अतिरिक्त कितने ही आख्यान जोड दिये गए हैं, जिनमे मुख्य इस प्रकार हैं—शकुन्तलाख्यान, मत्स्योपाख्यान, रामाख्यान, गङ्गावतरण, ऋष्य-श्रृङ्गकथा, राजा शिवि व उसके पुत्र उशीनर वृषदर्भ आदि की कथा, काम्यक वन मे जयद्रथ द्वारा द्रौपदी के भगाये जाने की कथा, अर्जुन की स्वर्ग-यात्रा, सावित्री की कथा, नलोपाख्यान इत्यादि। इसके अतिरिक्त महाभारत में १६००० श्लोको में कृष्ण का सम्पूर्ण जीवन-चरित्र भी जोड दिया गया हैं, जिसे हरिवश कहते है। इस प्रकार महाभारत लगभग विश्व-कोष ही बन गया है।

पुराण—पौराणिक साहित्य भी बहुत प्राचीन मालूम होता है। अथर्ववेद मे पुराण, पुराणविद् आदि शब्दो का उल्लेख आता है। शतपथ ब्राह्मण व छान्दोग्योपनिषद् आदि मे भी पुराण शब्द उल्लिखित है। विद्वानो का मत है कि प्राचीन काल मे पुराण एक ही था, धीरे-धीरे ज्यों-ज्यो उसकी लोकप्रियता बढती गई, त्यो-त्यो उसमे अन्य विषय भी जोडे गए। इस प्रकार पौराणिक साहित्य ने आधुनिक बृहत् रूप धारण क लिया। वर्तमान पुराणों के आलोचनात्मक परीक्षण से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि इस साहित्य के विकास की चार अवस्थाएँ थीं। पहली अवस्था को 'वंश-आख्यान अवस्था' कह सकते हैं। प्राचीन राजाओं की वशावलियाँ व उनके आख्यान समाज मे अत्यन्त ही प्राचीन काल से प्रचलित थे। अथर्ववेद आदि मे उल्लिखित 'पुराण' शब्द से इन्हीं आख्यानों का तात्पर्य होगा। कुछ काल पश्चात् आख्यानों को व्यवस्थित स्वरूप दिया गया व उन्हे 'इतिहास-पुराण' नाम से सम्बोधित किया जाने लगा, जिसका उल्लेख ब्राह्मण, उपनिषद् आदि में मिलता

है। इस साहित्य के विकास की यही दूसरी अवस्था है। भारत-युद्ध का समय इसी मे आ जाता है, व 'भविष्य' वर्णन का प्रारम्भ भी इसी से होता है। व्यास ने भारत-युद्ध के पश्चात् भारतीय सस्कृति की रक्षार्थ सब प्राप्य साहित्य को अन्तिम रूप दिया। वे पुराणो के भी कर्ता माने जाते है। इसीलिए महाभारत के पश्चात् की घटनाएँ व्यास के नाम से भविष्य काल के उपयोग की सहायता से पुराणो मे मिला दी गई। समय की गति से यह 'भविष्य घटना चक्र' इतना बढ़ गया कि उसे 'भविष्यत् पुराण' के रूप मे अलग करना पडा, जिसका सर्व प्रथम उल्लेख आपस्तम्ब धर्म सूत्र मे आता है। इस प्रकार एक के दो पुराण हुए। इसी समय पौराणिक साहित्य के विकास की तीसरी अवस्था का भी प्रारम्भ होता है, जिसमे सृष्टि, प्रलय, देवतोत्पत्ति, धर्मशास्त्र आदि सम्बन्धी बातें भी मिला दी गई व 'पञ्च लक्षण' का सिद्धान्त विकसित किया गया। इसके अनुसार पुराण मे सर्ग, प्रति-सर्ग, वश, मन्वन्तर व वशानुचरित का वर्णन आवश्यकीय हो गया। गृह्य सूत्र, धर्म सूत्र, अर्थशास्त्र, महाभारत आदि मे पुराण का जो उल्लेख आता है, उससे इसी अवस्था का बोध होता है। इस अवस्था को पचलक्षण अवस्था कहा जा सकता है। इसके पश्चात् साम्प्रदायिक अवस्था का प्रारम्भ होता है, जब कि पुराणो मे बहुत सी साम्प्रदायिक सामग्री मिलाई जाने लगी, व पुराणो की सख्या भी बढते बढते अठारह तक पहुँची।

पुराणों के रचना-काल का निर्णय करना भी एक विवादास्पद विषय है, क्योकि उनमे विभिन्न ऐतिहासिक कालों की सामग्री मिश्रित है। विल्सन आदि महानुभावों ने पुराणो के ऊपरी साम्प्रदायिक पुट को देखकर कह दिया कि पुराण ईसा के हजार-बारह सौ वर्ष बाद के होने चाहिएँ। पार्जिटर के समान विद्वानो ने सस्कृत-साहित्य के आलोचना त्मक अध्ययन के सहारे वायु पुराण को प्राचीनतम मानकर उसे ई० पू० तीसरी शताब्दी का बताया है। मत्स्यपुराण ई० स० २०० के लगभग

का माना जाता है, तथा विष्णु, मार्कण्डेय आदि पुराण गुप्त काल के माने जाते है। भागवत पुराण को ईसा की सातवी शताब्दी का बताया जाता है। किन्तु अभी भी इस सम्बन्ध मे बहुत मतभेद है। लगभग सब पुराणो मे अलग-अलग समय मे कितनी हो मिलावट की गई है यहाँ तक कि अध्याय के बीच मे भी बहुत सी बाते जोड दी गई है। ऐसी अवस्था मे विभिन्न पुराणो का रचना-काल निश्चित करना असम्भव है। किन्तु पौराणिक साहित्य के विकास की चार अवस्थाओ के काल-निर्णय के सम्बन्ध मे ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ कहा जा सकता है। उन चार अवस्थाओ का तिथि क्रम इस प्रकार निश्चित किया जा सकता है—(१) वशाख्यान (ई० पू० १२००—ई० पू० १०००)—इसमे राजाओ तथा ऋषियो की वशावलियाँ, राजाओ के आख्यान आदि का समावेश होता है, (२) इतिहास, पुराण या द्वैधीकरण (ई० पू० १०००-ई० पू० ६००)—इसके अन्तर्गत महा पुराणों के 'भविष्य-वर्णन' का समावेश हो सकता है, तथा ब्राह्मण, उपनिषद् आदि काल मे इसी अवस्था का पौराणिक साहित्य वर्तमान था, (३) पञ्च लक्षण (ई० पू० ६०० ई० स० १००)—सृष्टि की उत्पत्ति, प्रलय, वर्णाश्रम, श्राद्ध, दार्शनिक सिद्धान्त आदि का वर्णन इस अवस्था का सूचक है, (४) साम्प्रदायिक (ई० स० १०० ई० स० ७००)—शिव, विष्णु आदि की भक्ति, तीर्थ-माहात्म्य आदि का वर्णन इस अवस्था का सूचक है।

वर्तमान पुराणो की सख्या अठारह है। इन्हे 'महा पुराण' कहा जाता है व तीन वर्गों मे विभाजित किया जाता है, जैसे ब्राह्म, वैष्णव और शैव। ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त, मार्कण्डेय, भविष्य, वामन तथा ब्रह्म ब्राह्म है। विष्णु, नारदीय, भागवत, गरुड, पद्म, तथा वराह वैष्णव है। मत्स्य, कूर्म, लिङ्ग, वायु, स्कन्द तथा अग्नि शैव है। साराश मे, इन अठारह पुराणों मे वर्णित विषयो का ब्यौरा इस प्रकार है—

(१) ब्रह्म पुराण—इसके प्रारम्भिक अध्यायो मे सृष्टि की उत्पत्ति तथा कृष्ण के समय तक के सूर्य व चन्द्र-वश का वर्णन है। इसके पश्चात्

साराश रूप मे विश्व का वर्णन आता है। इसमें उडीसा तथा वहाँ के पवित्र मन्दिरों का वर्णन भी किया गया है। इसके पश्चात् कृष्ण का जीवन चरित है, जो शब्दश विष्णु पुराण से लिया गया है। अन्त में योग का वर्णन है।

(२) पद्म पुराण—स्कन्द के अतिरिक्त यह सबसे बडा पुराण है। इसके पाँच खण्ड हैं—सृष्टि, भूमि, स्वर्ग, पाताल व उत्तर। सृष्टि-खण्ड में सृष्टि की उत्पत्ति तथा ऋषियो और राजाओं की वशावलियाँ हैं, अजमेर के पुष्कर सरोवर के पावित्र्य का वर्णन भी आता है। भूमि-खण्ड मे तीर्थ-स्थान व उनके पावित्र्य से सम्बन्धित कथाएँ वर्णित हैं और भूमि का वर्णन भी आता है। स्वर्ग-खण्ड मे विष्णु के निवास वैकुण्ठ तथा वर्णाश्रम धर्म का वर्णन है। पाताल-खण्ड में नागलोक वर्णित है। शेषनाग राम तथा कृष्ण की कथा कहता है। उत्तर-खण्ड में विष्णु-भक्ति, अवतार आदि का वर्णन है।

(३) विष्णु पुराण—इसके छ खण्ड हैं। पहले में विष्णु और लक्ष्मी की उत्पत्ति है, और ध्रुव, प्रह्लाद आदि की कथाएँ है। दूसरे मे भूमि, उसके सात द्वीप व सात समुद्रों का वर्णन है। इसमें भारतवर्ष, ग्रह, सूर्य, चन्द्र आदि का वर्णन भी आता है। तीसरे खण्ड में चार वेद, अठारह पुराण, वर्णाश्रम-धर्म, संस्कार, श्राद्ध आदि का वर्णन है, बौद्धो तथा जैनियों पर भी टीका की गई है। चौथे खण्ड में सूर्य और चन्द्र वश के राजाओ का वर्णन है। पाँचवें खण्ड मे कृष्ण का जीवन-चरित है। छठे खण्ड में विष्णु भक्ति योग, मोक्ष आदि का वर्णन है।

(४) वायु पुराण—इसे 'शिव' या 'शैव' भी कहा गया है। इसके चार खण्ड हैं, जिन्हे 'पाद' कहा गया है। पहले मे सृष्टि की उत्पत्ति तथा विकास का वर्णन है। दूसरे में विभिन्न कल्प, ऋषि-वशावली, विश्व, मन्वन्तर, शिव-स्तुति आदि वर्णित हैं। चन्द्र आदि वशों का वर्णन है। चौथे में योग का फल और शिव का गुण-गान है।

(५) भागवत पुराण—इसमे बारह स्कन्ध हैं। पहले दो स्कन्धों में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है और यह बताया गया है कि वासुदेव सृष्टि-रचना किस प्रकार करते हैं, यह जगत् निरी माया है, वासुदेव की भक्ति सब वर्णों के लोग यहाँ तक कि म्लेच्छ भी कर सकते हैं। तीसरे स्कन्ध में ब्रह्मा की उत्पत्ति, वराह अवतार आदि का वर्णन है तथा विष्णु द्वारा साख्य दर्शन के प्रणेता कपिल का अवतार धारण किए जाने का वर्णन है। चौथे और पाँचवें स्कन्ध मे ध्रुव, वेन, पृथु, भरत आदि के आख्यानों का वर्णन है। छठे स्कन्ध में विष्णु-भक्ति का माहात्म्य समझाने वाली कितनी हो कथाएँ वर्णित हैं। सातवें स्कन्ध में प्रह्लाद की कथा वर्णित हे। आठवे स्कन्ध मे ऐसी और भी कथाएँ वर्णित हैं। नवम स्कन्ध मे सूर्य और चन्द्र-वश का वर्णन है। दशम मे केवल कृष्ण-चरित ही वर्णित हे। ग्यारहवें स्कन्ध मे यादवों का नाश तथा कृष्ण की मृत्यु का वर्णन है। बारहवें स्कन्ध में बाद के राजाओं का वर्णन है।

(६) नारद पुराण—इसमे विष्णु-भक्ति तथा हरि-भक्ति का उपदेश देने वाले आख्यानों का वर्णन है।

(७) मार्कण्डेय पुराण—इसमे बहुत सी दन्तकथाएँ वर्णित है, जैसे वृत्र-वध, बलदेव का तप, हरिश्चन्द्र का आख्यान, वशिष्ठ तथा विश्वामित्र का युद्ध इत्यादि। इसके पश्चात् सृष्टि की उत्पत्ति और मन्वन्तरों का वर्णन है। आगामी मन्वन्तर के वर्णन में दुर्गा की स्तुति भी वर्णित है, जिसको 'चण्डी-पाठ' कहते हैं।

(८) अग्नि पुराण—प्रारम्भ मे विष्णु के अवतारों का वर्णन है। इसके पश्चात् धार्मिक कृत्यों तथा शिव-भक्ति आदि का वर्णन है। इसी के बीच में पृथ्वी और विश्व का वर्णन भी आता है। इसके पश्चात् राज धर्म, युद्ध-नीति, वेद-पुराण आदि वर्णित हैं। राज-वशों का वर्णन बहुत कम है। अन्त में आयुर्वेद, अलङ्कार शास्त्र, छन्द शास्त्र, व्याकरण आदि का विवेचन किया गया है।

(६) भविष्य पुराण—इसमे सृष्टि की उत्पत्ति, संस्कार, वर्णाश्रम धर्म और यज्ञादि का वर्णन है। इसके पश्चात् कृष्ण, साम्ब, वशिष्ठ, नारद, व्यास आदि की बातचीत द्वारा सूर्य की शक्ति और प्रभुत्व का वर्णन किया गया है।

(१०) ब्रह्म वैवर्त पुराण—इसके चार विभाग है, जिनमे क्रमश ब्रह्मा, देवी, गणेश और कृष्ण के चरित चित्रित है। कृष्ण-भक्ति पर अधिक जोर दिया गया है। वृन्दावन, कृष्ण-स्तुति, तथा राधा और गोपियो की प्रेम-क्रीडा आदि का खूब वर्णन किया गया है।

(११) लिङ्ग पुराण—प्रारम्भ मे सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है और शिव को जगत् का कर्ता माना गया है। सृष्ट्युत्पत्तिके समय महान् अग्निमय लिङ्ग प्रकट होता है, जिसमे ब्रह्मा और विष्णु के गर्व का भङ्ग हो जाता है। इसी लिङ्ग से वेदादि का प्रादुर्भाव होता है। इसके पश्चात् शिव के २८ अवतारो का वर्णन है, तथा विश्व का और कृष्ण के समय तक के राजवंशों का भी वर्णन है। इसमे कथा, धार्मिक कृत्य, शिव-स्तुति आदि भी वर्णित है।

(१२) वराह पुराण—इसमे विष्णु की भक्ति, प्रार्थना आदि का विस्तृत वर्णन है, बीच बीच मे आख्यानो को भी मिला दिया गया है। इसके पश्चात् तीर्थ यात्रा, तीर्थ-स्थान आदि का विशद वर्णन है।

(१३) स्कन्द पुराण—यह सबसे बडा पुराण है। काशी खण्ड में बनारस के शिव मन्दिरो का विस्तृत वर्णन है, जिसके अन्तर्गत शिव-पूजा-विधि, आख्यान आदि भी आ जाते है। उत्कल-खण्ड मे उडीसा और जगन्नाथ के पावित्र्य का वर्णन है। इसके अतिरिक्त इस पुराण मे कितनी ही संहिताएँ और कितने ही माहात्म्य हैं।

(१४) वामन पुराण—इसमे विष्णु के वामन अवतार का वर्णन है। लिङ्ग-पूजा, तीर्थ माहात्म्य आदि का भी वर्णन है। इसमे दक्ष का यज्ञ, कामदेव का भस्मीकरण, शिव और उमा का विवाह, कार्तिकेय का जन्म आदि भी वर्णित हैं।

(१५) कूर्म पुराण—यद्यपि इसका नाम विष्णु के कूर्मावतार पर से रखा गया है, फिर भी इसका अधिकाश भाग शिव और दुर्गा की भक्ति से सम्बन्धित है। पहले खण्ड मे सृष्टि की उत्पत्ति, विष्णु के अवतार, कृष्ण के समय तक सूर्य और चन्द्रवश, सृष्टि, मन्वन्तर आदि का वर्णन है। इसके साथ-साथ शिव-भक्ति का प्रतिपादन करने वाली कहानियाँ भी वर्णित हैं। दूसरे खण्ड मे ध्यान, वैदिक कर्मकाण्ड आदि द्वारा शिव-प्राप्ति का वर्णन है।

(१६) मत्स्य पुराण—विष्णु के मत्स्यावतार से इसका प्रारम्भ होता है। महा-प्रलय के समय मत्स्यरूप मे विष्णु मनु की रक्षा करता है और उसके प्रश्नों का उत्तर देता है। इसके पश्चात् सृष्टि की उत्पत्ति, राजवश, वर्णाश्रम धर्म आदि का वर्णन आता है। फिर शिव-उमा-विवाह, कार्तिकेय जन्म तथा विष्णु-सम्बन्धी कथाएँ वर्णित है। नर्मदादि का माहात्म्य, धर्म और नीति, मूर्ति निर्माण-कला, भविष्य के राजा, दान आदि का वर्णन है।

(१७) गरुड पुराण—इसमे सृष्ट्युत्पत्ति का साराश में वर्णन है। व्रत, पर्व, तान्त्रिक स्तुति, फलित ज्योतिष, सामुद्रिक, आयुर्वेद आदि मुख्यत वर्णित हैं। अन्तिम भाग मे दाह-सस्कार, श्राद्ध आदि का वर्णन है।

(१८) ब्रह्माण्ड पुराण—इसे वायु पुराण का ही थोडा परिवर्तित रूप माना जाता है। इसमे सृष्टि-उत्पत्ति तथा राजवश आदि का वर्णन है। यों तो यह शैव पुराण है, किन्तु इसमे परशुराम आदि सम्बन्धी कितने ही आख्यान हैं, जो वायु पुराण मे नहीं पाये जाते।

धर्म-शास्त्र—धर्म-शास्त्र के साहित्य को विकास और तिथि क्रम की दृष्टि से तीन विभागों में बाँटा जा सकता है, जैसे धर्म-सूत्र, श्लोकबद्ध स्मृतियाँ, निबन्धकारो का साहित्य।

धर्मसूत्रों के विषय मे सूत्र-साहित्य के प्रकरण मे लिख दिया गया है, फिर भी यहाँ थोडा उल्लेख अनुचित नहीं होगा। इन सूत्रों को धर्म-

शास्त्र कहा गया है। गौतमीय धर्म-शास्त्र सबसे प्राचीन धर्म-सूत्रों मे से है और सामवेद की राणायनीय शाखा का मालूम होता है। इसमे बाद की मिलावट भी है। तीस अध्यायों का हारीतष् धर्मशास्त्र भी प्राचीन धर्म-सूत्रो में से है। वशिष्ठ धर्म-शास्त्र में ये दोनों उल्लिखित हैं। इसमें भी मिलावट की गई है। मनु, यम, प्रजापति आदि का प्रमाण रूप से उल्लेख है। कुमारिल भट्ट के मतानुसार यह ऋग्वेद की लुप्त वाशिष्ठ शाखा से सम्बन्धित है। बौधायन धर्म-शास्त्र और आपस्तम्बीय धर्म-सूत्र कृष्ण यजुर्वेद की विभिन्न शाखाओ के सूत्रों से सम्बन्धित हैं। पहले मे मिलावट है, दूसरे मे नहीं है। इन धर्मसूत्रों का समय ई० पू० पाँचवीं शताब्दी से दूसरी शताब्दी तक का बताया जाता है। वैष्णव धर्मशास्त्र में बहुत-सी मिलावट की गई है, क्योंकि इसमे विष्णु और पृथ्वी की बातचीत के रूप में सब वर्णन किया गया है। कृष्ण यजुर्वेद की काठक शाखा के धर्म सूत्र से इसको सम्बन्धित किया जाता है, जिस प्रकार कि गद्य और श्लोकबद्ध हारीत धर्मशास्त्र को मैत्रायणीय शाखा से सम्बन्धित किया जाता है। वैष्णव धर्म-शास्त्र में यूनानी ज्योतिष के पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख आता है। इसलिए यह ईसा की तीसरी शताब्दी के पहले का नहीं हो सकता। वैखानस धर्म-शास्त्र तीन अध्यायों मे वर्णाश्रम धर्म का वर्णन करता है, विशेषकर वानप्रस्थ का। कोई-कोई विद्वान् इसे बहुत बाद का मानते है। इसके अतिरिक्त पैठीनसी (अथर्ववेद), शाङ्ख-लिखित (शुक्ल यजुर्वेद), उशनस, काश्यप, बृहस्पति आदि धर्मसूत्र भी हैं, जिनकी प्राचीनता के बारे में शङ्का की जाती है।

स्मृतियों में धर्मशास्त्र साहित्य अधिक विकसित रूप मे मिलता है। स्मृतियों की भाषा श्लोकबद्ध है और उनका क्षेत्र भी अधिक विकसित है। इनमें वर्णित नियमों का सम्बन्ध सम्पूर्ण समाज से है। राजधर्म, जो कि धर्मसूत्रों में नहीं पाया जाता, अधिक विस्तार के साथ वर्णित है, साथ ही दीवानी और फौजदारी कानून भी समाविष्ट हैं।

महाभारत की भाषा आदि से प्रभावित होकर स्मृतिकारों ने श्लोकों को अपनाया और समाज की प्रचलित रूढ़ियो, रीति-रिवाज आदि को अपने ग्रन्थों में स्थान देकर उन्हें धर्म-प्रामाण्य में सम्मिलित किया। इन लेखकों ने अपने ग्रन्थों को प्राचीन ऋषियो के नाम से सम्बन्धित किया, जिससे उनकी प्रामाणिकता और पवित्रता पर शङ्का न की जा सके।

मनुस्मृति सबसे प्राचीन मानी जाती है। मनु का उल्लेख तो वेद, ब्राह्मण, गृह्यादि सूत्र, महाभारत आदि मे आता है। तैत्तिरीय संहिता (२।२।१०।२) में लिखा है कि जो-कुछ मनु ने कहा है वह भेषज है। शतपथ ब्राह्मण (१।८।१।७) में महापूर के उल्लेख मे मनु का वर्णन आता है। यास्क (३।४) ने उत्तराधिकार के सम्बन्ध में मनु को उद्धृत किया गया है, किन्तु यह उद्धरण वर्तमान मनुस्मृति में से नहीं है। महाभारत के परीक्षण से मालूम होता है कि उसमें लगभग २६० श्लोक मनुस्मृति से मिलते-जुलते है। उसमे कहीं कहीं मनु और मनुस्मृति का उल्लेख भी आता है। इस प्रकार मनुस्मृति के निर्माण-काल के बारे में कहा जा सकता है कि वर्तमान मनुस्मृति का आधार कदाचित् कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणीय शाखा से सम्बन्धित मानव धर्म सूत्र हो। वर्तमान मनुस्मृति और मानव गृह्य-सूत्र मे कुछ समानता है। महाभारत की समानता से तथा यवन, शक, काम्बोज, पह्लव आदि विदेशियों के उल्लेख के कारण यह कहा जा सकता है कि मनुस्मृति ई० पू० २०० वर्ष पहले की नहीं हो सकती और अन्य स्मृतियों से अधिक प्राचीन होने के कारण ई० स० २०० के बाद की भी नहीं हो सकती। इसलिए इसका निर्माण-काल, जैसा कि बूह्लर का मत है, ई० पू० २००—ई० स० २०० वर्ष के बीच में कहीं होना चाहिए।

मनुस्मृति में लिखा है कि सर्वप्रथम ब्रह्मा ने उसकी रचना की और उसने यह स्मृति मनु को सुनाई। मनु ने भृगु को सुनाई और भृगु ने इस स्मृति को मानव समाज के सम्मुख रखा। इसमें ग्यारह अध्याय हैं। पहले अध्याय में वेदान्त, सांख्य आदि के सिद्धान्तों के सहारे पौरा-

णिक ढङ्ग पर सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है, साख्य के तीन गुणो पर विशेष जोर दिया गया है। दूसरे अध्याय मे धर्म-प्रामाण्य और ब्रह्मचारी के धर्मों का निरूपण है। तीसरे, चौथे और पाँचवें में गृहस्थ-धर्म वर्णित है, जैसे विवाह, दैनिक कर्मकाण्ड, श्राद्ध, वृत्ति, सदाचार, भक्ष्यवर्ज्य-भोजन, अशौच, स्त्री-धर्म आदि। छठे अध्याय मे वानप्रस्थ और सन्यास-आश्रमो का वर्णन है, सातवें मे राज-धर्म है। आठवें और नवें अध्याय में व्यवहार, साक्षी आदि का विवेचन है तथा ऋण और उसका परिशोध, दान, चोरी, व्यभिचार, क्रय-विक्रय आदि का विवेचन है। नवें में राज-धर्म, वैश्यो तथा शूद्रो के कर्तव्यो का भी विवेचन है। दसवे अध्याय में वर्णसंकर, वर्णधर्म, आपद्धर्म आदि का वर्णन है। ग्यारहवें अध्याय मे दान, यज्ञ, तप तथा बारहवें अध्याय मे पुनर्जन्म, मोक्ष आदि का वर्णन है। मनुस्मृति का प्रचार इतना बढ़ गया था कि ब्रह्म देश, स्याम, जावा आदि तक मे इसे प्रमाणभूत माना जाता था।

नारद स्मृति मे लिखा है कि उसमे मनुस्मृति से भी अधिक प्राचीन विचारो का समावेश है, किन्तु इसमें वर्णित विषय के परीक्षण से यह दावा झूठा साबित हो जाता है। दीनार के उल्लेख के कारण यह स्मृति ईसा की दूसरी शताब्दी के पहले की नही हो सकती। ईसा की सातवीं शताब्दी मे बाण ने इसका उल्लेख किया है, व आठवी शताब्दी मे असाय ने इस पर टीका लिखी है। बृहस्पति स्मृति खण्डश. प्राप्त है। यह मनुस्मृति के वार्तिक के समान है। इसका रचना-काल ईसा की छठी या सातवीं शताब्दी बताया जाता है।

याज्ञवल्क्य स्मृति नारद, बृहस्पति आदि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसे शुक्ल यजुर्वेद से सम्बन्धित किया जाता है। पारस्कर गृह्य सूत्र व मानव गृह्य सूत्र से इसकी कुछ समानता भी है। इसमें बृहदारण्यक का उल्लेख है। इसमें यूनानी ज्योतिष शास्त्र का उल्लेख है, तथा सिक्के के सोने को 'नाणक' कहा गया है। इस पर से यह ई० स०

३०० के पहले की नहीं हो सकती। इसमे वर्णित विषय की व्यवस्था मनुस्मृति की अपेक्षा अधिक अच्छी है, आचार, व्यवहार आदि के अलग-अलग अध्याय हैं। इसमे वेदान्त, योग, साख्य, गर्भ-शास्त्र आदि का वर्णन भी हैं। इस स्मृति पर बहुत सी महत्त्वपूर्ण टीकाएँ लिखी गई है। इसकी सर्वोत्तम टीका मिताक्षरा है, जो ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी मे दक्षिण के विज्ञानभिक्षु ने लिखी है। मिताक्षरा हिन्दू कानून के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। दक्षिण भारत, उत्तर भारत, बनारस आदि में इसे प्रमाण माना जाता था। विज्ञानेश्वर ने विश्व रूप की टीका का उपयोग किया था। अपरार्थ ने ईसा की बारहवीं शताब्दी में एक टीका लिखी। बालम्भट्ट वैद्यनाथ व उनकी पत्नी लक्ष्मीदेवी ने भी मिताक्षरा पर टीका लिखी, जिसम स्त्री धन पर विशेष जोर दिया गया है। इनके अतिरिक्त कितनी ही अन्य स्मृतियाँ भी है। एक सूची मे लगभग १५२ स्मृतियो का उल्लेख हैं। इनमे पराशर स्मृति विशेष उल्लेखनीय है। इसी प्रकार अत्रि, उशनस्, आपस्तम्ब दक्ष, शङ्ख, लिखित, सम्वर्त आदि स्मृतियाँ भी अपना-अपना स्थान रखती है।

स्मृतियो की सख्या इतनी अधिक बढ़ जाने के कारण ईसा की बारहवी शताब्दी के पश्चात् राजाज्ञा द्वारा स्मृतियो के साराश को 'धर्म निबन्ध' के रूप मे तैयार करवाया गया। स्मृति कल्पतरु-प्राचीन तम धर्म निबन्ध है। इसका कर्ता लक्ष्मीधर है, जो कन्नौज के राजा गोविन्दचन्द्र (ई० स० ११०५-४३) का वैदेशिक मन्त्री था। बङ्गाल के लक्ष्मणसेन के लिए हलायुध ने ब्राह्मण सर्वस्व बनाया। इसमे केवल ब्राह्मण-धर्म का ही निरूपण किया गया है। दक्षिण भारत के देवणभट्ट की स्मृति चन्द्रिका (ई० स० १२००) व हेमाद्रि-कृत चतुर्वर्गचिन्तामणि यादव राजाओं (ई० स० १२६०-१३०६) के लिए बनाये गए थे। राजा मदनपाल (ई० स० १३६०-७०) के लिए विश्वेश्वर ने मदन पारिजात लिखा। राजा हरिसिहदेव (ई० स०

१३२९) के मन्त्री चण्डेश्वर ने स्मृति रत्नाकर व मिथिला के हरिनारायण (ई० स० १५१०) के लिए वाचस्पति ने विवाद चिन्तामणि लिखा। ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी के पहले जीमूतवाहन ने धर्मरत्न लिखा, जिसमें सुप्रसिद्ध 'दाय भाग' समाविष्ट है। ईसा की सोलहवीं शताब्दी में रघुनन्दन ने अपने 'अट्ठाईस तत्त्वों' का निरूपण किया। ईसा की सत्रहवीं शताब्दी में कमलाकर ने 'निर्णय सिन्धु' लिखा, जो महाराष्ट्र में प्रमाण माना जाता है। इसी शताब्दी में नीलकण्ठ ने भगवन्त भास्कर व मित्रमिश्र ने वीरमित्रोदय को जन्म दिया।

(३)
काव्य

गद्य—काव्य के साधारणतया दो भेद माने गए हैं—गद्य व पद्य। किन्तु उसका गद्य-पद्यात्मक एक तीसरा भेद भी माना गया है, जिसे चम्पू कहते हैं। प्राचीन भारतीयों को गद्य से अधिक प्रेम न था। उनका अधिकाश साहित्य, यहाँ तक कि व्याकरण ज्योतिष आदि का साहित्य भी पद्यमय है। फिर भी गद्य को अपनाया गया है प्राचीन गद्य का इतिहास यजुर्वेद के गद्याशों से प्रारम्भ होता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में इसके विकास का स्पष्ट पता लगता है। सब ब्राह्मण-ग्रन्थ गद्य में ही लिखे गए हैं। इनके आलोचनात्मक अध्ययन से मालूम होता है कि ब्राह्मण काल में गद्य के भिन्न-भिन्न अङ्गों का विकास हो गया था। किन्तु यह गद्य आलङ्कारिकों का काव्यमय गद्य नहीं है। उपनिषद् निरुक्त, अर्थशास्त्र, पातञ्जल महाभाष्य आदि में भी इसी प्रकार के गद्य के नमूने मिलते हैं। काव्यात्मक गद्य के सर्व प्रथम दर्शन सस्कृत शिलालेखों में होते हैं। रुद्रदामन् के गिरनार लेख (ई० स० १५०) में इसका प्राचीनतम दृष्टान्त है। इस लेख के गद्याश में आलङ्कारिक भाषा में सुदर्शन तडाग के बाँध को पुन बँधवाये जाने का सुन्दर वर्णन है। बड़े-बड़े समास, यमक, अनुप्रास, उपमा आदि के प्रयोग व

अलङ्कारो के नामो के स्पष्ट उल्लेख आदि से मालूम होता है कि परिमार्जित व सुन्दर गद्यकाव्य लिखने की प्रणाली प्रारम्भ हो चुकी थी। समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तम्भ लेख (ईसा की चौथी शताब्दी) में उत्कृष्ट गद्यकाव्य प्रयुक्त किया गया है। गद्यकाव्य के जो ग्रन्थ आज वर्तमान है, उनका ब्यौरा इस प्रकार है—

दशकुमार चरित—इसका लेखक दण्डी है, जिसने काव्यादर्श नामी अलङ्कार-ग्रन्थ भी लिखा है। दण्डी का समय ईसा की छठो शताब्दी बताया जाता है। इस ग्रन्थ में दस राजकुमार यात्रा के लिए भिन्न-भिन्न दिशाओं मे जाते हैं, व लौटने पर प्रत्येक अपने-अपने अनुभव रोचक ढङ्ग से सुनाता है। इसमें तत्कालीन सामाजिक जीवन का सुन्दर चित्र खींचा गया है।

वासवदत्ता—इसका लेखक सुबन्धु है, जो ईसा की सातवीं शताब्दी के लगभग हुआ है। इसमें उज्जैन की राजकुमारी वासवदत्ता व वत्सराज उदयन के प्रेम की कहानी है। इस पर भास आदि नाटककारों ने भी सुन्दर नाटक रचे है

कादम्बरी—इसका लेखक बाणभट्ट है, जो कि हर्षवर्धन (ई० स० ६०६-६४७) का समकालीन था। इसमें कादम्बरी नाम की एक काल्पनिक नायिका का चरित्र-चित्रण है। चन्द्रापीड महाश्वेता आदि पात्रों का वर्णन भी अत्यन्त ही रोचक व काव्यमय है। इसमें प्राकृतिक वर्णन भी बहुत ही सुन्दर है। अच्छोद सरोवर के किनारे महाश्वेता व पुण्डरीक का प्रथम मिलन तथा परस्पर प्रेम-पाश मे बँध जाना व प्रेम के आवेश में पागल हो जाना अत्यन्त ही रोचक तथा काव्य की दृष्टि से उत्कृष्ट है इसमे पात्रों का काम दो-दो तीन-तीन जन्म तक चलता है।

हर्षचरित—यह भी बाणभट्ट-कृत है। इसमें कन्नौज के हर्ष का चरित चित्रित किया गया है। इसमें भी कवि ने अपनी कवित्व-शक्ति का परिचय दिया है। किन्तु इसमें उसका हाथ इतना मँजा हुआ नहीं है,

जितना कादम्बरी मे है फिर भी कहीं-कही वर्णन बहुत सुन्दर है, जैसे बौद्ध आचार्य के आश्रम का वर्णन है, जहाँ पशु-पक्षियो ने भी अहिसा-व्रत धारण किया था।

इन गद्यकाव्यों मे कवित्व-शक्ति का परिचय तो मिलता है, किन्तु कहीं-कही कृत्रिमता का बाहुल्य दिखाई देता है, विशेषकर दशकुमार-चरित व वासवदत्ता मे। बडे-बडे समास, श्लेष आदि अर्थालङ्कारों का जाल, शब्दालङ्कारो का बाहुल्य आदि कालिदास के समान कवि के उत्कृष्ट काव्य का रसास्वादन करने वाले को बहुत ही फीका मालूम पडता है। मम्मट द्वारा प्रतिपादित काव्य-कसौटी पर ये गद्यकाव्य कदाचित् 'अधम काव्य' उतरें, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से उनका महत्त्व अवश्य है।

लघु कथा—(ई० स० ४००-११००)—सस्कृत गद्य का दूसरा अङ्ग लघु कथा साहित्य है। प्राचीन काल से ही समाज मे छोटी-छोटी उपदेश-पूर्ण कहानियाँ प्रचलित थीं। बौद्ध, जैन, ब्राह्मण आदि ने इन कहानियो को साहित्यिक रूप देकर अपने धार्मिक सिद्धान्तों के प्रसार के लिए उनका उपयोग किया था। सस्कृत भाषा मे तो इसे गद्यात्मक साहित्य का एक अङ्ग ही बना दिया गया। ये लघु कथाएँ इतनी रोचक व लोक-प्रिय बन गई कि इनमे से कितनी ही विदेशो तक फैल गई। इन रोचक व शिक्षाप्रद कहानियो के सग्रह इस प्रकार हैं—

पञ्चतन्त्र—इसके पाँच विभाग है। पहला विभाग मित्र-भेद कहाता है। इसमें एक बैल और सिह दो सियारो द्वारा मिलाये जाने पर पक्के मित्र बन जाते हैं। धीरे-धीरे एक सियार को इस मैत्री के प्रति ईर्ष्या होने लगती है, और वह षड्यन्त्र रचता है। परिणामस्वरूप सिह और बैल का झगडा होता है, जिसमे बैल मारा जाता है। दूसरा विभाग मित्र-लाभ कहलाता है। इसमे एक कछुए, मृग, कौए तथा चूहे आदि की कठिनाइयों से भरी यात्रा का वर्णन है, जिसमे सब हिल मिलकर रहते हैं और आपत्ति में सच्चे मित्र के समान एक दूसरे को सहायता

पहुँचाते है । तीसरे विभाग मे 'कौओ और उल्लुओ का युद्ध' वर्णित है । इसमे भूतपूर्व शत्रुओ की मैत्री के क्या दुष्परिणाम होते है, उनका वर्णन है । चौथे विभाग का विषय प्राप्त वस्तु की हानि है । इसमे बन्दर और मगर की रोचक कहानी है, जिसमे बताया गया है कि किस प्रकार मूर्खों के पास से उनकी चीजें खुशामद द्वारा छीनी जा सकती हैं । पाँचवें विभाग मे बिना विचार किये हुए काम का वर्णन है । इसमें कितनी ही कहानिया है, जिनमे एक नाई के दु खद अनुभवो का वर्णन है, जो कि परिस्थितिया को अच्छी तरह न समझने के कारण दु ख और आपत्तियो का शिकार बनता है ।

पञ्चतन्त्र के लेखक के बारे मे निश्चित रूप मे कुछ नही कहा जा सकता । इसके प्रारम्भ में ही दक्षिण के महिलारोप्य नगर के राजा अमरशक्ति की कहानी है । उसे किसी योग्य शिक्षक की आवश्यकता थी, जो कि उसके तीन मूर्ख और आलसी पुत्रों को छ माह मे नीति-शास्त्र इस तरह पढा दे कि वे अन्य राजकुमारों से बढ जायँ । इस उद्देश्य की सिद्धि पञ्चतन्त्र द्वारा की गई है । इसके समय के बारे मे इतना कहा जा सकता है कि ईसा की छठी शताब्दो में इसकी कहानियाँ इतनी लोकप्रिय हो गई थीं कि ईरान के सेसेनियन राजा खुसरू अनुसीरवाँ (ई० स० ५५१-५७६) ने ई० स० ५७० के लगभग पहेल्वी-भाषा में इसका अनुवाद करवाया, व पहेल्वी से सिरिक भाषा मे अनुवाद हुआ । पञ्चतन्त्र की रचना कदाचित् ई० स० ३००-५०० वर्ष के काल मे कभी हुई हो, अथवा इससे भी पहले हुई हो ।

हितोपदेश—इसका बहुत-सा भाग पञ्चतन्त्र से लिया गया है । इसकी ४३ कहानियों मे से पचीस पञ्चतन्त्र मे की है । यह सग्रह भारत में बहुत ही लोकप्रिय है । इसकी भूमिका भी पञ्चतन्त्र के समान है, किन्तु मूर्ख राजपुत्रों का पिता पाटलीपुत्र का राजा सुदर्शन है । इसके चार विभाग है—मित्र-लाभ, सुहृद्-भेद, विग्रह और सन्धि । इसके लेखक का पता नहीं है और न इसके समय के बारे मे निश्चित रूप से

कुछ भी कहा जा सकता है। यह पुस्तक ५०० वर्ष से अधिक पुरानी होनी चाहिए, क्योंकि इसकी प्राचीनतम हस्तलिखित प्रति ई० स० १३७३ में लिखी गई थी। इसकी कहानियाँ रोचक और शिक्षाप्रद हैं।

वेताल पञ्चविंशति—इसमें वेताल (शवों मे निवास करने वाला पिशाच) की पच्चीस कहानियों का सग्रह है। एक योगी उज्जैन के विक्रम राजा को एक वृक्ष पर टँगे हुए शव को कुछ बोले बिना श्मशान तक ले जाने को कहता है, जहाँ कि जादू के कुछ कृत्य किये जाने वाले हैं। ज्यों ही राजा अपने कन्धों पर उस शव को ले जाता है, त्यों ही उसके अन्दर का पिशाच कहानी सुनाने लगता है। उसके प्रश्न पूछने पर राजा भूल से उत्तर दे देता है। परिणामत शव पुन वृक्ष पर चला जाता है। इस प्रकार राजा से पच्चीस बार भूल होती है। इसके लेखक और समय का कोई पता नहीं है।

सिंहासन द्वात्रिंशिका—इसमें राजा विक्रम का बत्तीस पैडियो वाला सिंहासन रोचक कहानियाँ सुनाता है। इसके भी लेखक और समय का कोई पता नहीं है।

शुकसप्तति—इसमें एक स्त्री अपने पति के विदेश चले जाने पर दूसरे पुरुषों के पास जाना चाहती है और इस सम्बन्ध में अपने तोते की सलाह लेती है। तोता उसकी बात का अनुमोदन करता है, किन्तु उसे कहता है कि घर से बाहर जाने के पूर्व कुछ कठिनाइयो का सामना करना पडेगा, जैसा कि अमुक स्त्री को करना पडा था। इस पर वह उस स्त्री की कहानी सुनना चाहती है, और तोता कहानी सुनाने लगता है, किन्तु उसे अधूरी ही रखता है। इस प्रकार सत्तर रातें बीत जाती हैं और उसका पति लौट आता है।

बृहत्कथामञ्जरी—ई० स० १०३७ के लगभग क्षेमेन्द्र ने बृहत्कथा के आधार पर इस ग्रन्थ को रचा। विस्तार में यह कथा-सरित्सागर का तीसरा भाग है।

कथासरित्सागर—यह पद्यात्मक है। इसमें १२४ तरङ्गें और

२२००० श्लोक हैं। इसका लेखक काश्मीरी कवि सोमदेव है, जिसने इस ग्रन्थ को ई० स० १०७० के लगभग रचा। लेखक स्वीकार करता है कि उसने गुणाढ्य-कृत वृहत्कथा से बहुत-कुछ लिया है, जिसका उल्लेख दण्डी, बाण आदि ने भी किया है। इसमें बहुत से सुन्दर और रोचक किस्से हैं। एक राजा ने संस्कृत व्याकरण न जानने से अपनी रानी के वचनों को बराबर न समझ सकने के कारण लज्जित होकर संस्कृत का धुरन्धर विद्वान् बनने अन्यथा मर जाने का निश्चय किया। इसमें राजा शिव की कहानी भी है, जिसने श्येन से कपोत को बचाने के लिए अपने-आपको अर्पित कर दिया था।

पद्य (ई० पू० २००–ई० स० ११००)—पद्यात्मक काव्य के दो विभाग किये जाते है, जैसे महाकाव्य और खण्डकाव्य। महाकाव्य मे बहुत से सर्ग रहते हैं, नगर, ऋतु, पर्वत, नदी आदि का विस्तृत वर्णन रहता है, तथा उसकी वस्तु भी विस्तृत रहती है। खण्डकाव्य का स्वरूप छोटा रहता है। वस्तु भी छोटी रहती है। इसमे गीतकाव्य और शिक्षाप्रद का समावेश हो जाता है।

यों तो वाल्मीकि रामायण को आदि महाकाव्य माना जाता है, किन्तु यदि पद्यात्मक काव्य के इतिहास पर विचार किया जाय तो पता लगेगा कि पाणिनि (ई० पू० ७००-४००) के समय में भी काव्य का ज्ञान वर्तमान था। पाणिनि की बहुत-सी कविताएँ, जो कि अन्य ग्रन्थों में उद्धृत हैं, आज मिलती हैं, जिससे मालूम होता है कि उसने कुछ काव्य अवश्य लिखे होंगे। पातञ्जल महाभाष्य में भी काव्य-ग्रन्थों के बहुत से श्लोक उद्धृत किये गए हैं। उक्त पद्यांश, कवित्व, रीति आदि की दृष्टि से महाकाव्यों से मिलते-जुलते हैं। अश्वघोष (ईसा की प्रथम शताब्दी) का बुद्धचरित महाकाव्य का ज्वलन्त उदाहरण है।

ई० स० १४०-४४० वर्ष तक के शिलालेखों के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है, कि उस समय साहित्य-जगत् में महाकाव्य-शैली पूर्णतया ज्ञात थी। उनमें से कुछ लेख इस प्रकार हैं। रुद्रदामन्

का गिरनार-लेख (ई० स० १५०)—यह लेख गद्यात्मक काव्य मे है। उक्त लेख के लेखक को अलङ्कार-शास्त्र का ज्ञान अवश्य था और उसके समय मे वैदर्भी रीति के पद्यात्मक काव्य अधिक लोकप्रिय थे। आन्ध्र राजा का नासिक-लेख (ईसा की दूसरी शताब्दी)—इसके पठन से भी परिमार्जित काव्य-रीति के अस्तित्व का पता लगता है। राजा चन्द्र का मेहरोली स्तम्भ-लेख (ई० स० ३४०) के लगभग—काव्य की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण है। इसमे तीन शार्दूल-विक्रीडित छन्द है। इसमे उपमा, एकदेशविवर्ती रूपक, असंगति, विरोधाभास आदि अलङ्कार प्रयुक्त किये गए है। यह काव्य का एक उत्कृष्ट छोटा-सा नमूना है। समुद्रगुप्त का प्रयाग स्तम्भ-लेख (ईसा की चौथी शताब्दी)—इस लेख से मालूम होता है कि समुद्रगुप्त स्वत कविराज कहाता था और कवियों का आश्रयदाता था। इस लेख मे वैदर्भी रीति मे सुन्दर काव्य प्रयुक्त किया गया है। इसके श्लोको को पढकर कालिदास की याद आये बिना नही रहती। गुप्त-काल के अन्य लेखों मे भी काव्य के नमूने मिलते हैं। उनके अध्ययन से अलङ्कार शास्त्र के पूर्ण विकास का पता भी चलता है। इस प्रकार गुप्तकाल मे काव्य का पर्याप्त विकास हुआ था। अब कुछ महत्त्वपूर्ण महाकाव्य-ग्रन्थों पर विचार करना आवश्यक है। महाकाव्यों के लेखक कवियों मे रघुवश और कुमारसम्भव के निर्माता कालिदास का स्थान सबसे ऊँचा है। कालिदास के समय के बारे में बहुत मतभेद है। पाश्चात्य विद्वान् कालिदास को गुप्त-काल से सम्बन्धित करते हैं और भारतीय जनश्रुति के अनुसार ई० पू० प्रथम शताब्दी मे राजा विक्रम के राजकवि का सौभाग्य कालिदास को प्राप्त था।

रघुवश—इसमे १९ सर्ग हैं। इसमे राम, उनके पूर्वजो और उत्तराधिकारियों का वर्णन है। पहले नौ सर्गों मे दिलीप, रघु, अज और दशरथ का वर्णन है। दसवें से पन्द्रहवें सर्ग तक राम का वर्णन है। बाकी के सर्गों में राम के उत्तराधिकारियों का वर्णन है। यह महाकाव्य कवि की प्रौढ कृति का उत्कृष्ट नमूना है। इसमे के कितने ही प्रसग

काव्य की दृष्टि से विश्व-साहित्य मे ऊँचा स्थान प्राप्त कर सकते हैं। इन्दुमती के स्वयवर का वर्णन बहुत ही सुन्दर है। इन्दुमती के मरने पर अज का विलाप करुण रस का एक सुन्दर स्रोत ही है। इसी प्रकार राम के अयोध्या लौटते समय त्रिवेणी-सगम का वर्णन काव्य का उत्कृष्ट नमूना है।

कुमार सम्भव—इसमें १७ सर्ग हैं। पहले सात सर्गों मे शिव और पार्वती के विवाह, प्रेमालाप आदि का वर्णन है। बाद के सर्गों मे कुमार का जन्म, तारकासुर का वध आदि का विस्तृत वर्णन है, इसमे निसर्ग का बहुत ही सुन्दर चित्र खींचा गया है।

भट्टीकाव्य—यह ग्रन्थ राजा श्रीधरसेन के समय वलभी मे लगभग ईसा की सातवी शताब्दी मे लिखा गया है। कितने ही टीकाकार भर्तृ-हरि को इसका लेखक मानते है। इसमे बाईस सर्गों मे राम-चरित्र का वर्णन किया गया है। किन्तु कवि का मुख्य उद्देश्य सस्कृत व्याकरण के नियमो के उदाहरण समझाना है।

किरातार्जुनीय—यह भारवि की कृति है। इसमे १८ सर्ग हैं। इसमे किरात वेशधारी शिव तथा अर्जुन के युद्ध का वर्णन है, जिसका उल्लेख महाभारत मे भी है। भारवि का उल्लेख ई० स० ६३४ के ऐहोल-लेख मे आता है, जिससे स्पष्ट है कि यह काव्य ईसा की सातवीं शताब्दी के पश्चात् का नहीं हो सकता। इसमें शब्द-चित्र के कितने ही उदाहरण मिलते हैं। फिर भी 'भारवि का अर्थ गौरव' तो प्रसिद्ध ही है। कोई-कोई समालोचक भारवि की कविता को नारियल की उपमा देते है जिसके फोडे जाने पर ही रसास्वादन किया जा सकता है।

शिशुपाल वध—इसका लेखक माघ है। इसका समय ईसा की नवी या दसवी शताब्दी के लगभग होना चाहिए। इसमे बीस सर्गों में बताया गया है कि किस प्रकार चेदिराज शिशुपाल कृष्ण द्वारा मारा गया। इसमे कवि की विभिन्न शास्त्रो की आश्चर्यजनक विद्वत्ता का पता

तो अवश्य लगता है, किन्तु काव्य की दृष्टि से इसका अधिक महत्त्व नहीं है।

नैषध चरित—इसका लेखक श्रीहर्ष है, जिसका समय ईसा की बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। इसमें निषध के राजा नल का चरित वर्णित है। यह विस्तार में बहुत बडा है, किन्तु काव्य की दृष्टि से उत्कृष्ट नहीं है, क्योंकि इसमे अलङ्कारो पर अधिक जोर दिया गया है।

हरविजय—इसका लेखक रत्नाकर नामी काश्मीरी कवि है, जो ईसा की नवीं शताब्दी में हुआ है। इसमें मदन पर शिव द्वारा प्राप्त विजय का वर्णन है।

नलोदय—साधारणतया कालिदास को इसका लेखक माना जाता है, किन्तु यह काव्य बहुत बाद का है व इसमें कृत्रिमता का आधिक्य है। इसमें नल के सब-कुछ गँवा देने पर पुन उन्नत अवस्था को प्राप्त होने का वर्णन है।

राघवपाण्डवीय—इसका लेखक कविराज है, जिसका समय ई० स० ८०० के लगभग है। इसमें अलङ्कारों की सहायता से एक ही साथ रामायण व महाभारत के कथानकों का वर्णन है। विश्व साहित्य में ऐसा और कोई ग्रन्थ नहीं है। इसमें कृत्रिमता की चरम सीमा हो गई है।

खण्डकाव्य—गीतिकाव्य (ई० स० ४००-१०००)—संस्कृत गीतिकाव्य के स्वतन्त्र ग्रन्थ बहुत कम हैं, किन्तु इन्हीं ग्रन्थो के अध्ययन से गीतिकाव्य के आश्चर्यजनक विकास का पता चलता है। सस्कृत नाटकों में भी यत्र-तत्र उसके उत्कृष्ट उदाहरण प्राप्त होते हैं। कालिदास के मेघदूत व ऋतु-सहार इस काव्य के उत्कृष्ट नमूने है। उनमें से कुछ का ब्यौरा इस प्रकार है—

मेघदूत—इसके पूर्वमेघ व उत्तरमेघ दो भाग हैं। इसमें कुल ११९ मन्दाक्रान्ता छन्द हैं। इसके सौन्दर्य व कवित्व से गेटे के समान जर्मन विद्वान् भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। इसमें, रामगिरि पर्वत पर

एक वर्ष के लिए निर्वासित यक्ष ने मेघ द्वारा अपनी स्त्री को सन्देश भिजवाया है। पूर्वमेघ में यक्ष मेघ को अलकापुरी का मार्ग बताता है, जिसमे कवि ने भिन्न-भिन्न स्थलों का सुन्दर वर्णन किया है। उज्जैन को 'स्वर्ग का एक सुन्दर टुकडा' कहा गया है। उत्तरमेघ मे अलकापुरी, यक्ष की स्त्री का वर्णन व यक्ष का सन्देश वर्णित है। इसमे कवि का प्राकृतिक वर्णन बहुत ही सुन्दर है।

ऋतु-सहार—इसमे ६ सर्गों में १५३ छन्द हैं और छ ऋतुओं का बहुत ही सुन्दर वर्णन है। सर्वप्रथम ग्रीष्म का वर्णन आता है, जिसमें दिवस मे कडी धूप रहती है, किन्तु सन्ध्याकाल बहुत ही सुहावना और ठण्डा रहता है, चाँदनी रातें तो प्रेमी पागलों के लिए विशेष रूप से सुहावनी बन जाती हैं। फिर कडी धूप के दुष्परिणामों का वर्णन है। इसके पश्चात् वर्षा ऋतु का आगमन होता है। चातक पक्षी दिखाई देने लगते है। छोटी-छोटी नदियाँ इठलाती हुई समुद्र की ओर दौडी चली जाती है। इसके पश्चात् नव विवाहिता वधू के समान सौन्दर्य से लदी शरद् ऋतु आती है और चहु ओर सौन्दर्य का साम्राज्य छा जाता है। इसके पश्चात् शीत ऋतु आती है, जब कि अग्नि और धूप बहुत ही प्रिय लगते हैं। रात्रि का समय आकर्षक नहीं रहता। कवि बसन्त का वर्णन अधिक विस्तृत रूप से करता है। यह वही समय है जब नायिकाएँ कान मे कर्णिकार पुष्प लगाकर तथा बालों की लटो में अशोक-चमेली के फूल गूँथकर अपने प्रेमियो के पास जाती है। इसी समय मधुकर का गुनगुनाना और कोयल की कुहू सुनी जाती है, आम मे बौर भी दिखाई देने लगते हैं और कामदेव अपने बाणों से कुमारियो के हृदयों को बेधता है।

घटकर्पर—इसमें केवल बीस ही छन्द हैं। इसका नाम लेखक के नाम पर रखा गया है। कवि का काल-निर्णय करना कठिन है। जन-श्रुति के अनुसार यह विक्रम के नौ रत्नों में से एक था।

चौरपञ्चाशिका—इसका लेखक काश्मीरी कवि बिल्हण (ईसा की

ग्यारहवीं शताब्दी) है। इसमें ५० छन्द हैं और काव्य का उत्कृष्ट नमूना है। कहा जाता है कि कवि किसी राजकुमारी के प्रेम मे फँसा था। राजा ने उसे मृत्यु-दण्ड दिया, इस पर उसने अपनी प्रेयसी को सम्बोधित करके 'अद्यापि स्मरामि' शब्दो से प्रारम्भ होने वाले ५० छन्द लिखे, जिन्हे सुनकर राजा अत्यन्त ही प्रसन्न हुआ और उसने राजकुमारी का विवाह कवि से कर दिया।

शृङ्गारशतक—यह भर्तृहरि की कृति है। इसमे १०० छन्द हैं। कवि ने शृङ्गार रस का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है।

शृङ्गारतिलक—इसको कालिदास की कृति कहा जाता है। इसमे २३ छन्दो मे शृङ्गार-रस का बहुत ही सुन्दर वर्णन है।

अमरुशतक—इसमे १०० छन्दो मे बहुत ही सुन्दर ढङ्ग पर नायक और नायिका के प्रेम का चित्रण किया गया है।

गीतगोविन्द—बङ्गाल के राजा लक्ष्मणसेन (ईसा की बारहवीं शताब्दी) के समकालीन जयदेव की कृति है। इसमे कृष्ण और गोपियों के प्रेम का सुन्दर चित्र खींचा गया है।

शिक्षाप्रद काव्य—ये काव्य-ग्रन्थ उत्तम कोटि के और अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। फिर भी इन काव्यों का उल्लेख आवश्यक है: नीतिशतक—इसका लेखक भर्तृहरि है। इसमें नीतिविषयक भिन्न-भिन्न विषयो से सम्बन्धित १०० छन्द है। वैराग्यशतक—यह भी भर्तृहरि की कृति है। इसमे १०० छन्दों द्वारा ससार की क्षणभंगुरता और असारता तथा वैराग्य की उपयोगिता का सुन्दर चित्र खींचा गया है। शान्तिशतक—काश्मीरी कवि बिल्हण की यह कृति है। इसमें १०० छन्दों द्वारा शान्ति-प्राप्ति के मार्ग को समझाने का प्रयत्न किया गया है। मोहमुद्गर—इसके लेखक शङ्कराचार्य हैं। उन्होने इसमें अपनी दार्शनिक वृत्ति को काव्य का स्वरूप देने का प्रयत्न किया है। चाणक्य-शतक—यह चाणक्य की कृति है। इसमें १०० छन्दों में नीति का

उपदेश दिया गया है। नीतिमञ्जरी—इसमे ऋग्वेदान्तर्गत कथाओ के द्वारा नीति को समझाया गया है।

नाटक—नाटक की उत्पत्ति के विषय में बहुत सा मतभेद है। भारतीय जनश्रुति के अनुसार इसका प्रारम्भ वेदो से ही होता है। ऋग्वेद मे नाटक के विकास की सामग्री मिलती है। पुरुरवस्-उर्वशी, यम-यमी, विश्वामित्र-नदी आदि के सवाद-मन्त्रो से नाटक के सवादो के लिए प्रेरणा प्राप्त की गई होगी। 'नट' और 'नाटक' शब्द 'नाचना' अर्थ वाली 'नृत्' धातु से सम्बन्धित होने के कारण यह कहा जा सकता है कि नाटक के विकास मे नृत्य का भी विशेष स्थान रहा होगा। प्रारम्भ मे कदाचित् नाटक का स्वरूप नृत्यमय ही होगा और शरीर की विविध हलचलों द्वारा भाव-प्रदर्शन किया जाता होगा। जयदेव का गीत गोविन्द इसी प्रकार के प्रारम्भिक नाटक का नमूना है। ब्राह्मण-काल के यज्ञों का स्वरूप भी अधिकाश मे नाटकीय था। ये यज्ञ मूकभावों के प्रदर्शन के सुन्दर अवसर थे। ऋत्विक्, अध्वर्यु आदि को अपने-अपने काम करने पडते थे। यज्ञ-वेदी बनाना, यज्ञ सामग्री की व्यवस्था और सजावट आदि अभिनय के समान ही रोचक बन जाते थे। सम्भवत इन मूक अभिनयपूर्ण यज्ञो से नाटक को जन्म देने की प्रेरणा प्राप्त की गई हो। अभिनय किये जाने वाले नाटको का सर्वप्रथम उल्लेख पातञ्जल महाभाष्य (३।२।१११) मे है, जहाँ कस-वध और बाली-वध नाटकों की घटनाओं तथा विभिन्न पात्रो द्वारा उनके अभिनय किये जाने का उल्लेख है। जनश्रुति के अनुसार सगीत का प्रारम्भ भी कृष्ण और गोपियो के प्रेमालाप से ही होता है। अब मुख्य-मुख्य नाटककारो और उनकी कृतियो पर विचार करना चाहिए।

भास—कितने ही प्राचीन ग्रन्थों तथा नाटककारो ने सिद्धहस्त नाटककार के रूप मे भास का उल्लेख किया है। उसके समय के बारे में बहुत-कुछ मतभेद है। उसे कालिदास के पहले मानकर ई० पू० चौथी शताब्दी का बताया जाता है। कुछ विद्वानो के मत मे कालिदास

के पश्चात् ईसा की तीसरी या चौथी शताब्दी मे उसका समय निश्चित होना चाहिए। भास के नाम से १३ नाटक प्रख्यात हुए हैं, जैसे (१) रामायण पर आश्रित—अभिषेक नाटक, प्रतिमा नाटक, (२) महाभारत पर आश्रित—दूत घटोत्कच, मध्यम व्यायोग, कर्णभार, ऊरुभङ्ग, दूत-वाक्य, पञ्चरात्र, बालचरित, (३) कथा-साहित्य पर आश्रित—स्वप्न-वासवदत्ता, प्रतिज्ञा यौगन्धरायण, अविमारक, चारुदत्त। इन नाटकों मे स्वप्नवासवदत्ता का स्थान सबसे ऊँचा है। इसमें वत्सराज उदयन और अवन्ति की वासवदत्ता की प्रेम-कहानी है। इसमे कवि ने अपना सम्पूर्ण कौशल दिखाया है।

कालिदास—कालिदास के तीन नाटक मिलते हैं—शाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय और मालविकाग्निमित्र। शाकुन्तल की वस्तु महाभारत के आदिपर्व से ली गई है। इसमे सात अङ्को मे दुष्यन्त और शकुन्तला की प्रेम-कहानी वर्णित है। इसमे नायक-नायिका का प्रेम मे पडना और गान्धर्व-प्रथा से विवाहित हो जाना, पश्चात् दुर्वासा के शाप से नायक का नायिका को भूल जाना आदि प्रसङ्गो का बहुत ही सुन्दर चित्रण किया गया है। हेमकूट पर्वत पर नायक-नायिका का पुनर्मिलन भी बहुत प्रभावशाली है। विक्रमोर्वशीय पाँच अङ्क का त्रोटक है। इसमे पुरूरवा और उर्वशी की प्रेम-कहानी वर्णित है। राक्षसो द्वारा सताई गई उर्वशी की रक्षा करने से पुरूरवा उसके प्रेम-पाश मे बँध जाता है। उर्वशी भी अपनी गलती के कारण स्वर्ग से मृत्युलोक मे आकर पुरूरवा के साथ रहती है। एक निषिद्ध वन में प्रवेश करने से वह लता बन जाती है। पुरूरवा उसके वियोग मे पागल बनकर इधर-उधर भटकता है। अन्त मे दोनो का मिलन होता है। उनका आयुस् नाम का पुत्र भी होता है। मालविकाग्निमित्र की वस्तु इतिहास से ली गई है। इसमें समाज का सुन्दर चित्र खींचा गया है। इसमे विदिशा के शुङ्गवशीय राजा अग्निमित्र (ई० पू० दूसरी शताब्दी) और उसकी रानी की दासी मालविका के प्रेम की कहानी का वर्णन है। मालविका के सौन्दर्य से

डरकर रानी उसे राजा की दृष्टि से बचाती है किन्तु राजा उसे देखकर, उससे प्रेम करने लगता है और रानी की चोरी से उससे बात करने का प्रयत्न करता है। अन्त में, यह मालूम होता है कि मालविका राजकुमारी है। तब दोनों मे विवाह हो जाता है।

शूद्रक—यह कोई राजा था जिसने मृच्छकटिक नाम का दस अङ्कों मे प्रकरण लिखा। लेखक के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है। किन्तु यह नाटक ईसा की तीसरी या चौथी शताब्दी का होना चाहिए। कुछ विद्वान् इसे ईसा की छठी शताब्दी का बताकर दण्डी को इसका लेखक मानते है। यह एक सामाजिक नाटक है, जिसमें समाज का अच्छा चित्र खींचा गया है। घटनास्थल उज्जयिनी और उसका निकटस्थ प्रदेश है। इसका नायक एक ब्राह्मण व्यापारी चारुदत्त है, जो उदारता के कारण निर्धन हो गया है। इसकी नायिका वसन्तसेना नामी धनाढ्य वेश्या है जो इस गरीब उदार ब्राह्मण से प्रेम करती है और अन्त मे उससे विवाह कर लेती है।

श्री हर्षवर्धन (ई० स० ६०६–६४७)—यह उत्तर भारत का सम्राट् था और कवियो का आश्रयदाता था। साथ ही स्वयं भी अच्छा नाटककार था। इसके लिखे तीन नाटक वर्तमान है, जैसे रत्नावली, नागानन्द, और प्रियदर्शिका। रत्नावली मे वत्सराज उदयन और रानी की दासी सागरिका की प्रेम-कहानी का वर्णन है। यह पता लगने पर कि सागरिका सिंहल द्वीप की राजकुमारी रत्नावली है, राजा का उससे विवाह हो जाता है। नागानन्द का नायक बौद्ध है और इस नाटक का वातावरण पूर्णतया बौद्ध है। प्रियदर्शिका में वत्सराज और आरण्यिका के रूप में वासवदत्ता के काका की लडकी प्रियदर्शिका की प्रेम-कहानी वर्णित है।

भवभूति—यह विदर्भ का रहने वाला एक वेदपाठी ब्राह्मण था। यह कदाचित् उज्जयिनी मे भी रहा होगा इसका आश्रयदाता कान्यकुब्ज का राजा यशोवर्मा था, जिसका समय ईसा की आठवी शताब्दी

का पूर्वार्ध है। इसके तीन नाटक मिलते है, जैसे मालतीमाधव, महावीरचरित व उत्तररामचरित। मालतीमाधव १० अङ्क का प्रकरण है। इसका घटना-स्थल उज्जयिनी है, जहाँ के राजमन्त्री की लडकी मालती उज्जयिनी मे विद्याभ्यास करने के लिए आये हुए अन्य राजमन्त्री के पुत्र माधव के प्रेम-पाश मे बँधती है। इसमे माधव के मित्र मकरन्द व राजा के किसी मित्र की पुत्री मदयन्तिका के प्रेम की भी कहानी है। मालती व माधव एक-दूसरे से मिलते है। किन्तु राजा मालती का विवाह अपने मित्र से करना चाहता है, जो उसे पसन्द नही है। विवाह के समय मकरन्द मालती बनकर उसको बचा लेता है। दो बौद्ध भिक्षुणियाँ भी नायक व नायिका को सहायता पहुँचाती हैं। इस प्रकार नायक-नायिका का विवाह हो जाता है। महावीरचरित मे सात अङ्क है। इसमे राम का जीवन-चरित वर्णित है, जिसका अन्त राम के राज्याभिषेक से होता है। उत्तररामचरित में राम द्वारा निर्वासित सीता का वाल्मीकि के आश्रम में रहना, दो पुत्रों को जन्म देना तथा राम का सीता के वियोग में दुखी होना वर्णित है। राम के अश्वमेध यज्ञ के समय अश्व की रक्षा के लिए लक्ष्मण का पुत्र भेजा जाता है। उसकी मुठभेड वाल्मीकि-आश्रम के पास लव-कुश से हो जाती है। दोनो में घमासान युद्ध होता है। अन्त मे राम के आने पर वाल्मीकि के आश्रम में सबका मिलन होता है।

भट्टनारायण—यह बङ्गाल का रहने वाला था। इसका समय ईसा की नवी शताब्दी का मध्य भाग है। इसके वेणीसहार नामक छ-अङ्की नाटक मे द्रौपदी का दुर्योधन द्वारा राज-सभा में घसीटा जाना, शत्रु के रक्त से द्रौपदी के बाल सँवारने की भीम की प्रतिज्ञा आदि का वर्णन है। यह केवल वर्णनात्मक हैं। इसमे बडे-बडे सवाद है। काव्य की दृष्टि से इसमे कोई सौन्दर्य नहीं है।

चम्पू—यो तो एक साथ गद्य-पद्य मे लिखने की परिपाटी बहुत प्राचीन है, किन्तु साहित्यिक चम्पू की प्रारम्भिक अवस्था जातकमाला

त्र हरिषेण के लेख (समुद्रगुप्त का स्तम्भलेख) मे देखी जाती है। किन्तु प्राप्य काव्य-चम्पू तो बहुत बाद के हैं। इनमे प्राचीनतम् दमयन्ती कथा या नलचम्पू है। इसका लेखक त्रिविक्रम भट्ट (ई० स० ९१५) है। इसी शताब्दी के एक दिगम्बर जैन सोमदेव ने यशस्तिलक चम्पू में यौधेय देश के राजा की कथा द्वारा मोक्ष-प्राप्ति के लिए जैन-सिद्धान्तों की उपयुक्तता बताई है। हरिचन्द्र-कृत जीवनधर चम्पू (ई० स० ९००) भी जैन-चम्पू है। भोज व लक्ष्मणभट्ट कृत रामायणचम्पू भी प्रसिद्ध है। अनन्त-कृत एक भारत चम्पू भी है। लाट देश के षोड्ढल कायस्थ ने उदय सुन्दरी कथा (ई० स० १०००) लिखी। इस प्रकार चम्पू-साहित्य थोडा है। विकसित गद्य व पद्य के सामने वह रोचक नहीं हो सका।

अलङ्कार-शास्त्र—ऋग्वेद मे उपमा, रूपक आदि अलङ्कारो का उपयोग दृष्टिगोचर होता है। उषादि के सूक्तों से ज्ञात होता है कि वैदिक काल मे संस्कृत व परिष्कृत भाषा में सुन्दर भावों का समन्वय किया जाता था। इसी से अलङ्कार-शास्त्र का श्रीगणेश होता है। भरत मुनि-कृत नाट्यशास्त्र, रुद्रदामा के शिलालेख आदि से अलङ्कारों के अस्तित्व का पता लगता है। अलङ्कारों का सर्वप्रथम शास्त्रीय उल्लेख नाट्यशास्त्र (ईसा की द्वितीय शताब्दी) के द्वितीय अध्याय मे आता है, जिसमे चार अलङ्कार, दस गुण, दस दोष व काव्य के छब्बीस लक्षण वर्णित हैं। अलङ्कार-शास्त्र के बाद के आचार्यों ने काव्य को शास्त्रीय ढङ्ग पर समझने के प्रयत्न किये। भिन्न भिन्न आचार्यों ने काव्य के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत प्रदर्शित किये, जिन्हे चार विचार-सरणियों में विभाजित किया जा सकता है, जैसे अलङ्कार, रीति रस व ध्वनि। अलङ्कार विचार-सरणी के अनुसार अलङ्कार ही काव्य का सर्वस्व है। भामह ने अलङ्कारों को व्यवस्थित करके यह मन्तव्य उपस्थित किया। उसके मतानुसार काव्य का शरीर शब्द व अर्थ का बना है, और उसे आभूषित करने वाले अलङ्कार काव्य के आवश्यकीय

अङ्ग है। उसने काव्य के रूप भेद (गद्य-पद्य) व भाषा-भेद (संस्कृत, प्राकृत, अपभ्र श) किये है। उद्‌भट रुद्रट आदि इसी विचार-सरणी के अनुयायी थे। रीति-विचार-सरणी के पुरस्कर्ता वामन ने रीति को काव्य की आत्मा कहा। इसके पहले दण्डी ने भी काव्य में रीति के महत्त्व को स्वीकार किया है। बाण, दण्डी आदि के ग्रन्थों में भी इस मन्तव्य का उल्लेख मिलता है। वामन के मतानुसार शब्द व अर्थ काव्य के शरीर हैं, तथा रीति आत्मा है, जिसे 'विशिष्टपद रचना' कहा गया है। रीति तीन प्रकार की मानी गई है—वैदर्भी, गौडी व पाञ्चाली। वैदर्भी में दसों गुण रहते है, गौडी में ओज व काति का, तथा पाचाली में माधुर्य और सौकुमार्य का आधिक्य रहता है।

जब कि अलङ्कार व रीति-विचार-सरणियाँ विकसित हो रही थी, उस समय कुछ आलङ्कारिक भारतीय नाट्य-शास्त्र में उल्लिखित रस पर अपने विचार व्यवस्थित कर रहे थे। प्रथम, अलङ्कार के रूप में रस को काव्य में स्थान मिला। रुद्रट ने सर्वप्रथम इसे काव्य के अङ्ग के रूप मे उपस्थित किया। तत्पश्चात् रस का स्थान काव्य मे महत्त्वपूर्ण बनता गया। नाट्य-शास्त्र के 'रस-निष्पत्ति'-सम्बन्धी सूत्र को समझाते हुए आचार्यों ने चार सिद्धान्त विकसित किये, जैसे (१) उत्पत्तिवाद, (२) अनुमितिवाद, (३) भोगवाद व (४) अभिव्यक्तिवाद। पहले सिद्धान्त के अनुसार नट के हृदय में रस की उत्पति होती है। दूसरे सिद्धान्त के अनुसार नायक व नट का तादात्म्य मानकर दर्शकों द्वारा रस का अनुमान किया जाता है। तीसरे सिद्धान्त के अनुसार अभिधा व भावकत्व शक्तियों द्वारा काव्य व नाटक मे रस का अनुभव होता है, जिससे भोग नामी आनन्ददायिनी कार्य-प्रणाली द्वारा आनन्द प्राप्त किया जा सकता है। चौथे सिद्धान्त के अनुसार शताब्दी की शक्तियों के द्वारा रस की अभिव्यक्ति-मात्र होती है। लोल्लट पहले सिद्धान्त के, शकुक दूसरे के, भट्ट नायक तीसरे के और अभिनवगुप्त चौथे के पुरस्कर्ता माने जाते हैं। अभिनव गुप्त ने काव्य में रस के महत्त्व को

समझकर ध्वनि से उसका सामञ्जस्य बैठाया तथा परिणामस्वरूप ध्वनि-वाद के सशक्त रहते हुए भी रस को काव्य-क्षेत्र में सर्वोच्च स्थान प्राप्त हो गया। उसने रस को परिभाषित किया और अलङ्कार शास्त्र मे उसके स्थान को स्पष्ट किया। इस प्रकार रस-सम्बन्धी सिद्धान्तों के अधूरेपन को दूर किया गया। ध्वनिकार तथा आनन्दवर्धन से एक कदम आगे बढ़कर उसने रस को काव्य का तत्त्वाश या उसकी आधारशिला मान लिया, जिसका प्रभाव भावी अलङ्कारिको पर पडे बिना नहीं रहा। इसी लिए विश्वनाथ के रसात्मक 'वाक्य काव्य' (रसपूर्ण वाक्य काव्य है) वचन सर्वमान्य हो गए। मम्मट आदि को भी रस के महत्त्व को मानना पडा। अन्त में काव्य-क्षेत्र मे 'रस-ध्वनि' के सिद्धान्त को सर्वोच्च स्थान—प्राप्त हुआ।

यों तो ध्वनि-विचार सरणी का प्रारम्भ ध्वनिकार से होता है, किन्तु ध्वनि का सिद्धान्त पहले से ही अस्तित्व में था। कदाचित् वैयाकरणो व दार्शनिकों के स्फोट आदि अस्पष्ट सिद्धान्तों से ध्वनि के सिद्धान्त को प्रेरणा मिली हो, क्योंकि ध्वनि के विकास के पहले से ही आलङ्कारिकों को स्फोट आदि का ज्ञान था। पहले, शब्दो की दो शक्तियाँ मानी गई थीं—अभिधा व लक्षणा। ध्वनिवादियो ने एक तीसरी शक्ति पर जोर दिया, जिसे व्यञ्जना कहा गया। व्यञ्जना का तात्पर्य यह है कि अभिधा व लक्षणा के निरर्थक हो जाने पर जिस शक्ति से एक गूढ़तम अर्थ का बोध होता है, वह व्यजना-शक्ति है। उस गूढ़ार्थ को व्यङ्ग्यार्थ कहते हैं। उत्कृष्ट काव्य मे व्यङ्ग्यार्थ का रहना अत्यन्त ही आवश्यक है। इसी व्यङ्ग्यार्थ को 'ध्वनि' कहा गया है। ध्वनिवादी इसे काव्य की आत्मा मानते हैं। व्यङ्ग्यार्थ के आधार पर काव्य के तीन भेद किये गए हैं—जैसे ध्वनि, गुणीभूत व्यङ्ग्य व चित्र आनन्दवर्धन के पश्चात् लगभग सब आलङ्कारिको ने ध्वनि के सिद्धान्त को मान लिया है। ध्वन्यालोक के समान अन्य किसी ग्रन्थ ने अलङ्कार शास्त्र के विकास को प्रभावित नहीं किया है। मम्मट ने अपने

काव्य-प्रकाश मे विभिन्न सिद्धान्तो का उत्तम सामञ्जस्य उपस्थित किया। उसने अलङ्कार, गुण, वृत्ति, रीति, रस, ध्वनि आदि सबको यथा योग्य स्थान दिया, किन्तु फिर भी ध्वनि का प्रभुत्व बना रहा।

नाट्य-शास्त्र—संस्कृत मे नाटक के लिए 'रूपक' शब्द प्रयुक्त किया जाता है, और उसके दस भेदों मे 'नाटक' भी एक है। धनञ्जय कृत दशरूपक (१।७) मे नाट्य रूपकादि को इस प्रकार परिभाषित किया गया है—"किसी अवस्था की अनुकृति करना नाट्य कहलाता है। उसके देखे जाने के कारण उसे 'रूप' कहते हैं। उसमे 'रूप' का समावेश होने से उसे 'रूपक' कहते है। उसका आश्रय रस है, व उसके दस प्रकार हैं।" रूपक के दस भेद हैं—नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम व्यायोग, समवकार, वीथि, अङ्क व इहामृग। नाटक की वस्तु ऐतिहासिक रहती है, और नायक उदात्त गुणो वाला रहता है। प्रकरण की वस्तु काल्पनिक रहती है तथा नायक साधारण व्यक्ति रहता है। अन्य प्रकार साधारणतया एक ही अङ्क के रहते हैं अतएव महत्त्वपूर्ण नहीं है। रूपक के तीन मुख्य अङ्ग रहते हैं—वस्तु, नेता व रस। वस्तु दो प्रकार की रहती है—आधिकारिक व प्रासङ्गिक। आधिकारिक वस्तु का सम्बन्ध नेता से रहता है। नेता इष्ट फल की सिद्धि के लिए जो-कुछ करता है, उसका समावेश इसी में होता है। प्रासङ्गिक वस्तु आधिकारिक को सहायता देती है। इसमे उन सब घटनाओं का समावेश होता है, जो अधिकारिक वस्तु को आगे बढाने मे सहायक बनती है। वस्तु के पुन प्रख्यात, उत्पाद्य, मिश्र आदि तीन भेद माने गए है। उसके विकास की दृष्टि से दो भेद और किये गए है। (१) सूच्य, (२) दृश्यश्रव्य।

नाटकीय वस्तु के सम्यक् विकास के लिए जिन कारणो की आवश्यकता होती है, उन्हे अर्थ प्रकृति कहते हैं। ये पाँच है—बीज, बिन्दु, पताका प्रकरी व कार्य। वस्तु के विकास की पाँच अवस्थाएँ भी होती हैं, आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति व फलागम। इन पाँच अर्थ-प्रकृतियों व पाँच अवस्थाओं से पाँच सन्धियाँ बनती हैं, जैसे मुख, प्रति-

मुख, गर्भ, अवमर्श व निर्वहण। नाटकीय वस्तु के विकास का उद्देश धर्म, अर्थ, काम आदि त्रिवर्ग की प्राप्ति है। नेता के लिए आवश्यक है कि वह विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियवद रक्तलोक, शुचि, वाग्मी, रूढ़वश, स्थिर व युवा हो। उसे बुद्धि, उत्साह, स्मृति, प्रज्ञा, मान आदि से युक्त रहना चाहिए, तथा शूर, दृढ, तेजस्वी, शास्त्रचक्षु व धार्मिक बनना चाहिए। नेता के चार प्रकार होते है, जैसे ललित, शान्त, उदात्त व उद्धत। पुन नेता इन चार प्रकारो मे से एक मे आता है—(१) दक्षिण—बहुत सी नायिकाओ से प्रेम करने वाला, किन्तु ज्येष्ठा से विशेष रूप से प्रेम करने वाला, (२) शठ—स्वकीया नायिका के भी विपरीत जाने वाला, (३) धृष्ट—अन्य नायिका से स्पष्ट रूप से प्रेम करने वाला, (४) अनुकूल—एकपत्निव्रती। पीठमर्द, विट, विदूषक आदि नायक के सहायक पात्र रहते है। नायक का विरोधी एक प्रतिनायक भी रहता है, जो लालची, उद्धत, उग्र, मूर्ख, अपराधी व व्यसनी रहता है। नायिका के तीन भेद है—स्वीया—नायक की पत्नी, अन्या—किसी दूसरे से सम्बन्धित, (३) साधारण स्त्री—गणिका आदि। इन नायिकाओ की आठ अवस्थाएँ रहती हैं—स्वाधीनपतिका वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितप्रिया व अभिसारिका। विभिन्न पात्रो के लिए भिन्न भिन्न भाषाओ का प्रयोग निर्धारित किया गया है। अनीच व कृतात्म पात्र सस्कृत का प्रयोग करते है। कभी-कभी महादेवी लिङ्गिनी आदि भी इसका प्रयोग कर सकती हैं। स्त्रियों के लिए प्राय प्राकृत है। अधमों के लिए शूरसेनी है। पिशाच मागध आदि अत्यन्त नीच मनुष्यो के लिए अपनी-अपनी भाषा विहित है। नाटक मे रस का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव आदि द्वारा इसका आस्वादन किया जाता है। विभाव स्थायीभाव की पुष्टि करता है तथा उसके दो प्रकार हैं—जैसे (१) आलम्बन, जिसका रस का मुख्य आधार रहता है और (२) उद्दीपन, जिससे रस के विकास मे उत्तेजना मिलती है। नेत्र, मुख

आदि द्वारा आन्तरिक भावो का प्रदर्शन अनुभाव कहाता है। स्थायी भाव के कारण शरीर व मन पर जो प्रभाव होता है, उसके चिह्नो को सात्विक या व्यभिचारी भाव कहते हैं। नाटक मे स्थायी भाव प्रधान रूप से रहता है व अन्य भावो को अपने में समाविष्ट कर लेता है। इन विभिन्न भावो की सहायता से जो रस उत्पन्न होता है, उसके आठ प्रकार है—जैसे शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स व अद्भुत। कोई-कोई शान्त और वात्सल्य रसों का भी अस्तित्व मानते हैं। इन आठ रसो के स्थायीभाव क्रमश इस प्रकार है—रति, हास शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा व विस्मय।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत में नाटक के विभिन्न अङ्ग शास्त्रीय ढङ्ग पर विकसित किये गए थे। यों तो भारतीय नाट्य-शास्त्र इस विषय का सर्वप्रथम ग्रन्थ माना जाता है, किन्तु पाणिनि की अष्टाध्यायी मे किये गए नट-सूत्रो के उल्लेख से ज्ञात होता है कि भरत मुनि के पहले भी प्राचीन आचार्यों ने इस दिशा मे प्रयत्न किया था।

१२

कला व विज्ञान

@@@@@@@@@@

(१)

कला

प्राचीन भारत की कलाओं के विकास पर धर्म का बड़ा भारी प्रभाव पड़ा है। कला के प्राचीनतम नमूनों पर धर्म की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। कला का उपयोग धर्म के तत्त्वों को समझाने के लिए किया जाता था। कला का प्रदर्शन मन्दिरों, देवताओं की मूर्तियों, पत्थर या काष्ठ पर खुदे हुए धार्मिक कथा के चित्रों आदि के द्वारा किया जाता था। भारतीय कला के इतिहास और विकास को समझने के लिए यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए। प्राचीन भारत में इन कलाओं का विशेष रूप से विकास हुआ था—वास्तुनिर्माण-कला, स्थापत्य और शिल्पकारी, चित्रकला, सङ्गीत आदि।

वास्तुनिर्माण-कला—इस कला का इतिहास वैदिक काल से प्रारम्भ होता है। ऋग्वेद में पुर (ऋ० १।१०३।३,२।२०।८,३।१२।६, ४।३२।१०), व्रज (ऋ० ५।६।७) आदि का उल्लेख आता है, जिनसे तत्कालीन किलों का बोध होता है। ऋग्वेद में घरों का भी उल्लेख आता है। वास्तोष्पति-मन्त्रों (ऋ० ७।५४,५५) में गृह देवताओं की स्तुति की गई है। ऋग्वेद में कितने ही स्थलों पर गृह (ऋ० ६।३।८, १।१२१।१,१०।१४६।३ आदि), सद्म (ऋ० ७।१८।२२), प्रसद्म

(ऋ० ८।१०।१), दीर्घ प्रसद्म (ऋ० ८।१०।१) आदि का उल्लेख आता है, जिससे स्पष्ट है कि वैदिक काल मे छोटे-से छोटे और बडे-से-बडे घर बनाये जाते थे। ये घर लकडी, मिट्टी, पत्थर या तीनो को मिलाकर बनाए जाते थे, इस सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ भी नही कहा जा सकता। इन प्रमाणो से स्पष्ट है कि वैदिक काल मे इसका ज्ञान था।

सिन्धु नदी के किनारे मोहञ्जोदडो और हडप्पा मे जो खुदाई हुई है, उससे भी इस कला के विकास का पता लगता है। सिन्धु-संस्कृति के लोग पकाई हुई बडी-बडी ईंटें बनाना जानते थे, जिनका उपयोग आज तक किया जाता है। इन ईंटो के बडे-बडे भवन बनाए जाते थे, जिनके खण्डहर खोदकर निकाले गए है। बडे-बडे स्नानागार, कमरे आबपाशी की व्यवस्था आदि के जो भग्नावषेश पाये गए हैं उनसे तत्कालीन वास्तुनिर्माण-कला के विकास का पता लगता है।

मौर्य काल के पूर्व घर आदि बहुधा ईंट या लकडी के बनाये जाते थे। आज जितनी भी प्राचीन इमारतें या उनके भग्नावशेष वर्तमान है, उनमे ई० पू० तीसरी शताब्दी के पहले की बहुत ही कम है। कुछ इमारतें ई० पू० पॉचवीं या छठी शताब्दी की हैं, जैसे प्राचीन राजगृह (कुशागारपुर) का किला तथा दीवारे—राजगृह नगर के मध्य मे गृध्रकूट पर्वत पर अशोक के आश्रम तक जाने के लिए बडी-बडी ढालदार सडकें और दस मील पूर्व मे आकगिरी पर हंसस्तूप तक जाने का भव्य मार्ग, पिपराह्वा स्तूप—यह उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले मे है और भारत की वास्तुनिर्माण-कला का प्राचीनतम नमूना है। यह गर्भचैत्य है। गौतम बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् उनकी राख उनके शिष्यो में बॉटी गई थी, जिसे छोटे-छोटे पात्रों मे रखकर जमीन में गाड दिया गया था और उस स्थान पर एक स्मारक भी खडा किया गया था। इसी प्रकार उनके जीवन की घटनाओं से सम्बन्धित स्थलो पर भी स्मारक खडे किये गए थे, जिन्हें मूलचैत्य कहते थे। राख के स्मारकों को गर्भचैत्य कहते थे।

मूलचैत्य अन्दर से खोखले नहीं रहते, जैसे कि गर्भचैत्य रहते हैं। पिपराह्वा स्तूप अशोक के सौ वर्ष पहले का होना चाहिए। बौद्धकाल के अन्य प्राचीन स्तूप भी वर्तमान हैं, जिनका ब्यौरा इस प्रकार है—मारुत स्तूप—यह मध्य भारत में सतना के पास है। मानिक्याल-स्तूप—यह काबुल और कन्धार के मार्ग पर स्थित है। शक क्षत्रप मनिबुल ने इसे बनवाया था। साँची-स्तूप—साँची (मध्य भारत) मे तीन स्तूप है। धर्मराजिका-स्तूप—यह तक्षशिला मे है। यहाँ और भी छोटे-छोटे स्तूप हैं, जो इतने महत्त्वपूर्ण नही हैं। ये स्तूप ईंटों के बने हुए विशाल रूप वाले है। इन पर आलोचनात्मक दृष्टि डालने से तत्कालीन वास्तुनिर्माण कला के विकास का पता चलता है।

स्तूपों के अतिरिक्त वास्तुनिर्माण-कला के बौद्धकाल के अन्य नमूने भी मिलते है, जो कि अधिकाश अशोक के समय के या उसके पश्चात् के हैं। बौद्ध सघ के नियमो के अनुसार भिक्षुओ के वर्षावास के लिए नए प्रकार की इमारत की आवश्यकता प्रतीत हुई और इस ओर तत्कालीन धनाढ्य लोगो ने कोई बात उठा न रखी। बौद्ध जातको से मालूम होता है कि बिम्बिसार ने इस कार्य के लिए अपना वेणु वन प्रदान किया था, तथा सेठ निधनपिण्डद ने अपना जेतवन दिया था। यह प्रथा बौद्ध-काल भर मे प्रचलित थी। इस प्रकार के बहुत से सङ्घाराम पश्चिमी घाट पर्वत की कन्दराओं मे कोरे गए। कार्लें, इलोरा, अजन्ता आदि की गुफाओ के सङ्घाराम अधिक महत्वपूर्ण और प्रसिद्ध हैं। इनमे बडे बडे दालान, विशाल कमरे आदि बने हुए है, जिनमे बौद्ध भिक्षु वर्षावास का समय बिताते थे। कार्लें की गुफाएँ ईसा के पूर्व की होनी चाहिएँ, क्योंकि उनमे मध्यवर्ती विशाल कमरे मे बौद्ध की मूर्ति नहीं है। श्री राखालदास बैनर्जी के मतानुसार इनका समय ई० पू० द्वितीय शताब्दी होना चाहिए। ईसाइयो के प्रारम्भिक गिरजे इन्ही वर्षावासा के नमूने पर बनाये गए थे। इन वर्षावासो मे भिक्षुओ के लिए अलग-अलग कमरे बनाये गए थे। स्थविरो के लिए बडे-बडे कमरे मध्य मे रहते थे,

जिन्हे विहार कहते थे। यहाँ पर भिक्षु पूजा-पाठ आदि करते थे। इसी प्रकार गुफाओ मे चैत्य बनाये जाते थे, जिनमें भिक्षु, भिक्षुणियो और गृहस्थो के पूजा-पाठ के लिए बडे-बडे कमरे रहते थे, व इन सबके आने-जाने के लिए अलग-अलग मार्ग भी रहते थे। केन्द्रीय कमरे के एक छोर पर एक स्तूप बना रहता था, जिसकी पूजा की जाती थी। बौद्धो के समान जैन और ब्राह्मण भी ऐसी गुफाएँ बनवाते थे। भारत में इस प्रकार की लगभग १२०० गुफाएँ हैं, जिनमें केवल ३०० ब्राह्मणों या जैनो की और बाकी ६०० गुफाएँ बौद्धो की हैं। इन गुफाओ का $\frac{९}{१०}$ वाँ भाग बम्बई प्रदेश में और $\frac{१}{१०}$ वाँ भाग बिहार, मद्रास, राजपूताना, पञ्जाब, अफगानिस्तान आदि मे है। अशोक (ई० पू० २७३-२३२) के समय से तो लगभग ईसा की आठवीं शताब्दी तक इन गुफाओ की शृङ्खला एक-सी चली आती है।

चैत्य गुफाओ के अतिरिक्त उस समय के बहुत से बौद्ध विहार भी वर्तमान हैं। चीनी यात्री यू एन-च्वेङ् (ईसा की ७वीं शताब्दी) ने यहाँ हजारो सङ्घाराम देखे थे, जिनमे नालन्दा का सङ्घाराम सौन्दर्य और कला की दृष्टि से सर्वोत्तम था। यहाँ प्राचीन काल का एक विहार है, जहाँ कितने ही बौद्ध भिक्षु रहा करते थे। ऐसा ही एक विहार सारनाथ मे भी है। इसी प्रकार के प्राचीन विहार बङ्गाल, बिहार, नासिक, अजन्ता, कान्हेरी, एलोरा आदि स्थानो मे भी हैं। इनमे भिक्षुओ के रहने के छोटे-छोटे कमरों की सुन्दर व्यवस्था रहती थी।

अशोक के स्तम्भ भी वास्तुनिर्माण-कला के उत्कृष्ट नमूने है। ये रेतीले पत्थर के बने हुए हैं तथा साधारणतया पचास फुट ऊँचे और पचास टन वजन के हैं। इन पर इतना अच्छा लेप लगा हुआ है कि उसके कारण वे फौलाद के बने मालूम होते हैं। आज भी वह लेप ताजा ही मालूम होता है। कदाचित् यही वराहमिहिर-कृत बृहत्संहिता (अ० ५६) में उल्लिखित हजारों वर्ष टिकने वाले 'वज्रलेप' का

नमूना हो। दक्षिण कनाडा मे स्थित जैन स्तम्भ भी विशेष उल्लेखनीय है।

प्राचीन वास्तुनिर्माण-कला के उत्तम नमूनो के रूप में कितने ही प्राचीन मन्दिर वर्तमान है, जो ईसा की छठी, सातवीं या आठवीं शताब्दी या उसके बाद के हैं। उत्तर प्रदेश के बरेली जिले मे रामनगर मे एक प्राचीन शिव मन्दिर है, जो ईसा के पूर्व या पश्चात् की प्रथम शताब्दी का माना जाता है। इतिहास मे पता चलता है कि गुप्तकाल में ब्राह्मण धर्म उत्कर्ष को पहुँच चुका था। सम्भव है कि उस समय बहुत से अच्छे-अच्छे मन्दिर बनवाए गए होंगे, किन्तु एक भी अवशिष्ट नही है। ईसा की छठी शताब्दी के पश्चात् के जो मन्दिर हैं, उनके दो विभाग किये जा सकते है—(१) उत्तर भारत के मन्दिर और (२) दक्षिण भारत के मन्दिर। इनके पुन दो-दो उपविभाग किये जाते है—उत्तर-पश्चिम व उत्तर-पूर्व के मन्दिर, दक्षिण-पश्चिम और दक्षिण पूर्व के मन्दिर। उत्तर भारत के मन्दिरो की विशेषता के बारे में डॉ० स्मिथ लिखते है कि आर्यावर्त-शैली की विशेषता यह है कि उसमे ऊपर निकली हुई गुम्मद रहती है, जिसमे पसलियों के समान ऊपर उठी हुई रेखाएँ रहती हैं। यह बाँस की बनी हुई रथ के ऊपर वाली छत की नकल है। उत्तर-पश्चिम के मन्दिरो की विशेषता यह है कि उनके शिखर सीधे रहते है, सिरे पर एक लम्बा शिखर रहता है, आस-पास बहुत से छोटे छोटे शिखर रहते है। इन मन्दिरों का मुख्य शिखर चौरस आधार पर मे चार स्थान पर ढाल बनाकर सीधा ऊपर उठता है और ऊपर के गोल पत्थर से मिल जाता है। इस प्रकार खजुराहो, नेमावर, खुर्दा, ऊन और ग्वालियर (मध्य भारत), तथा देउल (खानदेश, बम्बई प्रदेश), सिन्नर (नासिक जिला) आदि स्थानों में है। उत्तर-पूर्व के मन्दिरों की विशेषता यह है कि इनके शिखरों का आधार चतुर्भुज आकार का रहता है, किन्तु कोण अन्दर की ओर कमान बनाते हुए जाकर गोलाकार बनाते

अमरकण्टक, छत्तीसगढ़ (मध्य-प्रदेश) आदि स्थानो मे है।

पश्चिम दक्षिण (चालुक्य शैली) के मन्दिरो की विशेषता यह है कि उनमे शिखर नही रहते। उनका ऊपरी सिरा साढ़ीदार 'पिरेमिड' के समान रहता है व ऊपर एक ठोस गुम्मद रहती है। इस प्रकार के मन्दिर बदामी (कर्नाटक), तन्जौर (सुब्रह्मण्यम् का मन्दिर), काञ्ची (मुक्तेश्वर का मन्दिर) आदि के है। दक्षिण पूर्व के मन्दिरो को 'गोपुर वाले मन्दिर' कहते हैं। इनके शिखर का ऊपरी भाग गोल या चौरस रहने के बदले लम्बे व गोल किनारो का रहता है। मदुरा मे मीनाक्षी का मन्दिर, मद्रास मे वेदगिरीश्वर का मन्दिर, त्रिचनापल्ली में तिरुचिन्न पतिराय का मन्दिर व तन्जौर मे राजराजेश्वर का मन्दिर इसी श्रेणी के हैं।

इन मन्दिरो के अतिरिक्त काश्मीर का मार्तण्ड-मन्दिर नेपाल के मन्दिर तथा गुजरात व आबू पर्वत के जैन मन्दिर, जिनमें से दो सगमरमर के बने हुए हैं, अपनी-अपनी विशेषताओ से परिपूर्ण हैं, व कला की दृष्टि से सुन्दर है।

स्थापत्य, शिल्पकारी आदि—स्थापत्य, शिल्पकारी आदि के बारे मे वैदिक काल का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता, किन्तु यजुर्वेद (३०।६-७, ११, १७, २०) मे मणिकार, सुवर्णकार आदि का उल्लेख आता है, उसके सहारे कहा जा सकता है कि कदाचित् शिल्प-कारी का ज्ञान उस समय रहा हो। क्योंकि गहने पहनने की भावना में ही कला की भावना भरी हुई है। मोहन्जोदडो व हडप्पा से यक्ष, पृथ्वी, पशुपति आदि की छोटी-छोटी सुन्दर मूर्तियाँ मिट्टी के छोटे-बड़े बरतन, खिलौने, सोने आदि के छोटे-छोटे फूल इत्यादि कला के सुन्दर नमूने प्राप्त हुए हैं। मौर्य काल से स्थापत्यादि कला के विकास का स्पष्ट पता चलता है। इस काल की कला के अच्छे अच्छे नमूने आज भी वर्तमान हैं। अशोक के स्तम्भो व उनके ऊपर के लेप से उत्कृष्ट कला का ज्ञान होता है। सारनाथ (बनारस) मे जो अशोक का स्तम्भ

है, उसके ऊपरी छोर पर एक ही ओर पीठ किये हुए चार सिंहों की मूर्तियाँ है, जो अब सारनाथ के संग्रहालय में रखी गई हैं व जिनका चित्र स्वतन्त्र भारत ने अपनी राज-मुद्रा के लिए अपनाया है। ये मूर्तियाँ इतनी अच्छी व सजीवतापूर्ण हैं कि देखने मे मालूम होता है कि साक्षात् सिंह ही बैठे हो। डॉ० स्मिथ का तो कहना है कि इतनी अच्छी मूर्ति बनाने की कला का ज्ञान भारत के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं दिखाई देता। इस समय की और भी अच्छी-अच्छी मूर्तियाँ उपलब्ध हैं। बेसनगर (मध्य भारत) में स्त्री की दो बडी-बडी मूर्तियाँ मिली हैं, जो बिलकुल सजीव मालूम होती हैं। परखम से प्राप्त मूर्ति, जो आजकल मथुरा के संग्रहालय में है, इस काल के कुछ पूर्व की कला का नमूना है। ऐसी ही मूर्तियाँ साँची से भी प्राप्त हुई हैं।

मूर्तियो के अतिरिक्त, बौद्ध स्तूपों की पथरीली चहारदीवारी व उसमे बने हुए तोरणों पर खुदे हुए चित्रों की उत्कृष्ट कला से उस समय के कलाविदों के कौशल का पता चलता है। भारूत-स्तूप (ई० पू० दूसरी शताब्दी) की चहारदीवारी व तोरणों पर गौतम बुद्ध के जीवन की घटनाएँ तथा जातकों की कथाएँ चित्र रूप में अङ्कित की गई हैं। एक स्थान पर नागजातक का वर्णन चित्रित है व दूसरे स्थान पर बुद्ध की माता मायादेवी का स्वप्न चित्रित किया गया है। तीसरे स्थान पर श्रावस्ती के जेतवन का चित्र है जिसमें भूमि, वृक्ष व विभिन्न स्थल व अनाथपिण्डक का सिक्कों से लदी बैलगाड़ी खाली करना चित्रित किया गया है। इसी प्रकार अजातशत्रु व प्रसेनजित् का एक बडे जुलूस मे बुद्ध से मिलना अङ्कित है। ऐसी कला बौद्ध गया के मन्दिर की चहार-दीवारी व स्तम्भों पर भी अङ्कित की गई है। साँची के स्तूपों की चहार दीवारी के तोरणों पर की गई कारीगरी मे इस कला के सौन्दर्य की चरम सीमा होती है। इन तोरणों पर बौद्ध देवलोक, बिम्बिसार का बुद्ध के दर्शनो के लिए दरबारियों के साथ राजगृह से निकलना, निर-ञ्जना नदी के पूर में बुद्ध को डूबने से बचाने के लिए शिष्यों सहित

काश्यप का नाव मे बैठकर शीघ्रता से जाना, बुद्ध का पानी की सतह पर से चलकर आना आदि का बहुत ही सुन्दरता से अङ्कन किया गया है ।

शुङ्गकाल के पश्चात् इस कला के विकास के तीन विभिन्न प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं, जैसे गान्धार-कला, मथुरा-कला व अमरावती (कृष्णा नदी के किनारे)-कला । जब बैक्ट्रिया के यूनानियों ने अफगानिस्तान व पञ्जाब को जीता, तब वे अपने साथ अपनी कला को भी ले आए । यह विदेशी कला स्थानीय वातावरण मे पुष्पित व पल्लवित होकर आस-पास फैलने लगी । बैक्ट्रिया की कला से प्रभावित पश्चिमोत्तर भारत की कला को गान्धार-कला कहते हैं । प्रारम्भ मे भारत मे रहने वाले यूनानियो ने अपने कलाकारों द्वारा मूर्तियाँ, तथा मन्दिर आदि बनवाये । समय के प्रवाह से सब यूनानी बौद्ध या हिन्दू बन गए । इन यूनानी भारतीय कलाकारों ने सर्वप्रथम बुद्ध की मूति बनाना प्रारम्भ किया । ये मूर्तियाँ कला की दृष्टि से बहुत ही सुन्दर हैं । इन पर पत्थर मे कपडे के जो मोड बनाये गए हैं वे बिलकुल नैसर्गिक है । ये कलाकार बुद्ध की जीवन-घटनाओ व जातक-कथाओं को पत्थर पर अङ्कित करने लगे । कुशान-सम्राटों ने भी इस कला को अपनाया । कनिष्क के तीसरे वर्ष की बोधिसत्त्व को मूर्ति से भी, जो सारनाथ (बनारस) में मिली है, कला की उत्कृष्टता का पता चलता है । कनिष्क के राजत्वकाल मे गान्धार के यूनानी कलाविदों ने मथुरा की मौलिक कला को सुधारा और यही सुधरी हुई कला मथुरा-कला के नाम से विख्यात हो गई । मथुरा-कला द्वारा गान्धार-कला ने भारत की विभिन्न कला-शैलियों को प्रभावित किया था । परखाम की मूर्ति व सारनाथ में बोधिसत्व की मूर्ति यूनानियो द्वारा परिष्कृत किये जाने के पूर्व की मथुरा-कला के नमूने हैं । यूनानी कलाकारों ने मथुरा की कला को इस प्रकार सुधारा कि गान्धार की मूर्तियों के ठीक समान मूर्तियाँ मथुरा में भी बनाई जाने लगीं । उन्होंने यूनानी वेश-भूषा का समावेश इसमें करा दिया ।

यहाँ बुद्ध-चरित भी नये ढङ्ग पर चित्रित किया जाने लगा। हिन्दू व जैनियो की पुरानी-से-पुरानी मूर्तियाँ, जो आज उपलब्ध हैं, सब मथुरा के कलाकारो द्वारा ही बनाई गई हैं। शिव की सबसे पुरानी मूर्ति मथुरा में मिली है व कुशान-काल की बनी हुई है। सूर्य की भी सबसे पुरानी मूर्ति यहीं से मिली है, जो कुशान-काल की है। इसमे सूर्य के रथ में सात के बदले चार ही घोडे जुते हुए हैं। मथुरा के पास माट नामी स्थान मे प्राचीन काल मे एक सग्रहालय था, जिसमे राजाओं व विख्यात व्यक्तियो की मूर्तियाँ इकट्ठी की गई थी। इस संग्रह मे कनिष्क, विम केडफिसा, चष्टन आदि की मूतियाँ प्राप्त हुई हैं। इन मूतियो पर राजाओं के नाम खुदे हुए है।

जैन मूर्ति-शास्त्र का प्रारम्भ भी मथुरा-काल से होता है। प्राचीन जैन मूतियाँ पत्थर के बडे-बडे टुकडों पर पाई जाती हैं, जिन्हें, 'आयाग-पट्ट' कहा जाता था। ऐसे बहुत से 'आयागपट्ट' मथुरा मे पाए जाते हैं, जिनमें से बहुतेरो पर जैन-स्तूप का चित्र खुदा हुआ है। ऐसे बहुत से टुकडों पर तीर्थंकरों के नाम खुदे हुए हैं, ऋषभदेव, पार्श्व और महावीर के नाम बहुतायत से पाए जाते हैं। ये पत्थर के टुकडे मूर्तियों के नीचे के भाग में लगे होंगे। इन प्राचीन जैन मूर्तियो में आधुनिक मूतियों के समान वृक्ष, यक्ष, लाञ्छन, वाहन, शासनदेवी आदि नहीं दिखाई देते।

मथुरा-कला कुशान-साम्राज्य के पतन-काल तक वर्तमान रही। बाद मे गुप्तों के काल में इसका पुनरुत्थान किया गया। इसने दक्षिण भारत के दो स्थानों (देनुबुलपादम् और अमरावती) की कला पर गान्धार-कला का प्रभाव डाला। यद्यपि अमरावती की कला में विदेशी प्रभाव के कुछ चिह्न पाए जाते हैं, तथापि वह पूर्णतया भारतीय है। यहाँ पर भी बौद्ध-स्तूप और बौद्ध मूर्तियाँ पाई गई हैं। गुप्तकाल मे भी इस कला का अच्छा विकास हुआ था। इस काल के कला के नमूने ईसा की ५वीं शताब्दी से प्रारम्भ होते हैं। बेसनगर (मध्यभारत) के

पास उदयगिरि-गुफाओ मे अच्छी शिल्पकारी की गई है। यहाँ पर नदी-देवता की जो मूर्ति है, वह विशेष उल्लेखनीय है। दिल्ली के पास ढले हुए लोहे का एक स्तम्भ है, जो इसी काल का है। इस समय के बने बहुत से पत्थर के स्तम्भ भी मिले हैं, जो अशोक के स्तम्भो के समान हैं। गुप्तकाल के पश्चात् भी इस काल का विकास होता रहा। पश्चिमी और दक्षिणी भारत में इसके अच्छे नमूने मिलते है। अजन्ता, बाक, इलोरा आदि की गुफाओं मे पत्थर को खोदकर जो काम किया गया है, वह सचमुच ही सराहनीय है। मुस्लिम आक्रमणों के पश्चात् भारतीय कला का विकास रुक गया और एक प्रकार से उसका अन्त हो गया।

चित्रकला—भारत की चित्रकला का इतिहास बहुत ही प्राचीन है। मध्यप्रदेश की अनेक गुफाओं में प्रागैतिहासिक लोगों के बनाये हुए चित्र मिलते हैं। सरगुजा में कई जगह ऐसे चित्र प्राप्त हुए है। उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले में भी कई गुफाओ में जगली जानवरो और शिकार के चित्र मिले हैं। प्राचीन भारत मे ऐतिहासिक काल में भी चित्रकला का अच्छा विकास हुआ था। बौद्धजातक, रामायण, भास तथा कालिदास के नाटक, महावश आदि मे इस कला की लोकप्रियता का स्पष्ट उल्लेख है। भारत मे आये हुए चीनी यात्रियों ने भी इस कला का उल्लेख किया है। भवभूति के उत्तर रामचरित के प्रथम अङ्क में अर्जुन चित्रकार द्वारा बनाये गए राम के वनवास-सम्बन्धी चित्रों को देखकर सीता ऐसी विह्वल हो जाती है कि राम को स्मरण दिलाना पडता है कि वह सब चित्र मे है। जैन-ग्रन्थ नायधम्मकथा में एक मनोरञ्जक आख्यायिका है। मिथिला-नरेश कुम्भराज के पुत्र मल्लदिन्न ने अपने लिए सुन्दर चित्रशाला बनवाई। उसकी दीवारों पर एक चित्रकार ने राजकुमारी मल्लिका का केवल अँगूठा देखकर उसका पूरा और सच्चा चित्र खींच दिया। राजकुमार ने जब अपनी बडी बहन का चित्र चित्रशाला मे देखा, तब उसके मन में चित्रकार तथा राजकुमारी के सम्बन्ध में संशय उत्पन्न हुआ, और चित्रकार को प्राणदण्ड की आज्ञा दी गई।

परन्तु जब उसे ज्ञात हुआ कि भित्तिचित्र केवल चित्रकार की अनुपम कारीगरी का परिणाम है, तब उसकी कूँची, रंगों की डिबिया आदि तोड़ फोडकर उसे हमेशा के लिए निर्वासित कर दिया। प्रासादों एव चैत्यों के भित्तिचित्रों का एक रोचक वर्णन रामचन्द्रगणी-कृत कुमार विहारशतक में मिलता है। गुजरात के राजा कुमारपाल के बनाए जैन चैत्य का इसमें सुन्दर वर्णन है। एक स्थान पर लिखा है कि चित्र-शालाओं की दीवारें ऐसी रम्य और दर्पण-सी बनी हैं कि एक तरफ के बने हुए चित्र सामने की दीवारों पर प्रतिबिम्बित होते हैं।

प्राचीन चित्रों के अवशेष के आलोचनात्मक अध्ययन से चित्रकला के आश्चर्यजनक विकास का पता लगता है। इसके सबसे प्राचीन नमूने रामगढ़ पर्वत (बिहार) की जोगीमारा गुफा के चित्र हैं। इनका समय ई० पू० पहली और दूसरी शताब्दी बताया जाता है। इसके पश्चात् इस कला का उत्कृष्ट नमूना अजन्ता की गुफाओं के सुन्दर चित्रों में है। ये चित्र ई० स० ५० से लेकर ई० स० ६४२ तक के हैं। इस प्रकार इन गुफाओं में लगभग छ सौ या सात सौ वर्ष तक के इस कला के लगा-तार विकास के नमूने वर्तमान हैं। इटली के पॉम्पीआई नगर के अति-रिक्त दुनिया मे और कहीं प्राचीन चित्रकला की इतनी सौन्दर्ययुक्त सामग्री नहीं है। इन चित्रों में अधिकांश का साँची की शिल्पकारी से घनिष्ठ सम्बन्ध दीखता है, इसलिए ये बहुत पुराने होने चाहिएँ। इनके अतिरिक्त बाघ (मालवा), एलोरा, सित्तन्नवासल, तन्जौर, काँची (दक्षिण भारत) आदि के मन्दिरों मे भित्तिचित्र अभी तक वर्तमान हैं, जो कि ईसा की छठी या सातवी शताब्दी के बाद के हैं।

प्राचीन काल में चित्रकला को लोकप्रिय बनाने के लिए और उसे प्रोत्साहन प्रदान करने के लिए चित्रशालाओं का आयोजन किया गया था। चित्रशाला में सभी श्रेणी के लोगों के मनोरञ्जनार्थ सामग्री उप-स्थित रहती थी। ये चित्र मस्त हाथियों से बालकों को, वानर, ऊँट व रथों से ग्रामीणों को, देवचरित्रालेखन से भक्तजनों को, इन्द्र के अन्त -

पुरवासियो के चित्रो से रानियो को, नाना प्रकार के नाटको से नटो को, देवासुर-सग्राम से वीरो को आनन्दित करते थे। बौद्ध जातको मे भी चित्ररचना के सम्बन्ध मे ऐसे ही उल्लेख मिलते हैं। चित्रकला भारतीय सस्कृति का प्रधान अङ्ग थी। कविता और सङ्गीत के समान उसे सर्वत्र स्थान प्राप्त था। किन्तु अजन्ता के प्रासाद-मन्दिरों को छोडकर प्राचीन भारत के भित्तिचित्र के अवशेष प्राय नहीं जैसे हैं।

चित्रकला-सम्बन्धी शास्त्रीय साहित्य भी प्राचीन काल मे अवश्य रहा होगा। इस प्रकार का कुछ साहित्य आज भी उपलब्ध है। भारतीय नाट्यशास्त्र में इसका कुछ वर्णन है। किन्तु विष्णुधर्मोत्तर पुराण के प्रसिद्ध अध्याय चित्र-सूत्र मे इसका विस्तृत उल्लेख है। ई० स० ११२६ मे चालुक्य वश के राजा सोमेश्वर ने अभिलषितार्थ चिन्तामणि या मानसोल्लास नाम का ग्रन्थ लिखा, जिसमें चित्रकला का विवेचन किया गया है। सोमेश्वर अपने को चित्रविद्या-विरञ्चि कहता है। उसके मतानुसार चित्र चार प्रकार के होते हैं। पहला प्रकार विद्धचित्र है, जिसमे वस्तु का साक्षात्कार होता है या उसकी साक्षात् प्रतिकृति होती है, परन्तु इस सादृश्य का अनुभव चित्रकार अपने मन से करता है। दूसरा प्रकार अविद्धचित्र कहलाता है, जिसका विधान आकस्मिक कल्पना से ही होता है। अविद्धचित्रों के प्रमाण उनके आकार-रचना मे ही होते हैं। रसचित्र तीसरा और धूलिचित्र चौथा प्रकार है। केरल-निवासी श्री कुमार-कृत शिल्परत्न नामक ग्रन्थ मे भी इस कला का विवेचन किया गया है। यह ग्रन्थ प्राचीन परम्परा के आधार पर बना हुआ है। इसका समय ईसा की १६वी शताब्दी है।

सङ्गीत कला—इसका प्रारम्भ भी अत्यन्त ही प्राचीन काल से हुआ है। प्राचीन गन्धर्व और किन्नर इस कला में निपुण थे। प्राचीन दन्तकथाओं के अनुसार इसका विकास गन्धर्वों द्वारा हुआ। इसलिए इसे गन्धर्व-विद्या और इसके ग्रन्थ को गन्धर्व-वेद कहा गया है। ऋग्वेद में तीन प्रकार के वाद्यों का उल्लेख है, जैसे दुन्दुभि, वाण (बाँसुरी)

और वीणा। वाण के मधुर शब्द का यम के निवास-स्थान में सुनाई देने का उल्लेख भी ऋग्वेद मे है। कितने ही स्थलों पर सामन का भी उल्लेख आया है। सामवेद का गाया जाना तो लोक प्रसिद्ध है। ऋग्वेद काल में सामगान लोगों को पूर्णतया ज्ञात था। यजुर्वेद (३०।६-७, ११।१७।२०) में भिन्न-भिन्न व्यवसायों के साथ में वीणा, बाँसुरी, शङ्ख आदि बजाने वालों का स्पष्ट उल्लेख है। इस प्रकार सगीत-कला का उत्तरोत्तर विकास होता ही गया, जिसका उल्लेख रामायण, महाभारत, पुराण आदि ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर आता है। लव-कुश द्वारा रामायण का गाया जाना, पातञ्जल महाभाष्य में कुशीलवों और उनके गीतों का उल्लेख तथा पाण्डवों के अज्ञातवास के समय अर्जुन का बृहन्नला बनकर राजा विराट के यहाँ राजकुमारी को नृत्य, गायन आदि सिखाने का उल्लेख, नाट्य और सङ्गीत का घनिष्ठ सम्बन्ध आदि सङ्गीत कला के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

प्राचीन काल में राजा व धनाढ्य लोग इस कला के विशेष प्रेमी थे। गुप्तसम्राट् समुद्रगुप्त स्वत सिद्धहस्त गवैया था, जिसने नारद व तुम्बुरु को भी नीचा दिखा दिया था। वह सिक्कों पर वीणा बजाते हुए अङ्कित किया गया है। प्राचीन सस्कृत साहित्य में ऐसे कितने ही प्रमाण मिलते हैं, जिनसे राजा की छत्रछाया में सङ्गीत के विकास का पता लगता है।

इस कला का शास्त्रीय ढग पर वर्णन सवप्रथम भरतमुनि-कृत नाट्यशास्त्र में मिलता है। भामह आदि आलङ्कारिकों ने भी अपने अलङ्कार ग्रन्थों में इसका कुछ-कुछ वर्णन किया है। इस सम्बन्ध का महत्त्वपूर्ण साहित्य इस प्रकार है—भारतीय नाट्यशास्त्र, भामह-कृत अलङ्कारशास्त्र, मतङ्ग-कृत बृहद्देशी, कल्लिनाथ-कृत सङ्गीत-रत्नाकर, रागविबोध, सङ्गीत-परिजात, सङ्गीत-दर्पण। इन ग्रन्थों में इस कला का शास्त्रीय वर्णन किया गया है। प्राचीन सङ्गीत-कला के मूल तत्त्व श्रुति, जाति, ग्राम, राग आदि थे। आधुनिक सङ्गीत कला इन तत्त्वों

पर नही बनी। वह तो देशी राग-रागिनियों पर बनी है, जो बाद के गवैयो ने भिन्न-भिन्न समय पर बनाए थे। मुख्य राग छ है, जो भिन्न भिन्न समय गाये जाते है। जैसे हिन्दौल, श्रीराग, माघमल्लार, दीपक, भैरव व मालकौस। इनसे सम्बन्धित ३६ रागिनियाँ हैं। फिर उनके भी बहुत से भेद-उपभेद है जिनकी गिनती करना भी मुश्किल है। आधुनिक सङ्गीत-कला के शास्त्रीय विकास का श्रेय गत चार सौ वर्ष के गवैयों को मिलना चाहिए। उत्तर भारत के नामी गवैयो मे एक प्राचीन दन्तकथा प्रचलित है कि यथार्थ में सङ्गीत विद्या के चौदह प्रकार है, जिनमे इसका वर्तमान स्वरूप भी एक है। वर्तमान शैली का आधार हनुमान के सिद्धान्त हैं। अन्य ग्रन्थों में भी इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि हनुमान इस शास्त्र के प्राचीन लेखकों में से थे। सङ्गीत-रत्नाकर, सङ्गीत-पारिजात सङ्गीत-दर्पण, राग-विबोध आदि मे हनुमान को गान्धर्व विद्या का लेखक कहा गया है एक और स्थान पर उसके ग्रन्थ के कुछ उद्धरण भी दिये गए हैं।

अन्य विद्याओं के समान सङ्गीत विद्या ने भी विदेशो को प्रभावित किया था। यह विद्या भारत से ईरान, अरब आदि देशों में होती हुई ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी तक यूरोप पहुँच गई थी। अत्यन्त प्राचीन काल मे भी इसके यूनान पहुँचने के प्रमाण मिलते हैं। स्ट्रोबो के कथन से मालूम होता है कि प्राचीन यूनानी स्वत इस बात को स्वीकार करते थे कि उनकी गायन विद्या भारत की देन है। भारत के वीणा, बाँसुरी आदि वाद्यो का भी यूरोप मे प्रचार हुआ था। वर्तमान भारतीय सङ्गीत-कला के समान शास्त्रीय ढङ्ग पर विकसित किसी अन्य देश की कला नहीं है।

नृत्यकला—नृत्यकला का उल्लेख प्राचीन सस्कृत-साहित्य में आता है। ऋग्वेद (१।६२।४,६।२६।३) मे नृत्यकला प्रवीण स्त्रियों का उल्लेख है, जो अपनी विशेष पोशाक में सज-धजकर नृत्य करती हैं। उसमें यह भी कहा गया है कि उषा चमकीले वस्त्र धारण करके प्राची

दिशा मे नर्तकी के समान दिखाई देती है। पुरुष सुवर्ण आदि के आभूषणों से सुसज्जित होकर युद्ध-सम्बन्धी नृत्य का प्रदर्शन करते थे। यजुर्वेद (३०।२१) मे 'वशनर्तिन्' का उल्लेख है, जो बाँस पर नाचा करता था। रामायण में लिखा है कि अयोध्या मे नृत्य और गीत रात-दिन हुआ करते थे। राजा लोग इन्हीं से सोते और जागते थे। वानर-राज बालि के यहाँ अन्त पुर मे रानियो के मनोरञ्जनार्थ इस कला का प्रदर्शन किया जाता था। एक नृत्य-कला-निष्णात नर्तकी ने अपनी कला-पटुता से रावण को मोह लिया था। महाभारत में राजा विराट के यहाँ अर्जुन का बृहन्नला के रूप मे राजकुमारी को नृत्यकला सिखाना उल्लिखित है। बौद्ध-साहित्य से ज्ञात होता था कि बौद्ध भिक्षु नृत्यादि के प्रदर्शन में सम्मिलित नहीं हो सकते थे। कालिदास के मालविकाग्निमित्र में लिखा है कि राजभवन में नृत्यशाला भी रहती थी। उसमें दो नाट्याचार्यों का उल्लेख है, जो मालविका आदि को नृत्य, सगीत अभिनय आदि सिखाते थे। इस नाटक मे उद्धत, लास्य आदि नृत्य के भेदों को क्रमश शिव और पार्वती से सम्बन्धित किया गया है।

नृत्य-कला के सम्बन्ध मे सबसे प्राचीन ग्रन्थ भरत मुनि का नाट्य-शास्त्र है। भरत मुनि ने सगीत, नृत्य, नाट्य आदि ललित कलाओ के अङ्ग-प्रत्यङ्ग पर अच्छा प्रकाश डाला है। इसके पश्चात् शार्ङ्गदेव ने अपने ग्रन्थ रत्नाकर में नृत्य का विस्तृत विवेचन किया है। इन ग्रन्थों से नृत्य के प्रकार आदि के विषय में मनोरञ्जक बातें मालूम होती हैं। इनमें कहा गया है कि ताण्डव-नृत्य का एक प्रकार है जिसके पुरस्कर्ता शिव थे। शिव ने अपने शिष्य को इसका ज्ञान दिया और उसने भरत मुनि को। शिव का सच्चा ताण्डव तो महाप्रलय के समय होता है, जब कि विश्व का विनाश प्रारम्भ होता है। पतञ्जलि और व्याघ्रपाद ऋषि की प्रार्थना से शिव ने 'आनन्द-ताण्डव' का प्रदर्शन किया था। उस समय चतुर्मुखी ब्रह्मा ताल देते थे, महाविष्णु मृदङ्ग बजाते थे, तथा तुम्बरु व नारद साथ-साथ गाते थे। इस कला का दूसरा प्रकार नृत्त है, जो कि

विशुद्ध और सरल नर्तन-मात्र ही है। इसमें भावभंगी, भाषा आदि का समावेश नहीं होता। उसका तीसरा प्रकार लास्य है, जिसका सम्बन्ध स्त्रियों से है। इसीलिए इसको पार्वती ने अपनाया था।

सास्कृतिक विकास की दृष्टि से भी इस कला का बहुत महत्त्व था। इसका सस्कारितापूर्ण विकास राजाओं और धनाढ्यों के आश्रय में हुआ। प्राचीन भारत में इस कला को सामाजिक क्षेत्र में भी अपनाया गया था। मनोरञ्जन के विशिष्ट अवसरों पर समाज के स्त्री-पुरुष भी सामूहिक या वैयक्तिक रूप से नृत्य-कला का प्रदर्शन करते थे। गुजरात का 'गर्बा' नृत्य आज भी कला की दृष्टि से उत्कृष्ट माना जाता है। मलाबार के 'कथकली', 'चाक्यारकूत्त' आदि व 'मणिपुर नृत्य' आज भी इस कला के उत्कृष्ट नमूने माने जाते हैं। धर्म का क्षेत्र भी इस कला के प्रभाव से न बच सका। कृष्ण और गोपियों की रास-क्रीड़ा के रूप मे इसकी उपयोगिता और लोकप्रियता बढ़ने लगी। भक्ति-स्रोत मे नृत्य का स्रोत भी मिल गया और ये दोनो सम्पूर्ण भारत में बह निकले। मीरा, तुकाराम आदि भक्तों के जीवन मे भी ये दोनों धाराएँ दृष्टिगोचर होती हैं। आज भी इन धाराओं को कथा, कीर्तन, भजन आदि में देखा जा सकता है। दक्षिण भारत के मन्दिरों की देवदासियों ने भी 'भारत नाट्यम्' आदि के रूप में इस कला को रक्षित रखने का कुछ कम प्रयत्न नहीं किया है।

(२)

विज्ञान

प्राचीन भारत में गणित, ज्योतिष, भौतिक शास्त्र, रसायन-शास्त्र, वनस्पति-शास्त्र, प्राणि-शास्त्र, भूगर्भ-शास्त्र आयुर्वेद आदि का पर्याप्त विकास किया गया था। ऋग्वेद के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि इन शास्त्रों के मूल तत्त्वों का ज्ञान वैदिक काल में भी था। आगे

भी ये शास्त्र उत्तरोत्तर वृद्धि ही करते गए, जिससे भारतीय संस्कृति के सर्वाङ्गीण विकास में अच्छी सहायता प्राप्त हुई।

गणित—अङ्कगणित का प्रारम्भ वैदिक काल से ही होता है। उस समय छोटी-से-छोटी और बडी-से-बडी सख्या गिनने की विधि ज्ञात थी। यजुर्वेद (१७।२) मे इन सख्याओं का उल्लेख है—एक, दश, शत, सहस्र, अयुत, नियुत, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, समुद्र, मध्यम, अन्त व परार्ध। इस (यजु० १८।२५) मे दो और चार के पहाडे का भी स्पष्ट उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि जोड, घटाना, गुणन, भाजन आदि अङ्कगणित के मौलिक तत्त्व वैदिक काल में पूर्णतया ज्ञात थे। शतपथ ब्राह्मण के अग्नि-चयन प्रकरण मे ऋग्वेद के सब अक्षरों की सख्या ४,३२००० दी है। इसी प्रकार, अन्य वदों के अक्षरों की गणना भी की गई है। वैदिक काल के पश्चात् भी अङ्कगणित का विकास होता रहा। गणित की 'सशून्य दशाश गणनाविधि' का आविष्कार भारतीय गणितज्ञो ने ही किया, जिसके लिए समस्त विश्व सदैव उनका ऋणी रहेगा। ई० स० ४०० तक के किसी शिलालेख मे इसका प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता। आर्यभट (ई० स० ४७६) को इस गणनाविधि का ज्ञान अवश्य था, क्योंकि उसने वर्गमूल और घनमूल निकालने की विधि का वर्णन किया है। वराहमिहिर (ईसा की छठी या सातवी शताब्दी) को इसका ज्ञान था, क्योंकि उसने ३७५० सख्या को 'ख-बाण अद्रि-रामा' लिखा है। बाई ओर से गिनने से राम ३ का, अद्रि ७ का, बाण ५ का व ख अर्थात् आकाश शून्य का सूचक है। ब्रह्मगुप्त (ई० स० ६२४), श्रीधर (ई० स० १०००), पद्मनाथ (ई० स० १११४) आदि के ग्रन्थों को पढने से मालूम होता है कि उन्हें इस विधि का ज्ञान था। ई० स० ५९५ वर्ष के सनखेडा-लेख मे कालचुरी सवत् ३४६ पहले शब्दों में लिखा गया है और फिर अङ्कों में, जिससे उक्त विधि के ज्ञान का अस्तित्व स्पष्ट हो जाता है। पजाब के बक्खली गाँव में ईसा की तीसरी या चौथी शताब्दी का अङ्कगणित-सम्बन्धी एक हस्तलिखित

ग्रन्थ प्राप्त हुआ है, जिसमें उक्त विधि का उपयोग किया गया है। ईसा की १०वी शताब्दी के पश्चात् सब शिलालेखों मे इस विधि का उप-योग किया गया है। अरबों ने इस विधि को भारतीयों से सीखकर ईसा की १२वी शताब्दी में इसका प्रचार विश्व में किया।

रेखागणित का प्रारम्भ भी वैदिक काल से होता है। इसके विकास का सम्बन्ध यज्ञो से है। यज्ञों की वेदियाँ व उनकी ईंटें निश्चित आकार की रहती थी। इस प्रकार रेखागणित का विकास हुआ। यज्ञ-वेदी आदि से सम्बन्धित मन्त्रों मे प्रभा, प्रतिमा, निदान, परिधि, छन्द (ऋ० १०।१३२।३) आदि रेखागणित के पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख है। शुल्व-सूत्र (बौधायन, कात्यायन और आपस्तम्ब) भारतीय रेखागणित से सम्बन्धित प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। इन सूत्रों के लिए ई० पू० ५०० के लगभग का समय सरलता से निश्चित किया जा सकता है। इनमें यज्ञ की वेदी के आकार, नाप आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है। इनमें कोण, त्रिकोण आदि नापने की रीति समझाई गई है। इनके समय मे वर्ग, त्रिकोण, वृत्त, विभिन्न कोण आदि बनाने के नियम विकसित कर लिये गए थे। इनमे वर्णित रेखागणित के कुछ सिद्धान्त इस प्रकार हैं—(१) कुछ समीकरण, जैसे $३^२ + ४^२ = ५^२$, $५^२ + १२^२ = १३^२$, $१५^२ + २०^२ = २५^२$ आदि, (२) चतुर्भुज के बराबर क्षेत्रफल वाला वर्ग बनाने की विधि, (३) वर्ग के क्षेत्रफल के लगभग बराबर क्षेत्रफल वाला वृत्त बनाने की विधि, (४) $\sqrt{२} = १ + \frac{१}{३} + \frac{१}{३} \times ४ - \frac{१}{३} \times ४ \times ३४$ (बौधायन शुल्व० १।६१-६२, आप-स्तम्ब शुल्व० १।६, कात्यायन शुल्व० २।१३), (५) किन्हीं दो वर्गों के क्षेत्रफल के बराबर क्षेत्रफल वाला वर्ग बनाने की विधि, (६) किन्हीं दो वर्गों के क्षेत्रफल के अन्तर के बराबर क्षेत्रफल वाला वर्ग बनाने की विधि, (७) बौधायन शुल्वसूत्र के अनुसार यदि अ एक वर्ग की भुजा हो व ड एक वृत्त का व्यास हो जिसका क्षेत्रफल $अ^२$ माना गया है तो

$$\text{अ} = \text{ड} \left(१ - \frac{१}{८} + \frac{१}{८ \times २९} - \frac{१}{८ \times २९ \times ६} + \frac{१}{८ \times २९ \times ६८ \times ८}\right),$$

अर्थात् $\frac{\text{अ}}{\text{ड}} > \frac{१२२४}{१३९४}$। इन शुल्व सूत्रों के पश्चात् लगभग हजार वर्ष तक इस विषय का कोई साहित्य प्राप्त नहीं है। इसके पश्चात् आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त आदि ने पुन इस विद्या को जीवन प्रदान किया। धीरे-धीरे रेखागणित का सम्बन्ध धर्म से छुडाकर ज्योतिष-शास्त्र से जोडा गया। इसलिए विभिन्न कोणों की विशेषताओं को समझने के प्रयत्न किये जाने लगे, व इस समय के गणितज्ञ नये-नये सिद्धान्तों का आविष्कार करने लगे, जैसे ब्रह्मगुप्त द्वारा वृत्तस्थ चतुर्भुज की विशेषताओं का ढूँढ़ा जाना। इस प्रकार एक विशेष रेखागणित का विकास किया गया। ज्योतिष के लिए त्रिज्यामिति के ज्ञान की भी आवश्यकता होती है, इसलिए उसका भी पर्याप्त विकास किया गया था।

बीजगणित का अङ्कगणित और रेखागणित से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यो तो इसका भी प्रारम्भ बहुत पहले से हुआ था, किन्तु ई० स० ४०० व १४०० वर्ष के बीच मे इसका विशेष विकास हुआ। आर्यभट्ट ने अपने ग्रन्थ के तीसरे अध्याय मे वर्गमूल व घनमूल निकालने की विधि, वृत्त के प्रश्नादि का वर्णन किया है। उसने ज्या (Sine) के कार्यों का भी वर्णन किया है। इसके द्वारा आकाश में विभिन्न नक्षत्रों की यथावत् स्थिति को अच्छी तरह समझ सकते है। टोलेमी (ईसा की दूसरी शताब्दी) को ज्या के कार्यों का पता नहीं था। पाश्चात्य विद्वान् मानते है कि ज्या के कार्यों को सर्वप्रथम अरब-गणितज्ञों ने ढूँढ़ा था। किन्तु यथार्थ में ज्या के कार्यों को सर्वप्रथम ईसा की ५वीं शताब्दी में भारतीय गणितज्ञ आर्यभट्ट ने ढूँढा है। वराहमिहिर के पौलश-सिद्धान्त मे भी इसका कुछ उल्लेख मिलता है। ब्रह्मगुप्त भी बीजगणित और रेखागणित का प्रकाण्ड विद्वान् था। उसी ने सर्वप्रथम यह ढूँढा था कि अ^२ का वर्गमूल + म हो सकता है। उसने 'अनिश्चित प्रश्नों'

(Indeterminate Problems) को भी समझने का प्रयत्न किया था।

ज्योतिष—इसका प्रारम्भ भी वैदिक काल से ही होता है। यज्ञों के समय आदि के ज्ञान के लिए ग्रह, नक्षत्र आदि के ज्ञान का विकास हुआ। वैदिक आर्यों को चन्द्र, गुरु, मंगल, शनि आदि का ज्ञान था। वे वर्ष के बारह महीने तथा लौंध मास भी जानते थे (शतपथ० २।२।१।२७)। तैत्तिरीय संहिता (४।४।१०) में लिखा है कि तीस दिन का साधारण मास चान्द्रमास से थोडा बडा रहता है, चान्द्रमास २९½ दिन क होता है। उस समय चन्द्र की कलाओं का भी ज्ञान वर्तमान था। शतपथ ब्राह्मण (१।६।४।५) मे लिखा है कि चन्द्र व सूर्य का सहवास ही अमावस्या है। चान्द्र व सौर वर्ष के अन्तर का भी ज्ञान था। ऋभुओं को ऋतुओं के समान माना गया है और कहा गया है कि उन्होंने बारह दिन तक काम बन्द कर दिया तथा सूर्य के घर में वास किया (ऋ० ४।३३-३७, ऐतरेय० ३।३०।२)। इस समय सूर्य व चन्द्र ग्रहण पर भी विचार किया गया था। एक मत ऐसा भी है कि पाँचवें मण्डल के मन्त्र-द्रष्टा अत्रि ऋषि इन ग्रहणों को पहले से जान सकते थे। चित्रा, रेवती, पूर्व फाल्गुनी, मघा आदि नक्षत्रों का ज्ञान भी वैदिक काल में था, क्योंकि इनका उल्लेख ऋग्वेद (१०।८५) के विवाह-सम्बन्धी सूक्त में है।

वैदिक काल में ज्योतिष का महत्त्व इतना बढ़ गया था कि वेदाङ्गों में इसका भी समावेश किया जाने लगा। लगध का वेदाङ्ग-ज्योतिष एक मामूली व छोटा ग्रन्थ है। तिलक इसे ई० पू० १४०० वर्ष, मैक्समूलर ई० पू० ३०० वर्ष तथा वेबर ईसा की पाँचवीं शताब्दी का बताते हैं। इसमें सूर्य व चन्द्र की गति को समझाने का प्रयत्न किया गया है। सूर्य ३६६ दिन में एक पूरा चक्कर लेता है। दिन का काल ६० घटिका बताया गया है। वर्ष को बारह सौर मासों में और मास को तीस दिन में विभाजित किया गया है (वेदाङ्ग-ज्योतिष—याजुस ज्योतिष २८-२९)। वेदाङ्ग-ज्योतिष और पञ्चसिद्धान्तों के बीच के समय के कोई

ग्रन्थ नहीं मिलते, किन्तु बहुत से ज्योतिषाचार्यों तथा उनके ग्रन्थों का उल्लेख अवश्य आता है, जैसे बृहस्पति, पितामह, पराशर, गर्ग, सिद्धसेन, जीवशर्मा, लाटाचार्य, सिंहाचार्य, सावित्र-ग्रन्थ, षष्ठाब्द-ग्रन्थ आदि। अतएव इस काल मे भी ज्योतिषशास्त्र का पर्याप्त विकास हुआ था। सूर्य, वशिष्ठ, पैतामह, पौलस, रोमक आदि पञ्चसिद्धान्तों मे इस शास्त्र की प्रगति का अच्छा पता चलता है। इनका समय लगध के पश्चात् व आर्यभट्ट (ई० स० ४७६) के पूर्व माना जाता है। इनमे सूर्य व अन्य ग्रहों को एक चक्कर लगाने में कितना समय लगता है, उसका विचार किया गया है। इस समय राशियो का नहीं था। पाँच वर्ष का युग माना जाता था, जिसमें दो लौंध मास, साठ सौर व सडसठ चान्द्रमास रहते थे (वराहमिहिर-पञ्च सिद्धान्तिका २।२-६, १८।१-६०)। वेदाङ्ग ज्योतिष व पैतामह सिद्धान्त के अनुसार चान्द्र वर्ष ३६६ दिन का है। शास्त्रीय ढङ्ग पर ज्योतिष के विकास का प्रारम्भ ईसा की पाँचवी शताब्दी के अन्तिम भाग मे आर्य भट्ट के समय से होता है। इस समय सूर्य आदि की गति का ठीक-ठीक पता लगाया गया था। सौर्य गति का समय ३६५ दिन, पाँच घण्टे, ५५ मिनट व १२ सेकण्ड निश्चित किया गया था, जोकि बिलकुल ही ठीक है। ग्रहण के सम्बन्ध में भी इस समय के आचार्यों का ज्ञान बहुत आगे बढ गया था। उन्हें राशि का ज्ञान भी हो गया था और दिवस के कम-अधिक होने का भी पता था आर्यभट्टीय-कालक्रिया, १७-१६, ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त, १४।१० १२, भास्कर २, गोलाध्याय, ५।७।१०-३२)। कुछ विद्वानों का मत है कि यूनानी ज्योतिष के प्रभाव के कारण ही भारतीय ज्योतिष की प्रगति हुई भारतीय ज्योतिष ने राशि का सिद्धान्त आदि यूनान से लिए हैं। भारतीय ज्योतिष के बहुत से परिभाषिक शब्दों में भी यूनान का प्रभाव झलकता है, जैसे हारिज (Horigon), कोण (Cone), केन्द्र (Centre), होरा (Hora) इत्यादि।

रोमक व पौलिश-सिद्धान्तों के नामो से उनका विदेशी होना स्पष्ट तया सिद्ध हो जाता है।

प्राचोन ज्योतिषाचार्यों के जोवन व कार्य पर भी कुछ प्रकाश पडता है, जिसका ब्यौरा इस प्रकार है।

आर्यभट्ट—इनका जन्म पाटलीपुत्र में ई० स० ४७६ में हुआ था। इनके दो ग्रन्थ हैं—आर्याष्टशतक व दशगीतिक। दूसरे ग्रन्थ में ग्रहण तथा ग्रहों की ठीक-ठीक गति पर विचार किया गया है, और मूल सूर्य-सिद्धान्त को आधार माना गया है।

वराहमिहिर—इन का जन्म ई० स० ५०५ के लगभग हुआ था। इनके टीकाकार पृथुस्वामी के मतानुसार इनकी मृत्यु ई० स० ५८७ मे हुई। इनके ग्रन्थ इस प्रकार हैं— बृहत्संहिता—इसमें फलित ज्योतिष का वर्णन है, पञ्चसिद्धान्तिका—यह करणग्रन्थ है, बृहज्जातक—इसमे भौतिक शास्त्र का वर्णन है, व लघुजातक। *श्रीशेष*—ये या तो वराहमिहिर के समकालीन थे, या उनके कुछ पीछे हुए। इनकी रोमक-सिद्धान्त पर टीका लोकप्रिय न हो सकी। *ब्रह्मगुप्त*—इनका जन्म राज-स्थान के भिनमाल नगर मे ई० स० ५९८ में हुआ। इन्होंने अपनी स्वतन्त्र विचार-शक्ति द्वारा कितने ही सिद्धान्तों का आविष्कार किया। आर्यभट्ट के सिद्धान्तों से इनका बहुत मतभेद था। इनके ग्रन्थ इस प्रकार हैं—ब्रह्मसिद्धान्त—ईसा की १२वीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध ज्योतिषी भास्कराचार्य इसके सिद्धान्तो को मानते थे। यह ग्रन्थ अरबी भाषा में सर्वप्रथम अनुवादित किये जाने वाले ज्योतिष-ग्रन्थो में से है। खण्डखाद्य—इसका भी अनुवाद अरबी भाषा में किया गया था।

भास्कराचार्य—इनका जन्म खानदेश (बम्बई प्रदेश) के विज्जल-वीड़ गाँव में ई० स० १११४ मे हुआ था। ये ज्योतिष, गणित आदि के प्रसिद्ध आचार्य माने जाते हैं। इन्हे गुरुत्वाकर्षण का ज्ञान था, जब कि न्यूटन का जन्म भी नहीं हुआ था। इनके ग्रन्थ इस प्रकार हैं—सिद्धान्त-शिरोमणि—यह गणित का ग्रन्थ है। इसका पहला भाग

'पाटीगणित' या 'लीलावती' कहलाता है। इसमें अङ्कगणित व 'मेन्सुरेशन' का वर्णन हैं। दूसरा भाग 'बीजगणित' व तीसरा भाग 'गोलाध्याय' है, जिसमें ज्योतिषशास्त्र का वर्णन है। करण कुतूहल—यह ज्योतिष ग्रन्थ है। इनके अतिरिक्त भास्कर-व्यवहार व विवाह-पटल भी इनके ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों की लगभग बीस टीकाएँ प्राप्त हैं, जिनसे इनकी लोकप्रियता का पता लगता है।

भौतिकादि शास्त्र—भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, वनस्पति-शास्त्र, प्राणिशास्त्र, भूगर्भविद्या, धातुविद्या (इसे लौहशास्त्र भी कहते थे) आदि के मौलिक सिद्धान्तों का उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलता है। वैदिक काल के पश्चात् इन शास्त्रों का उत्तरोत्तर विकास होने लगा। इन विषयों पर ग्रन्थ भी लिखे गए, जिनमें से कुछ आज भी मिलते है। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि प्राचीन भारत मे दर्शन शास्त्र के साथ-ही-साथ तथा उसकी सहायता के लिए ही भौतिक आदि शास्त्रों का विकास किया गया था। प्राचीन भारत के वैज्ञानिक विकास के बारे में बहुत-कुछ जानकारी इन ग्रन्थों से प्राप्त होती है—पातञ्जल सूत्र पर व्यासभाष्य, चरक सहिता, प्रशस्तपाद का भाष्य, उद्योतकर-कृत वार्तिक व वराहमिहिर की बृहत्संहिता।

भौतिक शास्त्र—प्राचीन दार्शनिक सिद्धान्तों के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि दार्शनिक तत्त्वों की भूमिका में भौतिक शास्त्र सम्बन्धी तत्त्व भी निहित थे, जिनको आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तों की सहायता से समझा जा सकता है। उनमें से कुछ तत्त्व हैं—(१) वैदिक वाङ्मय में प्रतिपादित एकत्व का सिद्धान्त, (२) त्रिगुणात्मक प्रकृति, (३) परमाणुवाद तथा गतिशीलता, (४) प्रकाश व उसका विश्लेषण तथा (५) शब्द आदि। उनका अल्प विवेचन इस प्रकार है—

(१) एकत्व का सिद्धान्त—शुक्ल यजुर्वेद (४०।७), छान्दोग्यादि उपनिषद् व वेदान्त दर्शन में एकत्व के सिद्धान्त का बहुत ही अच्छा

प्रतिपादन किया है। मध्यकालीन विभिन्न आचार्यों ने 'तत्त्वमसि' के विवेचन द्वारा इस एकत्व पर और भी अधिक प्रकाश डाला है। यद्यपि यह एकत्व आध्यात्मिक धरातल का है किन्तु उसमें भौतिक एकत्व का भी भाव भरा है, क्योंकि भारतीय आचार्यों के मतानुसार सम्पूर्ण चराचर जगत् का वकास उसी एक परम तत्त्व से हुआ है। साख्य-दर्शन ने इस विकास को व्यवस्थित रूप मे उपस्थित किया है। इस प्रकार भारतीय दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुसार दृश्यमान अनेकत्व मे एकत्व ही अन्तर्निहित है। आधुनिक विज्ञान के क्षेत्र के 'एलेक्ट्रान' आदि सिद्धान्त तथा आईन्स्टिन प्रभृति वैज्ञानिको के नये शोध भौतिक जगत् मे इसी एकत्व को प्रयोगात्मक रूप से स्थापित करते हैं।

(२) त्रिगुणात्मक प्रकृति—प्राचीन दार्शनिकों ने प्रकृति के विभिन्न तत्त्वो को समझने का प्रयत्न किया था। प्राकृतिक जगत् का विकास मूल प्रकृति (Original Matter) से माना गया है, जैसा कि साख्य-दर्शन ने माना है। मूल प्रकृति को सत्त्व, रज व तम आदि तीन गुणों की साम्यावस्था बताया गया है (ईश्वर कृष्ण-साख्यकारिका ३)। सत्त्व से प्रकृति के अन्तर्निहित तत्त्व (Essence) का बोध होता है, रज से शक्तिमत्ता (Energy) व तम से स्तब्धता (Mass or Inertia) का बोध होता है। इन्हीं तीन गुणों में वैषम्य होने पर प्राकृतिक जगत् का विकास प्रारम्भ होता है।

(३) परमाणुवाद व गतिशीलता—भारतीय दार्शनिकों को परमाणु वाद (Atomic Theory) का भी ज्ञान था। पाश्चात्य जगत् को तो ईसा की १८वीं शताब्दी में डाल्टन ने इस सिद्धान्त का पाठ पढ़ाया। किन्तु कणाद ने कितने ही समय पूर्व उस सिद्धान्त को दार्शनिक जगत् के सामने उपस्थित किया था। वेदान्तियों, बौद्धों व जैनों ने भी अपने-अपने ढङ्ग पर इस सिद्धान्त को विकसित किया था। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति अत्यन्त ही छोटे-छोटे परमाणुओं की बनी हुई है। एक

परमाणु का आकार $\frac{१}{३४६९५२५}$ इञ्च माना गया है। प्रकृति की गति-शीलता के कारण ये परमाणु मिलते हैं व पृथक् होते हैं। यह क्रिया अनादि काल से चली आती है। प्रकृति की गतिशीलता (Motion) के सयोग, विभाग, निरपेक्ष आदि के कारणों पर अच्छा विचार किया गया है। प्रशस्तपाद के मतानुसार प्रकृति की गतिशीलता विभिन्न प्रकार की होती है, जैसे तात्कालिक (Instantaneous) वेग (Impressed motion), सस्कार (a series of motions) आदि। उसके मतानुसार एक द्रव्य मे एक समय में एक ही प्रकार की गति रहती है। इस गतिशीलता के और भी भेद बताये गए हैं जैसे (१) प्रयत्न —जो इच्छा से उत्पन्न होता है, (२) आकर्षण—पृथ्वी की ओर वस्तुओं का आकर्षण, (३) स्यन्दन—द्रव पदार्थों की गति, जैसे नदी का बहाव, (४) अदृष्ट के कारण गति, जिसका कारण समझ में न आ सके, (५) सयोगजन्य—परस्पर सयोग से उत्पन्न गति, (६) नोदन—दबाव के कारण उत्पन्न होने वाली गति, (७) अभिघात गति, (८) लचीले पदार्थ के ससर्ग से उत्पन्न गति, व (९) वेगद्रव्यसयुक्तगति—किसी वेग वाली वस्तु के संयोग से उत्पन्न गति। 'नोदन' के भिन्न-भिन्न आचार्यों ने अपने-अपने मत दरसाए हैं। उदयन अपना मत दरसाते हुए विमानों का भी उल्लेख करते हैं, जोकि यथार्थ में महत्त्वपूर्ण है (उदयन-किरणावली, वायुनिरूपण)। इस सम्बन्ध में डॉ० ब्रजेन्द्र नाथ शील लिखते हैं कि उदयन ने धूमादि से आपूरित चर्म्मपुट वाले विमानों का उल्लेख किया है, जिससे सिद्ध होता है कि उदयन के समय (ई० स० ९७० के लगभग) में भारतीयों को विमानों का ज्ञान था।

(४) प्रकाश (Light) व उसका विश्लेषण (Analysis)—प्रकाश के सात रङ्गों का ज्ञान भारतीयों को वैदिक काल से ही था। ऋग्वेद (१-५१-८, १-१०५-६, १-१५२) में सूर्य को सात घोड़ों के रथ मे बैठने वाला, तथा 'सप्तरश्मि' अर्थात् सात प्रकार की किरणों वाला कहा गया

है। सूर्य की किरणों को अत्यन्त वेगवान् घोड़ों की उपमा देना बिल-कुल ही उपयुक्त है, क्योंकि सूर्य का प्रकाश अत्यन्त ही शीघ्रगामी है।

(५) शब्द—प्राचीन भारत के दार्शनिकों ने शब्द के विभिन्न रूपों को भी वैज्ञानिक ढङ्ग पर समझने का प्रयत्न किया था। उन्होंने शब्द का विश्लेषण इस प्रकार किया है। मीमांसकों के अनुसार शब्द के तीन भेद हैं, जैसे नाद, ध्वनि व स्फोट। न्याय वैशेषिक के अनुयायी 'वीचि-तरग-न्याय' को मानते हैं, जिसके अनुसार शब्द हर क्षण आकाश में वृत्ताकार बनता है, और इस प्रकार हवा में सदैव बढ़ने वाले वृत्त बनते जाते है, जैसा कि जल पर दृष्टिगोचर होता है। घण्टे के कम्पन-युक्त शब्द का भी विश्लेषण किया गया था व उसे 'कम्पन-सन्तान-सस्कार' कहते थे। प्रतिध्वनि को शब्द की छाया माना जाता था। कोई-कोई उसे शब्द के पश्चात् तज्जन्य अन्य शब्द मानते है। सङ्गीत-सम्बन्धी श्रुति, स्वर आदि का भी वैज्ञानिक ढङ्ग पर विवेचन किया गया था, जिसका विवरण भारतीय नाट्य-शास्त्र के २८वें अध्याय में है।

रसायन शास्त्र—रसायन-शास्त्र का विकास वैदिक काल से प्रारम्भ होता है, क्योंकि आयुर्वेद के लिए इसके ज्ञान की आवश्यकता रहती है, और वैदिक काल में आयुर्वेद का विकास प्रारम्भ हो गया था (अथर्व० ५।२३।१–७) यजुर्वेद में मणिकार, सुवर्णकार आदि के उल्लेख से तत्कालीन धातु-ज्ञान का पता लगता है। रसायन शास्त्र के ज्ञान के बिना धातुओं के गलाने आदि की रासायनिक क्रियाएँ समझ में आ ही नहीं सकतीं। रसायन-शास्त्र के विकास का प्रत्यक्ष प्रमाण सुश्रुत चरक, पतञ्जलि, वराहमिहिर आदि के ग्रन्थों से मिलता है। चरकसहिता के शरीर स्थान (१।२७।३१) में भौतिक द्रव्यों के गुणों का वर्णन है। पार्थिव द्रव्य गुरु, खर, कठिन, मन्द, स्थिर, सान्द्र, गन्ध इत्यादि गुण वाले होते हैं। आप्य द्रव्यों में द्रव, स्निग्ध, शीत, मन्द, मृदु, पिच्छल, सरस आदि बहुत से गुण रहते हैं। लघु, शीत, रूक्ष, खर, विशद, सूक्ष्म, स्पर्श आदि गुण वायव्य द्रव्यों में होते हैं। मृदु,

लघु, सूक्ष्म, श्लक्ष्ण, शब्द आदि बहुत से आकाशात्मक गुण हैं। सुश्रुतादि ने महाभूतों के परस्पर सम्मिश्रण का उल्लेख किया है। (सुश्रुत, सूत्रस्थान १४।७–९)। आकाश में वायु, अग्नि व जल का, वायु में अग्नि, जल तथा अणुता विशेष से भूमि का, अग्नि में धूमादि रूप से भूमि आदि का समावेश रहता है। पतञ्जलि के लौह-शास्त्र से बहुत-सी रासायनिक क्रियाओं (Metallurgical and chemical Processes) का पता लगता है, विशेषकर धातु-सम्बन्धी क्षार (Metallic salts), विविध सम्मिश्रण (Alloys and amalgums) आदि बनाने, धातु निकालने व शुद्ध करने की विधियों का स्पष्ट ज्ञान होता है। यह ग्रन्थ अप्राप्य है, किन्तु इसके बहुत से उद्धरण बाद के ग्रन्थों में पाये जाते हैं। कदाचित् पतञ्जलि ने ही सर्वप्रथम 'विद' नामी मिश्रणों (Mixtures) का पता लगाया था। नागार्जुन ने, जो लौह-शास्त्र का अच्छा विद्वान् था, पारे को बनाकर रासायनिक सम्मिश्रणों (compounds) के ज्ञान में वृद्धि की थी।

प्राचीन भारत में रसायन-शास्त्र की सहायता से औद्योगिक विकास भी किया गया था। वराहमिहिर ने अपनी वृहत्संहिता (अ० ५६) में विविध, लेप, चूर्ण आदि बनाने की विधि का उल्लेख किया है। इन लेपों में एक 'वज्रलेप' भी है, जिसका उपयोग कदाचित् अशोक के स्तम्भों पर किया गया है। इन लेपों का उपयोग बौद्ध काल के मन्दिर, मठ आदि में किया जाता था। अशोक के स्तम्भ रेतीले पत्थर के बने हैं, किन्तु इस वज्रलेप के कारण कितने ही दर्शकों ने समझा कि वे फौलाद के बने हैं। यह लेप बाईस सौ वर्ष पश्चात् भी ज्यों-का-त्यों है और वराहमिहिर के कथन को सत्य प्रमाणित करता है। इसी प्रकार बिहार में जो आजीविकों की गुफाएँ (मौर्य काल) हैं, उनकी दीवारों पर भी ऐसा ही लेप अब भी वर्तमान है, जिसके कारण वे काँच के समान चमकती हैं। वराहमिहिर ने इन लेपों के अतिरिक्त शिलादारण, शस्त्रपान, वृक्षायुर्वेद आदि का भी उल्लेख किया है (बृहत्संहिता,

३२।११२–११७, खड्गलक्षण, ४६।२३-२६)। उसने 'यन्त्रविद्', 'यन्त्रज्ञ' आदि तथा भिन्न-भिन्न रङ्गों और सुगन्धित द्रव्यों को बनानेवाले 'रागगन्धयुक्तिविद्' का उल्लेख किया है (बृहत्संहिता, अ० १५,१६)। उसने सुगन्धित द्रव्यों का भी वर्णन किया है, जिसमें बकुल, उत्पल, चम्पक, अतिमुक्तक आदि पुष्पों के तत्त्वांश की सहायता से वैसी ही सुगन्धि वाले कृत्रिम द्रव्यों को बनाने की विधि वर्णित है (बृहत्संहिता, अ० ७६)। रसायन-शास्त्र का ज्ञान वराहमिहिर आदि के पश्चात् भी उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। संस्कृत साहित्य से इस सम्बन्ध के कितने ही प्रमाण उपलब्ध हैं। गुणाढ्य-कृत वासवदत्ता मे रसायन-शास्त्र के विद्वानों का उल्लेख है। दण्डी को दशकुमारचरित में योग-चूर्ण का, जिसके सेवन से एकदम गहरी नींद आ जाती थी, तथा योगवर्तिका का, जो अग्नि के बिना प्रकाश देती थी, उल्लेख है। वासवदत्ता मे एक ऐसे चूर्ण का भी उल्लेख है, जिससे शरीर की सब क्रियाओं का स्तम्भन हो जाता था। वृन्द (ई० स० ६५०) ने रसामृतचूर्ण (sulphide of mercury) के बनाने का उल्लेख किया है। इससे एक भाग गन्धक और आधा भाग पारा रहता था। उसने पर्पटीताम्र (Cuprous sulphide) का भी उल्लेख किया है। भस्मीकरण, अधःपातन, ऊर्ध्वपातन, स्वेदन, स्तम्भन आदि द्वारा विभिन्न रसायनों के बनाने का उल्लेख भी प्राचीन ग्रन्थों मे आता है।

वनस्पति-शास्त्र—ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि में सब जीवधारियो को दो विभागों में बाँटा गया है—तस्थुष् (स्थावर) व जगत् (जगम) और सूर्य को उनकी आत्मा कहा गया है। आधुनिक वैज्ञानिक भी सूर्य को समस्त जीवन-शक्ति का स्रोत मानते हैं। वेदों (ऋग्वेद, १।३२।५,२।११४,८।४३।६, वाजसनेयी स० २२।२८, तैत्तिरीय स० ७।३। १६।१, ७।३०।२०, अथर्व० १०।७।३८) तथा उपनिषदों (बृहदारण्यक ४।६।१) मे इस सिद्धान्त का स्पष्ट उल्लेख आया है कि वनस्पतियों में जीव है और उन्हें भी जागृति, सुख, दुःख आदि का अनुभव होता है।

वैदिक काल के पश्चात् भी इस ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही। उदयन ने वनस्पतियो के जीवन, मरण, निद्रा, जागृति, रुग्णता, ओषध्युपचार, अनुकूल के प्रति आकर्षण, प्रतिकूल से अपकर्षण आदि पर विशेष प्रकाश डाला है (उदयन-पृथिवी-निरूपण)। उसने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि मानव शरीर के समान वृक्षादि भी जीते, मरते, सोते, जागते, बीमार होते और भेषज-प्रयोगादि करते हैं। इनमे सुख-दु ख-समन्वित अन्त -सज्ञा भी रहती है। महाभारत (शान्ति-पर्व) में लिखा है कि इन पर गरमी, ठण्ड, मेघ-गर्जन, सुगन्ध, दुर्गन्ध आदि का प्रभाव पडता है, तथा इनमें इन्द्रिय-ज्ञान भी रहता है। वृक्ष सुनते, देखते, सूँघते और जलादि का पान करते हैं। चरक, सुश्रुत, उदयन आदि ने अपने ग्रन्थो मे वनस्पति-शास्त्र के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा हे। उन्होंने वनस्पतियो के भिन्न-भिन्न विभाग बताए हैं। चरक (चरक स० सूत्रस्थान १।७१-७२) ने वनस्पति, वानस्पत्य, औषधि और वीरुध ऐसे चार विभाग बयाये हैं। सुश्रुत (सुश्रुत स०, सूत्रस्थान १।२६) ने भी इन्ही विभागों को माना हे। चक्रपाणि ने अपनी चरक की टीका में वनस्पतियों के दो मुख्य भेद किये हैं, जैसे वीरुध और औषधि। इन दोनों के भी दो-दो उपभेद बताये गए हैं।

प्राणि शास्त्र—प्राचीन काल में वनस्पति-शास्त्र के समान प्राणि-शास्त्र का भी विकास हुआ था। वेद, उपनिषद् आदि मे यत्र-तत्र प्राणियों की उत्पत्ति, विभोजन आदि के सम्बन्ध में बहुत-कुछ मालूम होता है, जिससे तत्कालीन प्राणि-शास्त्र के ज्ञान का पता चलता है। किन्तु चरक, सुश्रुत, प्रशस्तपाद, उमास्वाती (ई० स० ४१) आदि के ग्रन्थों तथा पौराणिक साहित्य में प्रत्यक्ष रूप से इस शास्त्र का विवेचन किया गया है। चरक ने प्राणियों के मुख्य चार विभाग किये हैं, जैसा कि सुश्रुत ने भी किया है, जैसे जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज। प्रशस्तपाद ने इनके दो और विभाग किये हैं—योनिज और अयोनिज। पुराण आदि ग्रन्थों में विभिन्न पशुओं की कितनी ही विशेष-

ताएँ बताई गई हैं। उमास्वाती ने कुछ पशुओ के लक्षण इस प्रकार बताए है। रुरु—यह एक प्रकार का मृग है। इसके बहुत से विकट विषाण होते है और देह शम्बराकार होती है तथा यह सदा जल के समीप विचरण करता है। यह शरद ऋतु मे अपने सीगों को त्याग देता है तथा रोने लगता है। इसलिए इसे 'रुरु' कहते हैं। कारण्डव—यह सफेद हस का एक भेद है। यह छोटा होता है। कोई-कोई इसे 'करहर' भी कहते हैं। इसका कौए के समान मुख और लम्बे पैर होते हैं। कङ्क—इसकी चोंच लम्बी होती है और वाणपत्र के समान पङ्ख होते हैं। इसके पैर लम्बे होते हैं और पङ्खों के नीचे पीला रङ्ग होता है।

भूगर्भ-विद्या—प्राचीन भारत मे इन शास्त्रों के अतिरिक्त भूगर्भ-विद्या, धातु-विद्या आदि का ज्ञान भी वर्तमान था। पृथ्वी को वसुधा या वसुन्धरा कहना स्पष्टतया बताता है कि प्राचीन भारतीयो ने पृथ्वी में से नाना प्रकार की बहुमूल्य धातुएँ खोद निकाली होगी। इसीलिए तो उसे 'रत्नगर्भा वसुन्धरा कहा गया। इसके अतिरिक्त वेदो में सोना, चाँदी, ताम्बा आदि भिन्न-भिन्न धातुओं का स्पष्ट उल्लेख आता है (ऋ० १।९७।३, १।१६३।६, ४।२।१७, ४।१०।६, १।१२२।२)। पुराण आदि मे सृष्टि की उत्पत्ति के वर्णन मे पाँच तत्वों का परस्पर सम्बन्ध बताते हुए पृथ्वी की बनावट पर भी प्रकाश डाला गया है (ब्रह्माण्ड, पूर्व भाग, अ० ३-६, ८-११,१४)।

आयुर्वेद—आयुर्वेद के विकास का प्रारम्भ भी वैदिक काल से ही होता है। ऋग्वेद और अथर्ववेद से आयुर्वेद-विषयक बहुत सी बातें मालूम होती है। ऋग्वेद (८।७१।२,९) मे अश्विनीकुमार के टूटे पैर को जोड देने की प्रार्थना की गई है और शरीर के भग्न अगों को कृत्रिम साधनों से ठीक करने का उल्लेख है। अथर्ववेद (२।३१-३३) मे विभिन्न रोगों का तथा उनके उत्पादक कीटाणुओ का वर्णन है। इन रोग कीटाणुओं के सम्बन्ध में अथर्ववेद मे लिखा है—"सूर्य भी ठीक सामने से आए तो वह स्वयं सबको दृष्टिगोचर होकर न दीखने वाले

रोग-कीटों का नाश करता है, क्योंकि वह अपनी तेज किरणों से दीखने और न दीखने वाले सब कीटों का नाशकर्ता तथा उच्छेदकर्ता है। ये वाष, कष्मक, एनत्, शिपिविन्तुक आदि नाना प्रकार की रोगकीट-जातियाँ और दिखाई देने वाला तथा न दिखाई देने वाला रोगकीट भी मार दिया जाय।" चरकसहिता के विमान-स्थान में इन रोग-कीटाणुओं के बारे में लिखा है कि "सूक्ष्मत्वाच्चैके भवन्त्यदृश्या" अर्थात् कई प्रकार के कीटाणु इतने सूक्ष्म होते हैं कि वे आँखों से नहीं दिखाई पड़ते। शतपथ ब्राह्मण (१०।५।४।१२, १२।३।२।३ और आगे) में मनुष्य के शरीर की सब हड्डियों की पूरी सख्या दी है। आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद बनाना ही उसके महत्त्व और विकास का द्योतक है। जनश्रुति (सुश्रुत स०, सुत्रस्थान १।६-७) के अनुसार आयुर्वेद के ८ भेद थे, जिनमें पिशाचों द्वारा उत्पादित और विषों से उत्पन्न होने वाले रोगों का भी समावेश होता है। प्राचीन काल में आयुर्वेद के साधारणतया ८ विभाग माने गए थे, जो कि इस प्रकार हैं—(१) शल्य—इसमें बाण, काँटे, लकड़ी आदि बाह्य पदार्थ निकालने की विधि तथा फोड़े, फुन्सी आदि को चीर-फाड़ द्वारा सुधारने की क्रिया का समावेश होता है। (२) शालाक्य—यह आँख, कान, नाक आदि की बीमारियों से सम्बन्धित है। (३) काय-चिकित्सा—इसमे रुग्ण शरीर के लिए औषधि आदि के उपचार का समावेश होता है। (४) भूतविद्या—इसका भूत, पिशाचादि के प्रभाव को दूर करने की विधि से सम्बन्ध है। (५) कुमार-भृत्य—यह बालकों के स्वास्थ्य तथा बच्चों की माँ, धाय आदि के रोगों से सम्बन्धित है। (६) अगद—इसमें दवा देने की क्रिया, विधि आदि का समावेश होता है। (७) रसायन—यह विविध रसायन आदि बनाने से सम्बन्धित है, (८) वाजीकरण—इसमें मानव-जाति की वृद्धि के लिए प्रयोगादि का समावेश होता है।

बौद्ध-साहित्य के अध्ययन से तत्कालीन आयुर्वेद के विकास का स्पष्ट पता लगता है। अशोक के लेखों से मालूम होता है कि उसने अपने

राज्य में स्थान-स्थान पर औषधालय खुलवाए थे तथा उत्तम-उत्तम जडी-बूटियाँ विदेशों मे भिजवाई थी। इस समय के शल्यकर्म के विकास के बहुत से उल्लेख मिलते है। विनयपिटक के महावग्ग (६।१–१४) मे लिखा है कि अश्वघोष ने एक भिक्षु के भगन्दर रोग पर शल्यकर्म का प्रयोग किया था। उस समय जीवक नाम का बौद्ध भिषक आयुर्वेदान्तर्गत शल्य चिकित्सा का बडा भारी विद्वान् हुआ, जिसका विस्तृत वर्णन महावग्ग मे मिलता है। उसने ‹ शरोरोग, कामला आदि विषम रोगो के आराम करने मे प्रसिद्धि पाई थी। चीर-फाड के शस्त्र साधारणतया लोहे के बनाये जाते थे, परन्तु राजा एव सम्पन्न लोगों के लिए स्वर्ण, रजत, ताम्र आदि के भी प्रयुक्त होते थे (सुश्रुत स०, सूत्रस्थान, अ० ८)। प्राचीन आचार्यों (सुश्रुत सं० २५।१-२) ने आठ प्रकार के शल्यकर्म माने थे, जिनमे से कुछ ये हैं—विस्राव्य—रुधिर का विस्रवण करना, सीव्य—दो भागों का सीना, लेख्य—चेचक के टीके आदि मे कुचलना आदि। अर्श, भगन्दर, योनि-रोग, मूत्रदोष, आर्तवदोष, शुक्रदोष आदि रोगों के शल्यकर्म का विवेचन किया गया है, तथा बताया गया है कि इन रोगो के लिए भिन्न-भिन्न यन्त्र प्रयुक्त होते थे। व्रणो और उदरादि सम्बन्धी रोगो के लिए भिन्न भिन्न प्रकार की पट्टी बाँधने का भी वर्णन है। (सु त स० २५।२८)। गुदाभ्रन्श के लिए चर्मबन्धन का भी उल्लेख है। टीके के समान मूर्छा में शरीर को तीक्ष्ण अस्त्र से लेखन करके दवाई को रुधिर मे मिला दिया जाता था (सुश्रुत स० २५।११)।

प्राचीन काल में आयुर्वेद-विषयक कितने ही ग्रन्थ लिखे गए थे, यहाँ तक कि चीनी तुर्किस्तान मे से ई० स० ३५० वर्ष के तीन सस्कृत-ग्रन्थ मिले हैं। इन सब ग्रन्थों में चरक और सुश्रुतसंहिता अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उनका समय ईसा की प्रथम शताब्दी है। उनका विवरण इस प्रकार है। चरकसहिता के ८ भाग हैं—(१) सूत्रस्थान—औषधि का प्रारम्भ, वैद्य के कर्तव्य, औषधि का उपयोग, रोगोपचार,

भोजन आदि, (२) निदान-स्थान—ज्वर, रक्तस्राव, सूजन, मधुमेह, कुष्ठ, क्षय, मिरगी आदि रोगों का वर्णन, (३) विमान-स्थान—महामारियों का वर्णन, अन्न, रोग-निदान, उपचार, शरीर के विभिन्न रसों की विशेषताएँ, (४) शारीर स्थान—जीव का वर्णन, विभिन्न जातियाँ, तत्वों के गुण, शरीर का वर्णन, शरीर व जीव का सम्बन्ध इत्यादि, (५) इन्द्रिय स्थान—ज्ञानेन्द्रियों और उनके रोगों का वर्णन, शरीर का रग, वाग्दोष, शरीर और अगों के रोग, शक्ति, ह्रास, मृत्यु आदि का विवेचन, (६) चिकित्सा-स्थान—रोगोपचार, स्वास्थ्य-सुधार, जीवन-भोग के साधन, ज्वर, सूजन, बवासीर, दस्त, पीलिया, दमा, खाँसी, सग्रहणी कय, विषप्रभावादि व मदिरापान, जलना, गुल्मरोग, गठिया, लकवा आदि का विवेचन, (७) कल्प-स्थान—जुलाब, मन्त्रोपचार आदि, (८) सिद्धि-स्थान—वस्तिकर्म, पशुवस्तिकर्म विधि, मूत्ररोग आदि। सुश्रुत संहिता में चीर-फाड पर विशेष जोर दिया गया है। उसके ६ विभाग है—(१) सूत्रस्थान—औषधि, शरीर के तत्त्व शल्यकर्म के औजारो का चुनाव, घाव फोडे आदि का वर्णन, (२) निदान-स्थान—रोगनिदान, गठिया, बवासीर, भगन्दर, कुष्ठ, मधुमेह आदि का वर्णन, तथा गुप्तेन्द्रिय के रोगो का विवेचन, (३) शारीर-स्थान—शरीर-शास्त्र या शरीर के विभिन्न अङ्ग-प्रत्यङ्ग का विवेचन, जीव व शरीर के तत्त्व, आर्तवदोषादि, गर्भ-स्थिति, शरीर के विकास आदि का वर्णन, (४) चिकित्सा-स्थान—रोगनिदान और चिकित्सा, व्रण, फोडे, चोट, गठिया, बवासीर, कुष्ठ, मधुमेह आदि का वर्णन, (५) कल्प-स्थान—भोज्य व पेय पदार्थ बनाने की विधि, विषाक्त, अन्न, विष व उनका उपचार, (६) उत्तर स्थान—आँख, कान, नाक, सिर आदि के रोग तथा ज्वर, सग्रहणी, क्षय, हृदय-रोग, नशा, कफ, हैजा, मिरगी आदि का उपचार।

१३

शारीरिक विकास

@@@@@@@@@@@@

शारीरिक विकास का महत्त्व—शारीरिक विकास भारतीय सस्कृति का मुख्य अङ्ग था। कवि-शिरोमणि कालिदास के समान प्राचीन भारतीयों ने 'शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्' (शरीर सर्व प्रथम धर्म का साधन है) के रहस्य को भली भाँति समझ लिया था। उप-निषदों के ऋषियों के समान वे यह भी अच्छी तरह से जानते थे कि 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्य' (यह आत्मा बलहीन द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता)। दैनिक जीवन के अनुभव ने उन्हें परमात्मा के दिये हुए इस शरीर की उपयोगिता भली भाँति समझा दी थी। शरीर को कष्ट देने से ही मुक्ति मिलती है यह सिद्धान्त तो बाद में प्रतिपादित किया गया था, जबकि समाज के ऊपर एक प्रकार का निराशावाद छाने लगा था। गौतम बुद्ध भी पहले इसका शिकार हुआ और जंगल में जाकर उसने अपने शरीर को नाना प्रकार के कष्ट दिये। किन्तु बाद में वह ऐसे जीवन की निरर्थकता समझ गया व सच्चे आर्य-मार्ग पर अग्रसर हुआ।

वैदिक काल से ही शारीरिक विकास का पता चलता है। वेदों में सौ वर्ष तक जीवित रहने की आकांक्षा प्रदर्शित की गई है, और वह भी सब इन्द्रियों के सशक्त रहते हुए (ऋ० ७।६६।१६, १।८९।८, यजु० ३६।२४)। सौ वर्ष तक जीवित रहना, सुनना, बोलना, देखना आदि

तब ही सम्भव हो सकता है, जबकि शरीर-यष्टि उत्तम व सुदृढ़ हो, किसी रोग आदि ने उसे जर्जरित न कर दिया हो। वैदिक काल में जीवन के विभिन्न पहलू इस प्रकार विकसित किये गए थे कि वे शारीरिक विकास में सहायक होते थे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैदिक काल के आर्य शारीरिक विकास के महत्त्व को भली भाँति समझ गए थे। प्राचीन काल में शारीरिक विकास की कोई सुन्दर आयोजना अवश्य बनाई गई होगी, जिसके स्वरूप को प्राचीन साहित्य के सहारे समझा जा सकता है।

शारीरिक विकास का आयोजन—प्राचीन भारतीयों ने शरीर-विज्ञान को भलीभाँति समझ लिया था। उन्होंने शरीर की विभिन्न क्रियाओं को समझ लिया था। उन्हें अच्छी तरह मालूम था कि शरीर की रक्षा व पुष्टि के लिए वायु, जल, अन्न आदि वस्तुएँ अत्यन्त ही आवश्यक है। उपनिषदों (छान्दोग्य० ६।५) में जो 'अन्नमय कोष' 'अन्न वै प्राणा' आदि वचन आते हैं, उन सबका यही तात्पर्य है। यह तो स्पष्ट है कि यदि इन तीनों में से एक भी पर्याप्त मात्रा में न मिले, तो जीवन कठिन ही नहीं बल्कि असभव हो जायगा, इस बात को प्राचीन भारतीयों ने भी भली भाँति समझ लिया था। इसीलिए इन तीनों की योग्य व्यवस्था पर उन्होंने विचार किया था। शारीरिक विकास के ऐसे आयोजन का विवेचन गीता (६।१७) ने अच्छी तरह से किया है। उसमें लिखा हैं—"जिसका आहार विहार व विभिन्न दैनिक कार्य नियमित हैं, व जो नियमपूर्वक सोता व जागता है, उसके सब दुःख योग द्वारा दूर किये जाते हैं।

शारीरिक विकास के लिए वायु, जल, अन्न आदि की पूर्ण शुद्धि अत्यन्त ही आवश्यक है, क्योंकि इस पर ध्यान न देने से नाना प्रकार के रोग फैल जायँगे व आनदमय जीवन असम्भव हो जायगा। वायु का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। श्वासोच्छ्वास की क्रिया पूर्णतया वायु पर निर्भर है। इसलिए प्राचीन काल में यह व्यवस्था की गई थी

कि अधिक-से-अधिक शुद्ध वायु मनुष्य के शरीर के भीतर व बाहर पहुँच सके, जिससे जीवन-शक्ति बढे। इसीलिए आश्रम-व्यवस्था मे गृहस्थाश्रम को छोडकर अन्य आश्रमो को जगल से सम्बन्धित किया गया था, जहाँ शुद्ध वायु पर्याप्त मात्रा मे मिल सके। इसके अतिरिक्त वायु को दूषित होने से बचाने की भी व्यवस्था की गई थी। अथर्ववेद से मालूम होता है कि तत्कालीन लोगो को पता था कि नाना प्रकार के रोग-कीटाणु, जिनमे से अधिकाश अदृश्य भी होते हैं, वायु मे इधर-उधर भ्रमण करके उसे दूषित करते हैं। उस दूषित वायु के शरीर मे प्रवेश करने पर नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। इसलिए वायु-शुद्धि के निमित्त यज्ञ करने का आयोजन किया गया था। यज्ञ से दो प्रकार के लाभ होते है—वायु का शुद्धीकरण व उसकी मेघ धारण करने की शक्ति। यज्ञ में घी, चन्दन, केशर, कस्तूरी आदि नाना प्रकार के सुगन्धित द्रव्यों के अग्नि मे पडने से जो धुँआ निकलता है, उसमे रोग-कीटाणुओं के नाश करने की शक्ति रहती है। अनुभव से भी यह मालूम हो सकता है कि यज्ञ के धुएँ से वायु मे हल्कापन आ जाता है व उसका सेवन, मन में स्फूर्ति, उल्लास आनन्द आदि उत्पन्न करता है। इसीलिए प्राचीन काल में यज्ञों द्वारा वायु की शुद्धि की जाती थी। प्रत्येक आर्य को साय-प्रात अग्निहोत्र करना पडता था, तथा सामूहिक रूप से दार्शपौर्णमासिक आदि यज्ञ किये जाते थे। इससे अतिरिक्त बहुत से नैमित्तिक यज्ञ भी किये जाते थे (मनु० ४।२९-२८)। भिन्न-भिन्न सस्कारों के अवसर पर भी यज्ञ करना अनिवार्य था। स्वास्थ्य की दृष्टि के अन्त्येष्टि सस्कार अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण था। यों तो मुर्दों को गाड़ने की अपेक्षा जलाना अधिक उत्तम है, किन्तु शव को यदि घृत, चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों से जलाया जाय, तो वायु को शव-दाह के दोषों से बचाया जा सकता है। इस प्रकार यज्ञ वायु-शुद्धि का प्रधान साधन भी था।

केवल वायु-शुद्धि से ही शुद्ध वायु शरीर के अन्दर प्रविष्ट नहीं

हो सकती। उसका शरीर के अन्दर प्रवेश श्वासोच्छ्वास की क्रिया पर रहता है और यह क्रिया फुफ्फुसों द्वारा होती है। यदि फुफ्फुस अशक्त रहे, तो यह क्रिया बिगड जायगी व परिणामस्वरूप शुद्ध वायु के रहते हुए भी शारीरिक शक्ति का ह्रास होता जायगा, श्वास के कितने ही रोग शरीर में घर बना लेंगे व हृदय भी अशक्त हो जायगा, जससे एकाएक मृत्यु भी हो सकती है। इसलिए फुफ्फुसों का सशक्त व नीरोग रहना अत्यन्त ही आवश्यक है। इनको सशक्त बनाने के लिए ही प्राचीन काल मे प्राणायाम का आयोजन किया गया था। श्वास को यथाशक्ति बाहर भीतर ले जाना व वहाँ रोके रखना ही प्राणायाम की मुख्य क्रिया हैं (मनु० २।७५, ६।६६ ७२)। नियमित रूप से प्राणायाम करने से फुफ्फुसों को पूरा व्यायाम होता है व वे सशक्त बन जाते हैं। परिणामत, श्वासोच्छ्वास की क्रिया भी सुधर जाती है, व शुद्ध वायु के कारण सहज ही मे दीर्घ-जीवन का उपभोग किया जा सकता है। यदि इस प्रकार फुफ्फुसों को सशक्त न बनाया जाय, तो हम अकाल ही में मृत्यु के ग्रास बने बिना नहीं रहेंगे व अल्पजीवी हो जायँगे, जैसा कि आजकल देखा जाता है। आजकल प्राणायाम को धर्म का ढकोसला समझकर हम लोगो ने उसे तिलाञ्जलि दे दी है, व उसके बदले में धूम्र-पानादि की खराब आदतें बना ली हैं, जिनसे फुफ्फुसों को कितनी ही हानि पहुँचती है। परिणामत हम अशक्त होते जाते हें व हमारे शरीर में दमा, खाँसी आदि श्वास रोगों का दौर-दौरा हो जाता है। आजकल हमारे समाज में कितने ही व्यक्ति श्वास-रोगों से ग्रसित रहते है, व नाना प्रकार की यातनाएँ भोगते हैं।

प्राचीन काल में जल की शुद्धि पर भी पूरा-पूरा ध्यान दिया जाता था, जैसा कि मनु (६।४६) ने कहा है। साधारणतया नदी, कुएँ आदि का जल पीने के काम में लाया जाता था। वर्षा ऋतु मे नदी का जल पीना वर्जित था (मनु० ४।१०८) कुएँ का जल विशेष रूप से पवित्र माना जाता था, क्योंकि वह पृथ्वी के गर्भ मे से आता था।

वैज्ञानिक दृष्टि से भी वह जल ठीक ही रहता है। शरीर-शुद्धि के लिए जल को आवश्यक माना गया था। भारतवर्ष उष्ण-प्रधान देश रहने से यहाँ जल की आवश्यकता पद-पद पर होना स्वाभाविक ही है। यदि उसे साक्षात् देवता भी माना जाय तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए। यही कारण है कि प्राचीन भारत में इन्द्र व वरुण देवताओं के रूप मे जल को ही स्तुत्य व पूज्य माना गया था (ऋ० १।३२, २।१२, ७।८३, ७।८८)। कृषि-प्रधान देश में वर्षा व उसके जल का इतना महत्त्व होना ही चाहिए। जल का उपयोग स्नान के लिए भी होता था। प्राचीन भारत में दैनिक स्नान लगभग अनिवार्य-सा ही था। इसे धर्म का अङ्ग मान लिया गया था (मनु० ४।२०३, ५।१०९)। स्नान के बिना तो कुछ हो ही नहीं सकता। जन्म के समय स्नान, विविध संस्कारों के समय स्नान, यहाँ तक कि मरने के समय भी स्नान आवश्यक हो गया था। गुरुकुल का ब्रह्मचारी विद्याभ्यास की समाप्ति पर 'स्नातक' कहाता था। आज भी भारत में दैनिक स्नान एक आवश्यक नियम-सा ही हो गया है। विश्व में भारत के अतिरिक्त कदाचित् ही अन्य कोई देश हो, जहाँ के निवासी भोजनादि के पूर्व धार्मिक नियम के रूप में दैनिक स्नान करते हों। शीत-प्रधान देशों के अतिरिक्त अन्य देशों में स्वास्थ्य की दृष्टि से दैनिक स्नान अनिवार्य हो जाना चाहिए।

अन्न का भी शारीरिक विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध है, इससे भी प्राचीन भारतीय भली भाँति परिचित थे। उपनिषदों में इस सम्बन्ध को बहुत ही रोचक ढङ्ग पर समझाया गया है। आयुर्वेदादि ग्रन्थों में भोजन की विभिन्न विक्रियाओं का भी वर्णन आता है। उनमें बताया गया है कि किस प्रकार अन्न से रक्त, मेद, मज्जा, वीर्य आदि बनते हैं (छान्दोग्य० ६।५-६, चरक सं०, सूत्रस्थान, २८।४, मनु० २।५३-५७, ४।६२)। इसलिए शारीरिक पुष्टि के लिए अन्न का शुद्ध रहना अत्यन्त ही आवश्यक है। अन्न का प्रभाव मनुष्य के स्वभाव पर भी पड़ता है, इसीलिए भोजन के भी तीन प्रकार बताये गए—सात्त्विक, राजस

तामस (मनु० ११।१५२)। भोजन के छ प्रकार और बताये गए हैं, जिनके कारण 'षड्रस भोजन' नाम पडा। यह स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त ही आवश्यक समझा जाता था। आधुनिक स्वास्थ्य-शास्त्र के अनुसार शरीर की पुष्टि व वृद्धि के लिए भोजन मे 'प्रोटीन' 'कार्बो-हाइड्रेट' आदि चार प्रकार के तत्त्व रहने चाहिए। षड्रस भोजन मे इन सबका समावेश हो जाता है।

भारतीय भोजन-व्यवस्था मे, जिनमे प्राचीन काल से आज तक साधारणतया कोई परिवर्तन नही हुआ, उपरिनिदिष्ट चारो तत्त्वो का समावेश हो जाता है। रोटी, दाल, चावल, शाक आदि भारतीय भोजन व्यवस्था के प्रधान अङ्ग हैं। आजकल जिन 'विटामिन्स' को स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त ही आवश्यकीय समझा जाता है, उनका समा-वेश भी इस व्यवस्था मे हो जाता है। हरी-हरी शाक-भाजी तथा भोजनोपरान्त खाये जाने वाले फलों मे इन 'विटामिन्स का समावेश हो जाता है। प्राचीन भारतीय भोजन मे इन सबका उपयोग करते थे। कदाचित् यह सम्भव हो कि आर्थिक दुरवस्था के कारण सब लोगो का इस व्यवस्था के अनुसार भोजन न मिलता हो। किन्तु इससे उक्त व्यवस्था की वैज्ञानिकता तथा शारीरिक विकास के लिए उपयोगिता में कोई बाधा नहीं आती। जिस प्रकार भोजन के पदार्थ छ. रस वाले (मीठे, खट्टे, चरपरे, कडवे, कसैले व नमकीन) होते है, उसी प्रकार उनके छ. प्रकार भी होते हैं, जैसे (१) चोष्य—वे पदार्थ जो चूस-कर खाये जाते हैं, जैसे ईख, नींबू, अनार आदि, (२) पेय—पीने के पदार्थ, जैसे पानी, शरबत, दूध आदि, (३) लेह्य—चाटने के पदार्थ, जैसे शिखरन, लपसी, कढी आदि, (४) भोज्य—भोजन के पदार्थ, जैसे भात, रोटी, दाल आदि, (५) भक्ष्य—भक्षण करने के पदार्थ, जैसे लड्डू, पेड़े, बरफी आदि, (६) चर्व्य—चबाने के पदार्थ, जैसे लाई, चिवडा, पापड आदि। ये पदार्थ क्रमश एक-दूसरे से भारी हैं (चरक स०, सूत्र० २६।६)।

मानव-शरीर पञ्च महाभूतो का बना हुआ है। इसलिए भोजन मे ऐसे पदार्थों का होना आवश्यक है, जिनसे शरीर के पञ्च महाभूतो का परिमाण व्यवस्थित रहे। इसलिए प्राचीन भारत में षड्रस-भोजन की व्यवस्था की गई। मधुर रस मे पृथ्वी और जल का भाग अधिक रहता है। खट्टे रस मे पृथ्वी तथा अग्नि का अंश विशेष रहता है। कटु रस मे आकाश व वायु की विशेषता रहती है। चरपरे रस मे अग्नि व वायु-तत्त्व की विशेषता रहती है। कषैले रस मे पृथ्वी तथा वायु-तत्त्व की प्रधानता रहती है (चरक स० २६।३८।४०)। इसी लिए मधुर रस का सेवन करने से मुँह मे चिकनापन, शरीर में आनन्द और इन्द्रियो में तेजी आती है। खट्टे रस के सेवन से मुँह मे पानी छूटता, दाँत सिहरते तथा शरीर में रोमाञ्च होता है। नमकीन रस के सेवन से मुँह से पानी गिरता और गले में जलन होती है। कटु रस से मुँह साफ होता है और दूसरे रसो की पहचान करने की जीभ की शक्ति नष्ट होती है। चरपरे रस के सेवन से जीभ में जलन और मुँह मे चुनचुनी छूटती है, तथा मुँह व नाक से पानी छूटता है। कषैले रस के सेवन से जीभ भारी पड जाती है, तथा कण्ठ व स्रोतसो का अवरोध होता है। इन सभी रसो की मूल उत्पत्ति जल से हुई है (चरक स०, सूत्र० २६।३९)।

आयुर्वेद से 'विटामिन' का समन्वय—चरक संहिता (सूत्र० १।६७) में पदार्थों के तीन भाग किये गए हैं—शमन, कोपन तथा स्वस्थहित। शमन पदार्थ वे हैं जो अपने गुणों के द्वारा वात, पित्त, कफ आदि दोषों का शमन करते है। ये पदार्थ प्रत्यक्ष में शारीरिक क्रिया के सञ्चालन मे प्रधान सहायक न होते हुए भी दोष-साम्य स्थिर रखते हैं। इस प्रकार वे शारीरिक स्वास्थ्य-सम्पादन कराने वाली क्रियाओ का काम सुगम कर देते हैं। शमन पदार्थ दोषो का शोधन नही करते अर्थात् वात, पित्त, कफ आदि को मूत्र, मल, वान्ति आदि के द्वारा निकालते नहीं हैं और जो दोष समान अवस्था में है, उन्हें भड़काते या कुपित नहीं करते, किन्तु जो दोष विषम अवस्था में होते है, उन्हें समान

अवस्था में कर देते है। यह सात प्रकार से होता है। जो पदार्थ वात, पित्त, कफ आदि दोषो तथा रस, रक्त, मास, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र, धातु को तथा पुरीष, मूत्र, पसीना आदि मलो को कुपित करते है, वे कोपन पदार्थ कहलाते हैं, जैसे नमकीन पदार्थो या फलो के साथ दूध खाना अथवा हरी शाक-भाजी व मूली खाकर दूध पीना, उडद की दाल के साथ मूली खाना आदि विरुद्ध आहार है। इससे धातु, मल आदि कुपित होते है। इसी प्रकार जो पदार्थ वातादि दोष, रसादि धातु और पुरीषादि मलो को अपने प्रभाव से अपने प्रमाण के अनुसार कायम रखते है, अर्थात् उन्हे समावस्था मे रखने के कारण होते है, वे स्वस्थहित कहलाते है। वे स्वास्थ्य के लिए हितकारी है, इसलिए स्वस्थहित कहलाते है। प्रत्येक ऋतु के अनुसार जो सेव्य पदार्थ हैं वे स्वस्थहित है। पदार्थो मे उष्णवीर्य तथा शीतवीर्य दो प्रकार के पदार्थ होते है। जिन जिन पदार्थों मे उष्णता उत्पादन करने तथा पाचन-शक्ति बढाने की शक्ति होती है वे उष्णवीर्य पदार्थ है, और जिसमे स्नेहन, शान्ति, वीर्य, बल आदि बढ़ाने की शक्ति होती है, वे शीतवीर्य पदार्थ कहलाते है। पदार्थों मे बीस प्रकार के गुण होते है। उन गुणो के गण आयुर्वेद-शास्त्र मे विस्तार से कहे गए हैं। उनमे से स्वस्थहित अर्थात् स्वास्थ्य के लिए हितकारी पदार्थों के जीवनीय बृहणीय, सन्धानीय, दीपनीय, बल्य, कर्ण्य, वर्ण्य, हृद्य, तृप्तिकर, स्तन्यजनक, शुक्रजनक, वीर्यशोधक, स्नेहोपयोगी, श्रमहर, दाहनाशक, शोणित स्थापन, सज्ञा-स्थापन, प्रजास्थापन तथा वय स्थापन करने वाले गण वर्णित है (चरक स० सूत्र० ४।९-१८)। पश्चिमी विद्वानों का 'विटामिन'-सम्बन्धी वर्गीकरण भी इन्ही गणो का अस्त-व्यस्त तथा अव्यवस्थित विवेचन है।

शक्ति-विकास के साधन—वायु, जल, अन्न आदि को शास्त्रीय ढङ्ग पर शरीर-पुष्टि की सामग्री बनाने मे प्राचीन भारत ने बहुत उन्नति की थी। किन्तु शारीरिक शक्ति का विकास इतने से ही नही हो सकता। शरीर-सम्पत्ति की वृद्धि तथा पुष्टि के लिए प्राचीन भारत में जो साधन

आयोजित किये गए थे, वे इस प्रकार हैं—शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग, भिन्न-भिन्न अवयव तथा उनकी क्रियाओ के सम्यक् ज्ञान के द्वारा शारीरिक विकास किया जा सकता है। व्यायाम के द्वारा विभिन्न अङ्ग प्रत्यङ्गो की वृद्धि की जाती है तथा उनकी विभिन्न क्रियाओ को प्रोत्साहन दिया जाता है, जिससे वे क्रियाएँ यथोचित रूप मे हुआ करें (चरक म० सूत्र० ७।३१ ३२)। प्राचीन काल मे नाना प्रकार के व्यायाम ज्ञात थे जो वय, अवस्था, जाति आदि के अनुकूल होते थे। इसके अन्तर्गत प्राणायाम, योगासन आदि का समावेश हो सकता है। प्राणायाम से फेफडो को कसरत मिलती है और योगासन से शरीर के विभिन्न अङ्ग सुदृढ तथा नियन्त्रित बनते है। शीर्षासन, पद्मासन आदि का महत्त्व आज भी अनुभव से समझा जा सकता है। यदि वैज्ञानिक दृष्टि से आसनो पर विचार करें तो समझ मे आ जायगा कि इनमे मानव शरीर के मेरुदण्ड और स्नायु-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाये रखने का तत्त्व निहित है।

स्त्रियो तथा पुरुषो के व्यायाम मे साधारणतया भेद माना गया था स्त्रियो का दैनिक जीवन ही इस प्रकार से व्यवस्थित किया गया था कि उन्हे पर्याप्त रूप में व्यायाम मिले और उनकी शरीर-सम्पत्ति अच्छी बनी रहे। भारत पहले ही से कृषि प्रधान देश रहा है। यहाँ के अधिकाश स्त्री-पुरुष देहातो मे ही रहते आए हैं। देहातो मे स्त्रियो को कितने ही घरेलू व्यायाम हो जाया करते थे, जैसा कि आजकल देखा जाता है। प्रात उठकर चक्की पीसना, कपडे धोना, बरतन मलना, घर की सफाई करना, गाय बैल का काम करना आदि स्त्रियो की जिम्मेवारी रहती थी। नगरो मे भी स्त्रियाँ घरेलू काम साधारणतया अपने हाथो से ही करती थी, जिससे उनका स्वास्थ्य अच्छा रहता था। इसके अतिरिक्त और कई प्रकार से स्त्रियाँ अपने शारीरिक बल का विकास करती थी। प्राचीन साहित्य के पठन से मालूम होता है कि धनाढ्य व ऊँचे कुल की स्त्रियाँ खेल-कूद, तैरना आदि भी जानती थी। पार्वती की कन्दुक-क्रीडा का उल्लेख कालिदास के कुमार सम्भव मे आता है।

त्य कला का उपयोग भी शारीरिक शक्ति के विकास के लिए किया
ाता था। यों तो स्त्री-पुरुष दोनों ही इस कला के उपासक थे, किन्तु
ला की दृष्टि से स्त्रियों ने ही इसका अच्छा विकास किया था। इस
ला के द्वारा स्त्रियों का मनोरञ्जन भी होता था, साथ ही उन्हें पर्याप्त
यायाम भी मिल जाता था। ऊँचे कुल की स्त्रियाँ तथा राजकुमारियाँ
त्य कला सीखती थीं। साधारण व गरीब स्त्रियाँ भी इस कला से
ञ्चित नहीं रहती थीं। उत्सव आदि के अवसर पर स्त्रियों द्वारा सामूहिक
प से इसका प्रदर्शन भी होता था। कितनी ही स्त्रियाँ, विशेषकर क्षत्रा-
णियाँ अस्त्र-शस्त्र चलाना जानती थीं और अपने पति के साथ युद्ध-
त्र में भी जाती थीं। अस्त्र शस्त्र के अभ्यास से उनकी शारीरिक
ाक्ति का खूब विकास होता था।

रामायण, महाभारत आदि से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में
वं साधारण पुरुषों को व्यायाम शालाओं का बड़ा शौक था। राजा-
महाराजाओं के यहाँ बड़ी-बड़ी मल्ल शालाएँ रहा करती थीं, जिनमें कितने
ी मल्ल मल्ल-विद्या का अभ्यास करते थे। रामायण में लङ्का-वर्णन के
सङ्ग पर मल्लों तथा मल्लशालाओं का भी उल्लेख आया है। महाभारत
। कंस की मल्लशाला तथा उसके मल्लों का उल्लेख आता है, जिनको
ृष्ण ने धराशायी करके अपनी शारीरिक शक्ति का परिचय दिया था।
ीम के मल्ल-विद्या-नैपुण्य को कौन नहीं जानता? इस भीमकाय भीम की
अद्वितीय शारीरिक शक्ति का लोहा बालपन से ही दुर्योधन आदि
ौरवों को लेना पड़ा था। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्राचीन काल में
ल्लविद्या व्यायाम का एक विशेष अङ्ग थी तथा बड़े बड़े राजा, महाराजा
से प्रोत्साहन देते थे। इन राजमल्लों के अतिरिक्त इस विद्या का प्रचार
न-साधारण में भी था। वे भी दण्ड, बैठक, मुगदर फेरना, दौड़ना
आदि नाना प्रकार की कसरत से अपनी शारीरिक शक्ति का विकास
करते थे। यह प्राचीन व्यायाम-प्रणाली आज भी विकृत रूप में हमारे
देश में वर्तमान है। आधुनिक अखाड़े प्राचीन मल्लशालाओं व व्यायाम-

शालाओं के ही भग्नावशेष है। प्राचीन मल्लो के समान आजकल के पहलवान भी राज्याश्रय पाते है और दुनिया भर मे भारतीय मल्ल-विद्या की कीर्ति-पताका फहराते है।

धनुर्विद्या को भी प्राचीन व्यायाम व्यवस्था का एक अङ्ग माना जा सकता है। धनुर्विद्या के अन्तर्गत धनुष-बाण आदि अस्त्र शस्त्र चलाने की विद्या का समावेश हो जाता है। प्राचीन काल से इसका शास्त्रीय ढङ्ग पर विकास किया गया था। इस विद्या का एक बडा ग्रन्थ भी था, जिसे यजुर्वेद का उपवेद कहा जाता था। धनुविद्या की शिक्षा क्षत्रियो व विशेषकर राजकुमारो के लिए अनिवार्य सी ही थी, तथा इसके सिखाने की भी व्यवस्था की गई थी। रामायण, महाभारत आदि मे कितने ही स्थलो पर इसका उल्लेख आता है। लव, कुश, अर्जुन आदि ने धनुर्विद्या में असाधारण नैपुण्य प्राप्त किया था। यह व्यवस्था या तो गुरुकुलो मे ही की जाती थी अथवा स्वतन्त्र रूप से रहती थी। यहाँ युद्ध से सम्बन्धित नाना प्रकार के अस्त्र शस्त्रो को चलाने का कौशल प्राप्त कराया जाता था, जिससे शारीरिक शक्ति का भी अच्छा विकास हो जाता था। क्षत्रियों को तो सर्वदा अपनी भुजाओ के बल पर निर्भर रहकर वीरत्व का बाना पहनना पडता था। इसीलिए वेदो में उन्हे समाज रूपी 'पुरुष' की भुजाओं से सम्बन्धित किया गया। विवाह के अवसर पर भी उन्हे अपने बल, पौरुष, वीरत्व, आदि को प्रदर्शित करना पडता था, अन्यथा उनके गले मे वरमाला पड ही नही सकती थी। प्राचीन काल के स्वयंवरों का वर्णन पढ़ने से यह बात समझ मे आ जायगी। सीता-स्वयवर में राम का बल-पौरुष, द्रौपदी-स्वयंवर मे अर्जुन का और कालिदास-कृत रघुवंश मे वर्णित इन्दुमती-स्वयंवर में अज का पुरुषार्थ व शस्त्र-विद्या नैपुण्य स्पष्ट ही है। जो बल, पौरुष, युद्ध-कौशल आदि से युक्त नहीं था, उसे क्षत्रिय ही नहीं कहा जाता था। क्षत्रिय के लिए इन सब गुणों का रहना आवश्यक था।

प्राचीन काल में राजा, महाराजा, रईस आदि आखेट को जाने के

बडे शौकीन थे। आखेट को भी एक प्रकार का व्यायाम समझा जाता था, रामायण महाभारत, पुराण आदि प्राचीन ग्रन्थों मे इसका स्थान स्थान पर उल्लेख है। मीगास्थनीज ने चन्द्रगुप्त मौर्य के आखेट को जाने का विशद वर्णन किया है। अशोक के लेखों मे भी इसका उल्लेख है।

अभ्यङ्ग तैल-मर्दन भी प्राचीन काल में व्यायाम का मुख्य अङ्ग माना जाता था। प्राचीन साहित्य, इतिहास आदि से पता चलता है कि प्राचीन काल के भारतीय तैल-मर्दन के बडे शौकीन थे। क्या छोटे, क्या बडे सब ही अपने शरीर मे मालिश करते अथवा करवाते थे। चन्द्रगुप्त मौर्य को इसका इतना शौक था कि जब राज-दरबार मे रहता था, उस समय भी उसके शरीर पर मालिश की जाती थी। बौद्ध जातकों मे भी मालिश करने वालों का उल्लेख है। आज तक भी यह प्रथा भारत मे वर्तमान है व उत्तर प्रदेश मे तो बहुतायत से पाई जाती है। स्वास्थ्य व शारीरिक विकास की दृष्टि से तैल-मर्दन अत्यन्त ही हितकर है। इसमे त्वचा का रूखापन जाकर रक्त की क्रिया मे प्रोत्साहन मिलता है, जिससे जीवन-शक्ति उत्तरोत्तर बढती ही जाती है।

प्राचीन काल मे शारीरिक विकास के लिए बहुत से खेल-कूद आदि भी किये जाते थे, जिनके द्वारा बालक तथा नवयुवक मनोरञ्जन के साथ-साथ अपनी शारीरिक शक्ति का विकास भी करते थे। यजुर्वेद मे 'वंश-नर्तिन् का उल्लेख है। बौद्ध जातकों मे भिक्षुओ के लिए जो कुछ निषिद्ध है, उसकी एक तालिका दी है, जिसमें 'अक्खरिका' नाम के एक खेल का उल्लेख है। सस्कृत साहित्य मे कितने ही स्थलो पर 'क्रीडा शैल' का उल्लेख आता है, जहाँ पर सब लोग मनोरञ्जनार्थ जाते थे। यहाँ नाना प्रकार की क्रीडाओं की व्यवस्था अवश्य रहती होगी। कालिदास ने कुमारसम्भव मे पार्वती की कठिन तपस्या का वर्णन करते हुए कहा है कि जो पार्वती कन्दुक-क्रीडा से भी थक जाती थी, वह इतना दुष्कर तप कैसे कर सकती है। भास ने भी इस कन्दुक-क्रीडा का उल्लेख

किया है। संस्कृत साहित्य मे स्त्रियों के कुछ और खेलो का उल्लेख है। कालिदास के मेघदूत मे वर्णन आता है कि अलकापुरी की कन्याएँ सुवर्ण सिकता मे 'गुप्तमणि' नाम का खेल खूब खेलती थी।

इन्द्रिय-निग्रह शारीरिक विकास के लिए कितना आवश्यक है इसको भी प्राचीन भारतीयो ने अच्छी तरह समझ लिया था। इसीलिए जहाँ देखो वहाँ इन्द्रिय निग्रह पर जोर दिया गया है। इसके बिना शारीरिक ही क्या, किसी भी शक्ति का विकास नहीं किया जा सकता बल्कि उनका ह्रास ही हो जाता है। प्राचीन भारत मे यह आदेश था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को नियमित बनाए। इन्द्रियो का दमन करके सयम का जीवन व्यतीत करे। इस प्रकार उसमें वीर्य, शौर्य, तेज आदि की वृद्धि होती थी। प्रत्येक व्यक्ति को कम-से-कम पच्चीस वर्ष की अवस्था तक तो ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करना पडता था। उसे काम-वासना से दूर रहकर स्त्री का ध्यान करना भी मना था (मनु० २।११७, २१९)। भूल से वीर्य-पात होने पर उसे प्रायश्चित्त करना पडता था। पच्चीस वर्ष की अवस्था मे विवाह आदि के पश्चात् गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करने पर भी प्रत्येक व्यक्ति को अपना जीवन सयमयुक्त रखना पडता था। सन्तानोत्पत्ति के लिए ही मैथुन करने का आदेश था, अन्यथा वीर्य-रक्षा करना ही उचित समझा गया था (मनु० ३।४९-५०)। प्राचीन काल के आर्य-वीर्य रक्षा के कारण अपनी शरीर-सम्पत्ति को बढ़ाकर दीर्घायु का उपभोग करते थे व वृद्धावस्था मे भी सशक्त रहते थे। हनुमान्, भीष्म आदि के समान कुछ व्यक्ति आजन्म ब्रह्मचारी रहते थे, व अद्वितीय बल के आगार बन जाते थे। इस प्रकार शारीरिक विकास की व्यवस्था में इन्द्रिय-निग्रह का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण था।

प्राचीन भारत की वेश-भूषा भी स्वास्थ्य वृद्धि और शारीरिक विकास मे सहायक बनती थी। सरलता वेश-भूषा का मूल सिद्धान्त था। प्राचीन भारत में साधारणतया दो वस्त्र काम मे लाये जाते थे, उत्तरीय व अधर। उत्तरीय से कमर के ऊपर का भाग व अधर से उससे

नीचे का भाग ढाँपा जाता था। सिर पर भी साफे के रूप मे कपड़ा लपेटा जाता था। साँची भारूत आदि की शिल्पकारी से इसका पता चलता है। विशेष कार्य करने वालों की वेश भूषा विशेष प्रकार की भी रहा करती थी। राजा, दरबारी, सैनिक आदि की वेश-भूषा उनके कार्यों के उपयुक्त रहा करती थी। उष्ण-प्रधान भारत में उत्तरीय अधर वस्त्रादि के समान वेशभूषा ही स्वास्थ्य व शक्ति-वर्धक रह सकती है। यहाँ कपडे ढीले ही होने चाहिएँ। चुस्त कपडे तो शीत प्रधान देशों के लिए हितकर होते हैं।

उपरोक्त वर्णन के सहारे यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत में शारीरिक विकास की सुन्दर व्यवस्था थी। शुद्ध वायु-सेवन के महत्त्व को समझकर ही जीवन का अधिकाश भाग जगल के शुद्ध व पवित्र वातावरण में व्यतीत किया जाता था। आहार शास्त्र के ज्ञान की सहायता से शुद्ध अन्न-जल ग्रहण किया जाता था। मानव-शरीर के अङ्ग प्रत्यङ्गो के ज्ञान द्वारा उनकी शक्ति बढ़ाने के लिए नाना प्रकार व्यायाम अयोजित किये गए थे। इन सब प्रयत्नो की सफलता के लिए व मानव-जीवन को नियन्त्रित रखने के लिए इन्द्रिय-निग्रह द्वारा आत्म-सयम का सिद्धान्त अपनाया गया था। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय दीर्घायु, ऊँचे, बलिष्ठ व सुन्दर शरीर-यष्टि के होते थे। प्राचीन यूनानी आदि उन्हे देखकर आश्चर्य-चकित होते थे व उन्हे साक्षात् देवता समझते थे।

१४

विदेशों में भारतीय संस्कृति

@@@@@@@@@@@@@@@@@@@

प्राचीन भारत का विदेशो पर प्रभाव—प्राचीन भारतीयो ने अपनी सस्कृति को भारत की भौगोलिक सीमा मे ही परिसीमित नहीं रखा था, किन्तु विदेशों मे भी उसका प्रचार व प्रसार किया था। इतिहास से पता चलता है कि भारतीय सस्कृति का प्रचार विश्व के विभिन्न देशों में हुआ था। क्या पूर्व मे, क्या पश्चिम मे, प्राचीन काल के कितने ही सभ्य देशों ने भारतीय सस्कृति से प्रभावित होकर बहुत-सी बातें भारत से सीखी। धर्म, दर्शन, साहित्य, गणित, विज्ञान, कला आदि के कितने ही बहुमूल्य सिद्धान्त विदेशो ने भारत से सीखे। इस प्रकार भारतीय सस्कृति का विश्व व्यापी प्रभाव स्पष्ट हो जाता है।

भारतीय सस्कृति के विश्व व्यापी प्रभाव के दो मुख्य कारण हैं — (१) भारत का वैदेशिक व्यापार, व (२) प्राचीन भारतीयों की धर्म-प्रचार-वृत्ति। प्राचीन भारत के वैदेशिक व्यापार के बारे में 'आर्थिक विकास' के अध्ययन मे विस्तृत रूप से लिख दिया गया है, जिससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत के व्यापारी व्यापार के लिए विश्व के विभिन्न भागों मे जाते थे। इस प्रकार वे विदेशियो के निकटतम ससर्ग मे आने लगे, व उन पर अपनी सस्कृति का प्रभाव डालने लगे। इसके अतिरिक्त प्राचीन भारतीयो मे धर्म-प्रचार-वृत्ति भी थी, जिसका सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद (१०।६२।११) के 'कृरावन्तो विश्वमार्यम्' (सारे विश्व

को आर्य बनाएं) वचनों मे मिलता है । इसी प्राचीन प्रणाली को मान-कर ई० पू० तीसरी शताब्दी मे अशोक ने पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ्रीका व दक्षिण यूरोप के विभिन्न देशो में बौद्ध-प्रचारक भेजे थे, जिन्होंने वहाँ अपने धर्म के केन्द्र स्थापित किये व वहाँ के धार्मिक जीवन को प्रभावित किया। ईसा प्रथम शताब्दी से पूर्वी एशिया के विभिन्न देशों तथा द्वीपो मे बौद्ध-प्रचारक पहुँचने शुरू हो गए थे, जिनके प्रयत्नो के परिणाम-स्वरूप मध्य एशिया, चीन, कोरिया, जापान आदि में बौद्ध धर्म के सिद्धान्त स्थापित किये गए। इसी समय जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, बाली आदि द्वीपों मे ब्राह्मण-धर्म फैल गया, जिसके चिह्न आज भी वहाँ वर्तमान है। इन प्रयत्नो के परिणामस्वरूप कितने ही विदेशी हजारों कोस पैदल चलकर इस पवित्र भूमि के दर्शन करने तथा ज्ञान-पिपासा की तृप्ति के लिए वहाँ आते थे।फाहियान, सुनसुन, यूएनच्वेङ्, इत्सिग आदि बौद्ध चीनी यात्री इन्हीं मे से थे। इस प्रकार मनुज (२।२०) के 'एतद्देशप्रसूतस्य' आदि वचन का रहस्य समझ मे आ जायगा।

ऐतिहासिक प्रमाण—भारतीय संस्कृति के विश्व-व्यापी प्रभाव के सम्बन्ध मे कितने ही ऐतिहासिक प्रमाण प्राप्त हैं, जो साराश मे इस प्रकार हैं—भाषासाम्य, सास्कृतिक साम्य, प्राचीन लेख आदि, तथा प्राचीन भारत का औपनिवेशिक विकास।

भाषा-साम्य—यूरोप की भाषाओ तथा जेन्द, सस्कृत आदि का तुलनात्मक अध्ययन करने से पता चलता है कि इन भाषाओ में परस्पर बडी आश्चर्यजनक समानता है। तुलनात्मक भाषा-शास्त्र की सहायता से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है कि ये सब भाषाएँ किसी एक ही भाषा से बनी है, या किसी एक भाषा से प्रभावित हुई हैं। इन उदाहरणों से भाषा-साम्य समझ मे आ जायगा (१) शतम् (सस्कृत), केण्टम (लैटिन), सेतेम (जेन्द), एकेटन (ग्रीक), केट (केल्टिक), हुड (जर्मन), हण्ड्रेड या सेंचरी (इगलिश), (२) अहम् (सस्कृत), अजम

(जेन्द), अजे (प्राचीन बल्गेरियन), हेगो (ग्रीक), इगो (लैटिन), इक (गॉथिक), (३) द्वि (सस्कृत), द्व (जेन्द), दुश्रो (ग्रीक व लैटिन), ट्वै (गॉथिक), द्व (स्लेह्वोनिक), टू (इ गलिश), इसी प्रकार सस्कृत त्रि, चतुर, पञ्च आदि के रूप विभिन्न भाषाओ मे पाये जाते है, (४) पितृ (सस्कृत), पितर (जेन्द), पेटर् (लैटिन), (गॉथिक), फॉदर (इगलिश), (५) मातृ (सस्कृत), मातर् (जेन्द), मेटर् (लैटिन), मोटे (लिथ्युनियन), मदर (इग्लिश), (६) भ्रातृ (सस्कृत), भरातर् (ज़ेन्द), फ्रेटर (लैटिन), ब्रदर (गॉथिक), ब्रोटेरलिस (लिथ्यु नियन), (७) सूनु (सस्कृत), हुनु (जेन्द), सुनुस (लिथ्युनियन), सन (इग्लिश), (८) स्वसृ (सस्कृत), ज्वेन्हर (जेन्द), सोरॉर (लैटिन), स्विस्टर (गॉथिक), सेसु (लिथ्युनियन), सिस्टर (इग्लिश)। इस भाषा-साम्य से स्पष्टतया सिद्ध होता है कि इन भाषाओ पर सस्कृत का प्रभाव पडा है। कदाचित् भारत के आर्य अत्यन्त ही प्राचीन काल में इन देशो मे जाकर बसे होगे, और उन्होने वहॉ की भाषाओं को प्रभावित किया होगा। पाश्चात्य विद्वानो का मत है कि ये सब भाषाएँ, जिनमे वैदिक सस्कृत भी सम्मिलित की जाती है, किसी अन्य प्राचीन भाषा से बनी हैं, तथा उस प्राचीन भाषा के बोलने वाले किसी समय एक साथ ही रहते थे। उन्हे 'आर्य' नाम से सम्बोधित किया जाता है। इन आर्यों का आदिम निवास-स्थान यूरोप के किसी देश मे बताया जाता है। इस मत का निराकरण पहले ही कर दिया गया है। पाश्चात्य धार्मिक सिद्धान्तों, दन्त-कथाओं आदि पर दृष्टि-गोचर भारतीय सस्कृति के प्रभाव से यह स्पष्ट है कि संस्कृत भाषा ने अन्य भाषाओं को भी प्रभावित किया है, जिसके परिणामस्वरूप यह भाषा-साम्य दृष्टिगोचर होता है।

सास्कृतिक साम्य—प्राचीन ईरानियो के धार्मिक सिद्धान्तों तथा यहूदी, ईसाई, इस्लाम आदि के सिद्धान्तों मे बड़ी समानता है और ये सिद्धान्त भारत के धार्मिक सिद्धान्तों से बहुत मिलते-जुलते है। इसी

प्रकार प्राचीन यूनान और रोम के सिद्धान्त तथा सामाजिक रीति रिवाजो की भारतीय धार्मिक सिद्धान्त और रीति रिवाजो से आश्चर्यजनक समानता दिखाई देती है, जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है। वैदिक धर्म व ईरानी धर्म मे इतना सास्कृतिक साम्य है कि उसके सहारे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दोनो धर्मों के मानने वाले किसी समय एक ही होगे। ऋग्वेद की भाषा व अवेस्ता की भाषा मे इतना साम्य है कि उनका परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। इस साम्य के कुछ उदाहरण इस प्रकार है—(१) सस्कृत का 'स' जेन्द मे 'ह' हो जाता है, जैसे असुर (सं०), अहुर (जे०), सोम (स०), होम (जे०), सप्त (सं०), हफ्त (जे०), सेना (स०), हेना (जे०), (२) सस्कृत का 'ह' ज़ेन्द मे 'ज़' हो जाता है, जैसे हृदय (स०), जर्दय (ज़े०), हस्त (स०), जस्त (जे०), वराह (स०) वराज़ (जे०), हिम (स०), जिम (जे०), बाहु (स०), बाजु (जे०), (३) सस्कृत का 'ज' जेन्द मे 'ज' हो जाता है, जैसे जन (स०), ज़न (जे०), वज्र (स०), वज्र (जे०), जानु (स०), जानु (जे०), यजत (सं०), यजत (जे०), (४) सस्कृत 'श्व' ज़ेन्द मे 'स्प' हो जाता है, जैसे विश्व (स०), विस्प (ज़े०), अश्व (स०), अस्प (जे०), श्वान (सं०), स्पान (जे०), (५) सस्कृत का 'त्र' ज़ेन्द में 'थ्र' हो जाता है, जैसे, मित्र (स०), मिथ्र (जे०), मन्त्र (स०), मन्थ्र (जे०), (६) बहुत से शब्द दोनों भाषाओ में एक से रहते है, जैसे पितर् (स०), पितर् (जे०), मातर (स०), मातर (जे०), पशु (स०), पशु (ज़े०), गो (स०), गो (जे०), नमस्ते (स०), नमस्ते (जे०), मत्ति (सं०), मत्ति (जे०)।

ऋग्वेद और अवेस्ता के धार्मिक सिद्धान्त भी अधिकाश एक से ही हैं। ऋग्वेद व अवेस्ता के देवताओ की एकता इन उदाहरणो से स्पष्ट हो जायगी—असुरमेध (ऋ०), अहुरमजद (अ०), अर्यमन् (ऋ०) ऐर्दमन् (अ०), मित्र (ऋ०), मिथ्र (अ०), भग (ऋ०), भग

(अ०)। वैदिक चातुर्वर्ण्य का साम्य भी अवेस्ता मे मिलता है, किन्तु उन वर्णों के नाम भारतीय नामो से अलग है, जैसे अथ्रवण (ब्राह्मण या पुरोहित), रथेस्टर (क्षत्रिय), वस्त्रियोशस् (कृषक या वैश्य) व हुइटिस (शूद्र)। प्रो० दर्मेस्तर के मतानुसार 'दिनचर्या' मे चार वर्णों का उल्लेख मिलता है, जो कि भारतीय वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति से बहुत मिलता-जुलता है। भारत के द्विजो के समान ईरानी भी यज्ञोपवीत धारण करते थे। यज्ञोपवीत सस्कार सातवें वर्ष होता था, व यज्ञोपवीत जिसे 'कुस्ती' कहा जाता था, कमर मे धारण करते थे। आज भी प्राचीन ईरानियो के प्रतिनिधि पारसी कमर में 'कुस्ती' धारण करते है। इस सम्बन्ध मे 'वेनिदाद्'—'फरगर्द' १८ में लिखा है—"जरतुस्त्र ने अहुरमज्द से पूछा, 'ऐ अहुरमज्द ! किस अपराध के कारण एक अपराधी मृत्यु-दण्ड पाने का अधिकारी बनता है ?' इस पर अहुरमज्द ने कहा, 'जो कोई वसन्त ऋतु में कुस्ती धारण नहीं करता, गाथा नही पढ़ता, जल-पूजा नहीं करता, वह मृत्यु-दण्ड का भागी है'।" भारतीयो के समान ईरानी भी पुनर्जन्म मे विश्वास रखते थे, व गाय की पूजा करते थे। उनके यज्ञ भी वैदिक यज्ञों के समान ही रहते थे। उनके घरों मे हमेशा अग्नि प्रज्वलित रहती थी। ऋग्वेद व अवेस्ता के मध्य और भी बहुत-सी धार्मिक समानता दिखाई देती है, जिससे यह बरबस कहना पडता है कि अत्यन्त ही प्राचीन काल मे भारत के अग्निहोत्री ब्राह्मणों की एक शाखा, जो कि अथर्ववेद को विशेष रूप से मानने वाली थी, ईरान जाकर बस गई होगी। 'ईरान' नाम भी यथार्थ रूप मे 'आर्य' नाम से ही बना है।

प्राचीन ईरानियों व यहूदियो के धार्मिक सिद्धान्तो के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि उनमें भी बडी भारी समानता है और यहूदी धर्म ईरानियों के धर्मगुरु ज़रतुस्त्र के धामिक सिद्धान्तों पर विकसित हुआ है। यहूदी देवता 'जेहोवा' व ईरानी देवता 'अहुरमज्द' में बहुत समानता है। ज़रतुस्त्र की 'अहुरमज्द' की भावना व 'ओल्ड

टेस्टामेएट' की 'इलोहिम' या 'जेहोवा'-सम्बन्धी भावना बहुत मिलती-जुलती है। अवेस्ता मे 'अहुरमज्द' के लगभग बीस नामो का उल्लेख है। उनमे से दो 'अह्मि' व 'अह्मि यद् अह्मि' है। यहूदी देवता के भी ऐसे ही नाम है। 'एक्सोडस' (३।१४) मे लिखा है कि "और ईश्वर ने मूसा से कहा है कि 'आय एम दैट आय एम' (I am that I am) व यह भी कहा, कि इस्त्रैल के बच्चों को तो इस प्रकार कहना कि 'आय एम' (I am) ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है।" इन नामो से भगवद्गीता के 'अहम्' की तुलना की जा सकती है। लोकमान्य तिलक के मतानुसार यहूदी 'जेहोवा' व खाल्डियन 'यह्वे' सस्कृत के 'यहु', 'यह्व', 'यह्वत' व स्त्रीलिङ्ग रूप 'यह्वी', 'यह्वती' के बिलकुल समान है। ये शब्द ऋग्वेद (६।७५।१, ८।१३।२४, १०।११०।३) मे कितने ही स्थानो पर उल्लिखित है। ऋग्वेद में 'यह्व' शब्द 'महान्' के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है (निघण्टु १।१२, २।८, ३।३, निरुक्त ८।८) व सोम, अग्नि, इन्द्र आदि देवताओं के लिए प्रयुक्त किया गया है। इस प्रकार यहूदी 'जेहोवा' शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के 'यह्व' से होती है। इस सम्बन्ध में टॉमसटेलर का ('रिलीजस सिस्टम्स ऑफ दी वर्ल्ड' पृष्ठ ११) कथन है—"यह (जेहोह्वा) शब्द यहूदियों को भारत के साथ व्यापारिक सम्बन्ध के कारण प्राप्त हुआ। यह व्यापार खाल्डिया व पारस की खाडी के द्वारा होता था। ईरानियों के अग्रमेन्यु व यहूदियो के शैतान की भावना बिलकुल समान है। बाइबल में शैतान सर्प का रूप धारण करता है। अवेस्ता मे अग्रमन्यु भी जलते हुए सर्प का रूप धारण करता है। ऋग्वेद (१,३२।१,२,५, निघण्टु १।१०) के इन्द्र-वृत्र-युद्ध में भी वृत्र को अहि कहा गया है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद के वृत्र ने अवेस्ता के अंग्रमेन्यु व बाईबल के शैतान को प्रभावित किया है। इस सम्बन्ध मे जर्मन दार्शनिक शोपनहार ("रिलीजन एण्ड अदर एसेज़" पृष्ठ १११) कहता है—"इससे उस कथन की भी पुष्टि होती है, जो अन्य युक्तियों से प्रमाणित किया जा चुका है कि

'जेहोह्वा' 'श्रार्मज' का व 'शैतान' 'श्रह्मीमन' का परिवर्तित स्वरूप है। 'श्रार्मज' स्वत ही इन्द्र का परिवर्तन-मात्र है।" ससारोत्पत्ति के सम्बन्ध मे भी ईरानियो व यहूदियो के सिद्धान्तों मे समानता है। जरतुश्त्र के मतानुसार पहले काल-विभागों मे आकाश उत्पन्न किया गया, दूसरे मे जल, तीसरे मे भूमि, चौथे मे वृक्ष, पाँचवे मे प्राणी और छठे मे मनुष्य। मूसा के मतानुसार, "पहले दिन स्वर्ग व पृथ्वी उत्पन्न किये गए, दूसरे दिन आकाश व जल, तीसरे दिन भूमि, घास, पक्षी, फल और वृक्ष, चौथे दिन प्रकाश, सूर्य, चन्द्र और तारागण, पाँचवें दिन जगम प्राणी, पङ्ख वाले पक्षी व बडी-बडी मछलियाँ, व छठे दिन जीवधारी, मवेशी, लता, पशु, मनुष्य ('जेनेसिस' १।१-२६)।" ऋग्वेद के पुरुषसूक्त (१०।९०) मे भी लगभग ऐसा ही सृष्टि का वर्णन आता है। यहूदियो के प्रलय सम्बन्धी विचार भी ईरानियो से लिये गए है। महाप्रलय तथा 'हजरत नूँ की किश्ती' की कथा शतपथ ब्राह्मण (१।८।१।१) मे भी आती है, जहाँ मनु एक नाव द्वारा प्राणियो की रक्षा करते हैं। यह कथा कुरान में भी आती है। अवेस्ता मे लिखा है कि स्वर्ग म सात 'अमेशस पन्त' है। बाइबल मे भी लिखा है कि सात देवदूत ईश्वर के सिहासन को घेरे हुए हैं। यहूदियों ने यज्ञ करने की प्रथा भी ईरानियो से ली, जिन्होने स्वत यज्ञ करना भारतीयों से सीखा था। इस प्रकार यहूदी मत, जो कि ईसाई व इस्लाम मतो का जन्मदाता है, बहुत से सिद्धान्तो के लिए ईरानियों के सिद्धान्तो का ऋणी है।

यह बात सर्वमान्य है कि ईसाई मत के धार्मिक सिद्धान्त यहूदी मत के सिद्धान्तो से विकसित हुए हैं। इनके विकास पर बौद्ध धर्म का भी जबरदस्त प्रभाव पडा है, जिसका प्रचार अशोक (ई० पू० २७२-२३२) ने पश्चिमी देशों में किया था। प्लिनी (ई० स० ७९ के लगभग) ने ई० पू० १०० के लगभग पेलेस्टाईन मे 'एसीनीज' नाम के एक धार्मिक पथ का उल्लेख किया है। मिस्र में भी ऐसा ही एक पथ था, जिसे 'थेरापॉट्स' कहते थे। यह अब निर्विवाद है कि ये 'एसीनीज़'

बौद्ध ही थे। 'बेपटिस्ट' जॉन जो ईसा मसीह के पहले हुआ है और सैद्धान्तिक दृष्टि से उसका अग्रगामी था, 'एसेनीज़' सिद्धान्तों से पूर्ण-तया परिचित था। आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि ईसा मसीह ने जॉन से बहुत से धार्मिक सिद्धान्त सीखे थे। कुछ विद्वान् तो यह भी मानते हैं कि ईसा मसीह स्वय 'एसेनी' था। 'साम्स' (Psalms) व ईसाई मत पर बौद्ध सिद्धान्तों का जो प्रभाव पडा है, वह धम्मपद के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्टतया समझ मे आ जायगा (धम्मपद ५।१६७ २२३, मेथ्यू २३।२७, ५।५४, २३।३, ल्यूक ६।३१)। शोपनहार ('रिलीजन एण्ड अदर एसेज' पृष्ठ ११) स्पष्टतया स्वीकार करता है कि यद्यपि ईसाई मत यहूदी मत की आधार-शिला पर स्थित है, तो भी उस पर बौद्ध धर्म का बहुत बडा प्रभाव पडा है। ईसाई मत की ऐसी स्थिति है, मानो यहूदी धर्म के सूखे ठूठ पर भारतीय ज्ञान की सुन्दर लता फैल गई हो। ईसाई मत पर बौद्ध धर्म का प्रभाव केवल सैद्धान्तिक ही नहीं था, किन्तु वह ईसाई मत के पवित्र भवनों पर भी स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। सर्वप्रथम ईसाई गिरजे प्राचीन बौद्ध मठो से बिलकुल ही मिलते-जुलते थे। प्राचीन भारतीय वास्तु निर्माण कला के इतिहास पर अधिकार रखने वाले डॉ० फर्ग्युसन भी इस मन्तव्य की पुष्टि करते है। वे यूरोप के कुछ गिरजों तथा कार्लें की बौद्ध गुफाओ मे आश्चर्यजनक समानता पाते है। श्री रमेशच द्रदत्त के मतानुसार ईसाई मत पर बौद्ध धर्म का इतना जबरदस्त प्रभाव पडा है कि आज भी रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के बहुत-से धार्मिक कृत्य बौद्ध धार्मिक कृत्यों से बिलकुल ही मिलते-जुलते हैं ('एन्शएट इण्डिया' जि० २, पृष्ठ ३३५-३३६)। एक रोमन कैथोलिक पादरी को यह देखकर अत्यन्त ही आश्चर्य हुआ था कि तिब्बत मे बौद्ध धर्म-सम्बन्धी पूजा, रीति-रिवाज़, प्रार्थनादि की विधि, बौद्ध धर्म के गुरुओ की वेश-भूषा आदि रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के बिल्कुल ही समान हैं। मध्यकालीन यूरोप के ईसाई मठों और वहाँ के जीवन मे तथा बौद्ध मठो और वहाँ के जीवन

में भी समानता दिखाई देती है। इस प्रकार यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि बौद्ध धर्म ने ईसाई मत को पूर्णतया प्रभावित किया है।

ईसा की सातवी शताब्दी मे मुहम्मद द्वारा प्रतिपादित इस्लाम मत यहूदी व ईरानी मतो से भिन्न नही है। इस्लाम के धर्म-ग्रन्थ कुरान (सूरये बकर, मजिल १, पारा १, २) में ही इस बात को मान लिया गया है। डॉ० सेल अपने कुरान के अनुवाद (कुरान, वि० ४, पृष्ठ ८१) मे लिखते है—"ऐसा प्रतीत होता है कि मुहम्मद ने रोजा वगैरह के पारे मे भी, जैसा कि अन्य बातो मे देखा जाता है, यहूदियों के सिद्धान्तो को माना है। यहूदी लोग भी जब रोज़ा रखते हैं तब सूर्योदय से सूर्यास्त तक न केवल अन्न-जल त्याग देते हैं, किन्तु स्त्री-सङ्ग, अङ्गलेप आदि का भी परित्याग करते हैं, तथा रात्रि को जो चाहे सो खाते-पीते है। वे भी बच्चे वाली माँ, बूढो व बच्चो को रोजों से बरी कर देते हैं।" इस्लाम के धार्मिक सिद्धान्त 'ला इलाह इल्लिला' में ज़रतुश्त्र के वचन 'नेस्त एजद मगर यजदन' का प्रभाव स्पष्टतया दीखता है। कुरान का प्रत्येक अध्याय (नवें के अतिरिक्त) 'बिस्मिल्लाह रहिमाने रहीम' शब्दों से प्रारम्भ होता है, और ये शब्द 'बनाम यजदन बख्शिे गर ददर' आदि ज़रतुश्त्रियो के शब्दो की, जिनसे प्रत्येक ज़रतुश्त्री अपनी पुस्तक प्रारम्भ करता है, याद दिलाये बिना नही रहते। मुसलमानो की नमाज़ भी अवेस्ता की ईश-प्रार्थना के आधार पर है।

भाषा साम्य तथा सांस्कृतिक साम्य के आधार पर प्राचीन यूनान व रोम के निवासियों को आर्यों की एक शाखा कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध में सभी इतिहासकारो का एक मत है। प्राचीन यूनानियो के सम्बन्ध में सिनोबस ('एन्शण्ट सिविलिजेशन' पृष्ठ १००-१०१) लिखते हैं—"जो लोग इस छोटे-से सुन्दर देश में आ बसे थे, वे हिन्दुओं व पारसियों से सम्बन्धित आर्य थे व उन्हीं के समान एशिया के पर्वतों से या कैस्पियन समुद्र की परवर्ती तृणाच्छादित भूमि से

आये थे। यूनानी इस लम्बी यात्रा को, जो कि उनके पूर्वजों ने की थी, भूल चुके थे। वे कहते थे कि इस भूमि के टिड्डी दल के समान हम भी यही के है। किन्तु उनकी भाषा तथा उनके देवताओं के नामों के कारण उनके आर्य होने मे शका का लेश भी नहीं रहता।" यूनान के प्राचीनतम निवासी मवेशी, भेड आदि पालते थे तथा दूध व मास खाते थे। वे सामूहिक रूप से घूमते फिरते थे और हमेशा हथियारबन्द रहते थे। वे प्रकृति को भिन्न-भिन्न देवताओ के रूप मे पूजते थे, जो कि इस प्रकार हैं—ज्यूस, हेरा, एथिना, अपोलो, आर्टेमिस, हर्मिस, हेफेस-टस, एफ्रोडाइट, पोज़ीडन, डायोनिसस इत्यादि। इन देवताओं के मन्दिर रहा करते थे, जहाँ उनकी पूजा की जाती थी। इन देवताओं के कार्य, शक्ति आदि भिन्न-भिन्न थे तथा उनका निवास-स्थान हिमाच्छादित ऑलिम्फस पर्वत था। इस पर्वत पर कोई भी मर्त्य नहीं पहुँच सकता था।

प्राचीन रोम के निवासियो का धर्म यूनानियों के धर्म से भिन्न नहीं था। वे लोग भी यूनानी देवताओ को बदले हुए नामों से पूजते थे। वहाँ मूर्ति-पूजा भी प्रचलित थी। वे देवता वैदिक देवताओं के समान मालूम होते हैं। भारतीयों तथा यूनानियो के समान रोम-निवासी भी आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को मानतें थे और मुर्दों को जलाते थे। वे लोग मृतक श्राद्ध भी करते थे। इस सम्बन्ध में सिनोबस ("एन्शएट सिविलिजेशन" पृष्ठ २१४-२१९) ने जो-कुछ लिखा है वह विचारणीय है—"इसलिए जीवित व मृत दोनो के लिए महत्त्वपूर्ण था कि सब रस्में अदा की जायँ। मृत व्यक्ति के परिवार के व्यक्ति एक चिता बनाते और उस पर शव को जलाते थे, तथा राख को एक पात्र में रखकर किसी स्थान मे गाड देते थे। यही उन आत्माओं का मन्दिर माना जाता था, जो मृत्यु के पश्चात् देवता बन जाते थे। वर्ष के निश्चित दिनों मे मृत-व्यक्ति के सम्बन्धी इस स्थान पर भोजन लेकर आते थे, क्योकि उनका विश्वास था कि आत्मा को भोजन की आवश्यकता पडती है। यहाँ

जमीन पर दूध तथा सुरा उँडेल दी जाती थी, और बलि-पशु का मास जलाया जाता था। दूध व रोटियो के बरतन वही छोड दिए जाते थे। ये मृतक क्रियाएँ बहुत समय तक जारी रखी जाती थी। प्रत्येक परिवार को यह सब करना पडता था।"

रोम के निवासी अग्नि के भी पूजक थे, जो उनके घरो मे तथा सार्वजनिक स्थानो मे हमेशा जला करती थी, जिसमें सुगन्धित द्रव्य आदि डालकर हवन किया जाता था। भोजन करने के पहले प्रत्येक रोम-निवासी यज्ञ-वेदी के देवता को धन्यवाद देता था और भोजन तथा सुरा का थोडा भाग उसे प्रदान करता था। यह भारत के बलिवैश्वदेव का ही विकृत स्वरूप है। होरेस के समान नास्तिक भी भोजन करते समय यह सब-कुछ करता था। यूनानियो के समान रोम-निवासी भी विवाह को धार्मिक कृत्य समझते थे, क्योंकि धर्म की आज्ञा थी कि वंशोच्छेद न होने पाए। इसलिए प्रत्येक रोम-निवासी विवाह के समय कहता था कि मै सन्तानोत्पत्ति द्वारा वशसातत्य की रक्षा के लिए विवाह करता हूँ। यहाँ हमें पारस्करादि गृह्यसूत्रों के 'प्रजा सजनयावहै' आदि वचनो की याद सहसा आ जाती है। आज भी शास्त्रीय विवाह-पद्धति के अनुसार वर-वधू दोनों को यह प्रण करना पड़ता है कि सन्तानोत्पत्ति के लिए ही हम विवाह करते है, न कि इन्द्रिय-लोलुपता के शिकार बनने के लिए। इस प्रकार प्राचीन रोम के रीति-रिवाजो पर भारतीय झलक स्पष्ट दिखाई देती है।

प्राचीन यूनान व रोम के दार्शनिक सिद्धान्तो पर भारतीय दर्शन की छाप स्पष्ट ही है। यूनान के प्रारम्भिक दर्शन शास्त्र पर भारतीय दर्शन का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। विश्व व ईश्वर का ऐक्य, अनेकत्व का मिथ्या आभास, मानस-शक्ति व वैयक्तिक अस्तित्व का तादात्म्य आदि 'एलेटिक्स' के सिद्धान्त उपनिषदो व वेदान्त दर्शन में पाये जाते हैं। एम्पिडोक्लीज के सिद्धान्तो मे साख्य का प्रकृति के अनादित्व और अनंतत्व का सिद्धान्त स्पष्ट दीखता है। पाइथागोरस

के धार्मिक व वैज्ञानिक सिद्धान्तो पर भारत का कितना प्रभाव है, यह तो सर्वमान्य है। उसका पुनर्जन्म व पञ्चतत्त्व के सिद्धान्त को मानना, तथा उसके नाम से विख्यात रेखागणित के सिद्धान्त का उसके भी पहले आपस्तम्ब, बौधायन आदि शुल्वसूत्रों मे पाया जाना इस मन्तव्य, की पुष्टि करते हैं। प्राचीन यूनान की जनश्रुति के अनुसार थेल्स, एम्पीडोक्लीज एनेक्सेगोरस, डेमोक्रायटस आदि विद्वानों ने दर्शनशास्त्र का अध्ययन करने के लिए भारत की यात्रा की थी (मैकडॉनेल "सस्कृत लिटरेचर" पृष्ठ ४२२)। इस सम्बन्ध में सर विलियम जोन्स ('वर्क्स' १।३६०) कहते हैं—"दर्शनशास्त्रो के बारे मे यह कहना पर्याप्त होगा कि न्याय तथा पेरिपेटेटिक, वैशेषिक व आयोनिक, वेदान्त व प्लेटोनिक, साख्य व इटेलिक, योग और स्टोइक दर्शनों में समानता दिखाई देती है, जिससे गौतम की एरिस्टॉटल से, कणाद की थेल्स से, जैमिनि की सॉक्रेटीज से, व्यास की प्लेटो से, कपिल की पाइथागोरस से तथा पतञ्जलि की ज़ेनो से तुलना हो सकती है।" नियोप्लेटोनिस्ट दर्शन के आत्मा और प्रकृति का स्वतन्त्र अस्तित्व, दु ख का प्रकृति से सम्बन्ध न कि आत्मा से, आत्मा का तेज से तादात्म्य आदि सिद्धान्त साख्य के सिद्धान्तो से सम्बन्धित किये जा सकते हैं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि साख्य दर्शन ने नियोप्लेटोनिस्ट दर्शन (ईसा की प्रथम कुछ शताब्दियाँ) को प्रभावित किया था, क्योंकि उस समय भारत और मिस्र में ज़ोरदार व्यापार होता था। ईसाइयों के 'नास्टीसीजम' पर भी जो कि ईसा की दूसरी व तीसरी शताब्दी मे जोरदार था, भारत का प्रभाव पडा है। आत्मा और प्रकृति का पारस्परिक विरोध, बुद्धि मन आदि का स्वतन्त्र अस्तित्व, आत्मा व तेज का तादात्म्य, मनुष्यों का फेनामेटिकॉय, सायकिकॉय, हायलिकॉय आदि सिद्धान्त सांख्य दर्शन से लिये गए हैं। सिरिया के नॉस्टिक दार्शनिक बाडेसनिस ने भारतीय दार्शनिकों से भारत के बारे में बहुत जानकारी प्राप्त की थी। वह जैसा कि साख्य दर्शन का सिद्धान्त है, लिङ्ग-शरीर का

अस्तित्व भी मानता था। नॉस्टिकों ने स्वर्ग की भावना भी बौद्ध धर्म से ली है। वर्तमान काल मे भी उपनिषदों के दार्शनिक तत्त्व शोपनहार, हर्टमेन आदि जर्मन दार्शनिको के मन पर अमिट प्रभाव डाले बिना नहीं रहे।

पाश्चात्य जगत् विज्ञान व साहित्य के क्षेत्र मे भी भारत का कुछ कम ऋणी नहीं है। यूनानी गणित विद्या चिकित्सा शास्त्र आदि पर भारतीय प्रभाव के चिह्न आज भी दिखाई देते हैं। भारतीयो द्वारा शोधे गए अङ्को व 'सशून्य-दशाश-गणना-विधि' का उपयोग आज भी समस्त ससार में हो रहा है। इस गणना-विधि का, न केवल विश्व की गणित-विद्या पर, बल्कि सांस्कृतिक विकास पर कितना भारी प्रभाव पडा है, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। भारतीय शुल्व-सूत्र व यूनानियों के ग्रन्थो मे रेखागणित-सम्बन्धी इतनी समानता है कि गणित-विद्या के इतिहासकार केण्टोर को मान लेना पडा कि यूनान व भारत में अवश्य परस्पर आदान-प्रदान हुआ है। उसके मतानुसार शुल्वसूत्रो पर हेरो (ई० पू० २१५) के रेखागणित का प्रभाव ई० पू० प्रथम शताब्दी पर पडा है। किन्तु शुल्वसूत्र तो हेरो के कितने ही पहले के हैं व भारत मे रेखागणित का प्रारम्भ यजुर्वेद व ब्राह्मण-ग्रन्थो के काल से होता है, क्योंकि उनमे यज्ञवेदी बनाने की विधि, उसके आकार आदि का वर्णन है। अतएव यह स्पष्ट है कि भारत ने ही इस क्षेत्र मे यूनान को प्रभावित किया था। खोज से पता चला है कि यूनानियों का 'मेटिरिया मेडिका', यहाँ तक कि 'चिकित्सा-शास्त्र के पिता' हिप्पोक्रेटीज़ का भी, भारतीय आयुर्वेद के ग्रन्थो के आधार पर बना था।

यूरोप के माध्यमिक युग में भी भारत के विज्ञान, साहित्य आदि ने यूरोप को प्रभावित किया था। इस बार यह काम अरबों द्वारा किया गया था। अरब विद्वानों ने भारतीय विद्याओ को सीखकर उनका प्रचार स्पेन के विश्वविद्यालयों द्वारा यूरोप भर मे किया। इस समय अरबों का-

साम्राज्य उत्तर अफ्रीका व दक्षिण यूरोप के स्पेन आदि देशों तक फैला था। स्पेन के सेलेमेनका आदि के विश्वविद्यालयों मे भारतीय विद्या-निष्णात अरब आचार्यों के चरणो मे बैठकर भारतीय ज्ञान प्राप्त करने के लिए यूरोप के विभिन्न भागो से विद्यार्थी आते थे। अङ्कगणित, बीज-गणित, रेखागणित, त्रिज्यामिति, चिकित्साशास्त्र आदि के ज्ञान के लिए अरब विद्वान् स्वत ही अपने को भारत का ऋणी मानते है। अरबी भाषा मे अङ्को के लिए 'हिसा' (हिन्दसा) शब्द प्रयुक्त किया जाता है, जिससे स्पष्ट है कि उन्होने अङ्क-ज्ञान भारत से ही प्राप्त किया था। अबुजाफर व अलबेरुनी के समान अरब विद्वान् यह स्पष्टतया स्वीकार करते हैं कि 'सशून्य दशाश-गणना-विधि' के शोध का श्रेय भारतीयों को ही मिलना चाहिए। इस सम्बन्ध मे 'एनसायक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' में 'जीरो' पर लिखे गए लेख में लिखा है—"जो कुछ निश्चित है, वह यह है कि हमारी 'सशून्य दशाश-गणना विधि' अपने पूर्ण विकसित रूप मे, जिसके कारण 'एबेकस' के खानो के बिना भी हम सख्या गिन सकते है, भारत मे उत्पन्न हुई है। भारतीयों से यह विधि ज्योतिष के टेबलों के साथ ई० स० ७०२ के लगभग भारतीय राजदूत द्वारा बगदाद लाई जाकर अरबो के पास आई। किसी तरह ६वी शताब्दी के प्रारम्भ में सुप्रसिद्ध अबुजाफर मुहम्मद अल खारिज्मी ने इस विधि को अरबी भाषा मे समझाया। उस समय से यह धीरे धीरे अरबी जगत् मे फैलने लगी। यूरोप में बारहवीं शताब्दी मे यह विधि अपने सर्वाङ्ग रूप में अरबो से प्राप्त की गई थी, व इस पर आश्रित अङ्कगणित 'अलगोरित्-मस', 'अलगोरिथ्म' आदि नामो मे जाना जाता था। यह आश्चर्यजनक शब्द 'अलखारिज्मी' के परिवर्तित रूप के सिवाय और कुछ नहीं है, जैसी कि रेनार्ड ने कल्पना की थी। उक्त गणितज्ञ के ग्रन्थ की कैम्ब्रिज-स्थित हस्तलिखित प्रति के प्रकाशित होने पर उपरोक्त कथन को पुष्टि मिली है। खारिज्मी के अङ्कगणित की रीतियाँ बाद के पूर्वीय ग्रन्थो मे सरल बनाई गई थीं। पिसा के लियोनार्डो ने पश्चिम मे व मेक्सिमस

प्लेनेडिस ने पूर्व मे इन सरल रीतियो का प्रचार किया। अरब 'सिफ्र' के लिए लियोनार्डो द्वारा प्रयुक्त किये गए 'जेफिरो' (Zephiro) से ही अग्रेजी का जीरो (Zero) शब्द बना मालूम होता है।

प्राचीन अरब के सम्पूर्ण चिकित्सा-शास्त्र का मूल आधार आयुर्वेद के सस्कृत ग्रन्थो का अरबी अनुवाद है। ऐसा कहा जाता है कि बगदाद के खलीफाओ ने बहुत से संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद अरबी मे करवाया था। इस प्रकार अरब के चिकित्सा-शास्त्र का सूत्रपात हुआ। चरक का नाम लैटिन भाषा तक मे पहुँच गया था। अनुशीरवाँ का समकालीन बेजोयेह आयुर्वेद का अध्ययन करने भारत आया था। ईसा की आठवीं शताब्दी मे अल मन्सूर ने कितने ही सस्कृत ग्रन्थो का अरबी मे अनुवाद किया। खलीफा हारूनल रशीद ने भारतीय वैद्यो को अपने दरबार मे आमन्त्रित किया था। इस प्रकार अरब लोग चिकित्सा-शास्त्र के ज्ञान के लिए भारत के ऋणी है, जिसका प्रचार उन्होने यूरोप मे भी किया। इस सम्बन्ध मे मेकडॉनेल ("सस्कृत लिट्रेचर", पृष्ठ ४२७) ने लिखा है—"ईसा के सात सौ वर्ष पश्चात् अरबो पर भारतीय आयुर्वेद का जबरदस्त प्रभाव पड़ा है, क्योकि बगदाद के खलीफाओ ने तद्विषयक कितने ही संस्कृत-ग्रन्थो को अरबी में अनुवादित करवाया। चरक व सुश्रुत के ग्रन्थ ईसा की आठवी शताब्दी के अन्त के लगभग अरबी मे अनुवादित किये गए, और ईसा की दसवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध अरब हकीम अलरज़ी द्वारा प्रमाण-ग्रन्थ माने जाकर उद्धृत किये गए है। यह अरबी चिकित्सा-शास्त्र ईसा की सत्रहवी शताब्दी तक यूरोप के वैद्यो के लिए प्रमाणभूत रहा। यूरोपीय वैद्य भारतीय आयुर्वेद-ग्रन्थो के लेखको को भी बहुत मानते होगे, क्योकि अरब लेखक इब्नसीना, अलरजी, इब्नसरफ्यूँ आदि के ग्रन्थो के लैटिन अनुवाद में चरक का बार-बार उल्लेख आता है। आधुनिक काल मे भी यूरोपीय शल्य-विद्या ने "हिनोप्लेस्टी' के 'ऑपरेशन' का ज्ञान गत शताब्दी मे भारत से प्राप्त किया।"

साहित्यिक क्षेत्र मे भी प्राचीन भारत का यूरोप पर प्रभाव स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। प्राचीन यूनान की कुछ कथाओ पर भारतीय कथा-साहित्य का प्रभाव दिखाई देता है। किन्तु मध्यकालीन यूरोप के कथा-साहित्य पर यह प्रभाव बिलकुल ही स्पष्ट दिखाई देता है। यह प्रभाव भी अरबों के ही कारण था। ईरान के सेसानियन राजा खुसरु अनुशीरवॉ (ई० स० ५३१-ई० स० ५७९) ने सस्कृत पञ्चतन्त्र का अनुवाद बरज़ोई नामी ईरानी हकीम द्वारा पेहेलवी भाषा मे करवाया। ई० स० ५७० मे उसका अनुवाद सिरिक भाषा मे किया गया। ईसा की ८वीं शताब्दी मे पञ्चतन्त्र के पेहेलवी अनुवाद का अरबी मे अनुवाद किया गया। यह अरबी अनुवाद अत्यन्त ही महत्त्व का है, क्योंकि इस पर से बहुत से अनुवाद किये गए, जैसे बाद का सिरिक भाषा में अनुवाद (ई० स० १०००), यूनानी मे (ई० स० ११८०), फारसी मे (ई० स० ११३०) व दूसरी बार फारसी मे (ई० स० १४९४), प्राचीन स्पेनिश भाषा मे (ई० स० १२५१), हिब्रू भाषा मे (ई० स० १२५१)। यूरोप के मध्यकालीन साहित्य को बनाने मे इन अनुवादों का पूरा-पूरा हाथ था। पञ्चतन्त्र के अनुवाद की चौथी आवृत्ति केपुआ के जॉन द्वारा किये गए हिब्रू अनुवाद के लैटिन अनुवाद (ई० स० १२७०) के रूप में हुई। इस अनुवाद का नाम 'डिरेक्टोरियम ह्यूमेनी व्हिलो' था। इस पर से 'डास बुश डेर बेइस्-फेल डेर अल्टेन वायसेन' नामी जर्मन अनुवाद किया गया, जो सर्व-प्रथम ई० स० १४०१ मे छपवाया गया। उलम नगर मे इस अनुवाद के ई० स० १४८३ से १४८५ तक चार सस्करण व ई० स० १५९२ तक तेरह सस्करण और निकले। 'डिरेक्टोरियम' से इटेली भाषा मे अनुवाद किया गया, जे० ई० स० १५५२ में व्हेनिस नगर में छपवाया गया। इसी अनुवाद से ई० स० १५७० में सर टॉमस नॉर्थ ने अग्रेज़ी भाषा में अनुवाद किया। इस प्रकार इस अग्रेज़ी अनुवाद व मूल सस्कृत के प्रथम अनुवाद के मध्य अनुवादो की पाँच आवृत्तियों मे एक

हज़ार वर्ष का अन्तर हो जाता है। दमश्क के जॉन द्वारा यूनानी भाषा मे लिखित 'बरलाम व जोसेफेट्स' का कथा संग्रह भारतीय कथा साहित्य के पाश्चात्य देशो मे प्रचार के इतिहास मे अत्यन्त ही महत्त्व पूर्ण है। यह जॉन ईसाई था व खलीफ अल मन्सूर (ई० स० ७५३-७७४) के दरबार मे रहता था, जबकि 'कालिलाह व दिमनाह" का अनुवाद अरबी भाषा मे किया गया था। जॉन द्वारा लिखित पुस्तक धीरे-धीरे ईसाई मत की धर्म पुस्तक बन गई, और वह मध्य युग में एशिया व यूरोप की बहुत सी भाषाओ मे अनुवादित की गई। इसमे भारतीय कथाएँ सग्रहीत की गई है। कथानायक भी बोधिसत्त्व के अतिरिक्त और दूसरा नही है, क्योंकि जोसेफेट उसी का विकृत रूप है, यह जोसेफेट ग्रीक व रोमन चर्च मे ईसाई सन्त के पद तक पहुँच गया, यहाँ तक उसका एक दिवस भी निश्चित कर दिया गया—ग्रीक चर्च मे २६ अगस्त व रोमन चर्च मे २७ नवम्बर। यथार्थ में, विश्व के धार्मिक इतिहास मे यह बडे ही आश्चर्य की बात है कि बौद्ध धर्म का बोधिसत्त्व ईसाई-मत मे एक महान् ईसाई सन्त मान लिया जाय।

कथा-साहित्य के साथ-ही-साथ शतरञ्ज (चतुरङ्ग) के खेल ने भी भारत से अपनी पश्चिमी यात्रा प्रारम्भ कर दी थी। यूरोप के मध्य-कालीन सामन्त, जिन्हे कुछ काम न था व जिनके लिए समय बिताना भी मुश्किल था, इसी शतरञ्ज के खेल को खेलकर तथा पञ्चतन्त्र को पढ-कर अपना समय बिताते थे। सचमुच मे यह प्राचीन भारत के लिए गौरव की बात है कि वह मध्यकालीन यूरोप के निकम्मे सामन्तों को काल-यापन की मनोरञ्जन व शिक्षा से परिपूर्ण सामग्री प्रदान कर सका।

प्राचीन लेख—बेबिलोनिया, मिस्र आदि के प्राचीन लेखो से भारतीय सस्कृति के पाश्चात्य देशो पर प्रभाव का स्पष्टीकरण होता है। पश्चिमी एशिया, उत्तर अफ्रीका आदि के विभिन्न प्रदेशो में आर्य लोग ई० पू० १८०० वर्ष के लगभग बस गए थे। बेबिलोनिया, मिस्र आदि के प्राचीन लेखों से इस कथन की पुष्टि होता है। ई० पू० १७६० वर्ष

के 'केसाइट' जाति के लेख मिले हैं, जिनमे उनके राजाओं के नाम उल्लिखित हैं। उन नामो में वैदिक देवताओ के नाम अंश रूप से दिखाई देते है, जैसे 'सुरियस', 'मरुत्तस', 'बगस्' आदि। इन केसाइट लोगों ने रथ मे घोडे जोतने की प्रथा बेबिलोनिया आदि मे प्रारम्भ की थी। घोडे के अर्थ मे प्रयुक्त किया जाने वाला बेबिलोनिया की भाषा का 'सुसु' शब्द संस्कृत के अश्व शब्द से बना मालूम होता है। केसाइट-लेखों के तीन शताब्दी बाद के टेल-एल-अमर्ना के राजकीय पत्रों (ई० पू० १४०० वर्ष के लगभग) से मालूम होता है कि पश्चिमी एशिया के मिटान्नी लोगो पर यूफेटिस नदी के ऊपरी किनारे के भाग में आर्यवंश के राजा राज्य करते थे। इन राजाओ के नाम पूर्णतया भारतीय थे, जैसे सुत्तर्न, दसरत्त, अर्ततम, तथा ये राजा वैदिक देवताओ के उपासक थे। इन्हीं पत्रो में सिरिया व पैलस्टाइन मे राज्य करने वाले भारतीय राजाओ के नाम भी उल्लिखित है, जैसे 'येनोम का बिरिदास', 'कीलह का सुवरदत', 'तानाश का यसदत', 'तिरबशान का अर्तमान्य' इत्यादि। ई० स० १९०७ मे विक्लर ने यह प्रमाणित किया कि ई० पू० १३६० के एक सन्धि-पत्र मे साक्षी रूप से जिन देवताओं का आह्वान किया गया है, उनमे चार वैदिक देवता भी हैं, जैसे 'इन्द्-अ-र' (इन्द्र), 'उरुव्-न' या 'अ-रु-न' (वरुण), 'मित्र' व 'नासत्य'। कुछ वर्षों पूर्व एशिया मायनर के बोगेसकुई स्थान से प्राचीन हिट्टाईट-लेखों मे कुछ प्राचीन मिटान्नी लेख मिले है। उनमे अश्व-पालन के विषय में लिखा है और "ऐकवर्तन्त वसन्न सत्र" आदि वचनो मे 'ऐक', 'तेरस्', 'पंजस्', 'सत्त', 'नव' आदि भारतीय संख्याओं का उल्लेख है। इन लेखो से यह भी ज्ञात होता है कि उस समय मिटान्नी लोगों मे योद्धाओं की एक जाति थी, जो 'मरन्न' कहलाती थी। इस शब्द को संस्कृत के 'मर्य' शब्द से सम्बन्धित किया जाता है (चाइल्ड—'दी आर्यन्स', पृष्ठ १८-२१)। प्राचीन मिस्र के एखनॉटन नामी राजा के राजत्वकाल के पहले हिक्सॉस नामी विदेशी जाति ने आक्रमण किया और उसने मिस्र मे रथ के उप-

योग का श्रीगणेश भी किया। एखनॉटन का एकेश्वरवाद जो मिस्र के लिए बिलकुल ही नई बात थी, कदाचित् हिक्सॉस-आक्रमण का फल हो, क्योंकि हिक्सॉस आर्य थे व एकेश्वरवाद को भली भाँति अपना चुके थे। हिक्सॉस लोगो के आर्य होने मे किसी ऐतिहासिक को सन्देह नही है। इन सब ऐतिहासिक प्रमाणो से स्पष्ट है कि ईसा के लगभग १५०० या १६०० वर्ष पूर्व पश्चिमी एशिया मे भारतीय आर्यों का प्रभुत्व जम गया था और उन्होने वहाँ की संस्कृति को भी प्रभावित किया था। इस प्रकार प्राचीन काल से ही पाश्चात्य देशों पर भारतीय सस्कृति के प्रभाव के चिह्न स्पष्टतया दृष्टिगोचर होते है।

पूर्वीय देशो मे भारतीय संस्कृति—पश्चिमी देशों के समान पूर्वीय देशो पर भी प्राचीन काल मे भारतीय सस्कृति की जबरदस्त छाप पडी थी, जिसके चिह्न आज भी वर्तमान है। इस कार्य मे बौद्ध-धर्म का बडा भारी हाथ रहा है। चीन के इतिहासकारो के मतानुसार ई० पू० २१७ वर्ष के लगभग बौद्ध-प्रचारक चीन में पहुँचे थे और अपने धर्म का प्रचार करने के अपराध मे गिरफ्तार कर लिये गए थे। इसके कितने ही समय पश्चात् चीनी सम्राट् ने एक बार सपने में देखा कि एक पीले देवता पूजा चाहते है। राज्य के ज्योतिषी ने इस सपने का यह मतलब निकाला कि पीले देवता से गौतम बुद्ध का तात्पर्य है। इस पर सम्राट् ने भारत से बौद्ध भिक्षु बुलवाये और ई० स० ६७ मे भारत से काश्यप व मातङ्ग नाम के दो भिक्षु भारत से चीन भिजवाये गए। इस प्रकार चीन मे बौद्ध-धर्म का प्रचार प्रारम्भ हुआ। बौद्ध-साहित्य का चीनी भाषा में अनुवाद किया जाने लगा। परिणामत चीन मे बौद्ध-धर्म की जडें मजबूत होने लगीं। किन्तु कन्फ्यूशियस का मत इसके मार्ग में रोडे अटकाने लगा, क्योंकि बौद्ध सिद्धान्तों के अनुसार संसार को छोडकर भिक्षु का जीवन व्यतीत करना पडता था। इस विरोध के कारण लगभग दो शताब्दी तक किसी भी चीनी को बौद्ध सङ्घ मे सम्मिलित होने की अनुमति नहीं दी जाती थी। किन्तु भारत से बौद्ध

भिक्षु बराबर चीन जाते ही रहे। उनके प्रयत्नों के परिणामस्वरूप ईसा की चौथी शताब्दी मे चीनियो को बौद्ध सङ्घ में सम्मिलित होने की अनुमति मिल गई। अब चीनियो ने भी भारत की पवित्र भूमि की यात्रा प्रारम्भ कर दी। सुप्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु कुमारजीव चीन मे ही था, जबकि चीनी बौद्ध यात्री फाहियान भारत में आया था। ईसा की ८वीं शताब्दी मे, जब इत्सिग, जो एक चीनी बौद्ध यात्री था, भारत की यात्रा कर रहा था तब उसे भारत मे कितने ही चीनी भिक्षु मिले, जो पवित्र भारत-भूमि के दर्शनो के लिए आये थे। इस प्रकार चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार व प्रसार स्पष्ट हो जाता है। इस सम्बन्ध में रेवे० जोसेफ एड्किन्स ('जर्नल ऑफ दी रॉयल एशियाटिक सोसायटी', अक्टूबर १९३३, पृष्ठ ८९७-९००) कहते है—"चीन मे जो बौद्ध-धर्म का विकास तीव्र गति से हुआ था वह निकटवर्ती देशों से छिपा नहीं था। चीन के राजा शुङ्गवेनटि के राजत्वकाल मे, जिसने तीस वर्ष से अधिक राज्य किया और जिसका अन्त ई० स० ४५३ में हुआ, भारत व चीन के मध्य-स्थित देशो के राजदूत चीन पहुँचे थे। उनके चीन जाने का उद्देश्य यह था कि वे चीन मे बौद्ध धर्म के विकास के लिए वहाँ के राजा को बधाई दें, जिससे भविष्य मे उनके देशों का चीन से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो जाय, क्योंकि वे भी बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। इस राज-वश के इतिहास मे अरबन के राजा पिशनवर्मा का उक्त चीन-सम्राट् को भेजा हुआ पत्र आज भी सुरक्षित है।"

भिन्न-भिन्न चीनी सम्राटों के राजत्वकाल में बौद्ध धर्म की कभी उन्नति और कभी अवनति होती रही। ईसा की सातवीं शताब्दी तक बौद्ध धर्म के विकास को कोई विशेष धक्का नहीं पहुँचाया गया। इसके पश्चात् राष्ट्रीय धर्म तथा गार्हस्थ्य जीवन पर अधिक प्रेम होने के कारण ऐसा राज-नियम बनाया गया, जिससे लगभग १२००० चीनी बौद्ध भिक्षुओ को जबरदस्ती गृहस्थ बनना पड़ा। ईसा की ९वीं शताब्दी में

भिक्षुओ को गृहस्थ बनना पडा। ईसा की १०वीं शताब्दी मे ३०,००० बौद्ध मन्दिर बन्द कर दिये गए। इतना सब करने पर भी चीन से बौद्ध धर्म न निकाला जा सका। किन्तु उसे वहाँ के राष्ट्रीय धर्म 'टाओइज्म' के साथ कुछ आदान-प्रदान करना पडा। उसके कुछ देवता बौद्ध धर्म में अपनाये गए व उसने बौद्ध मठ-प्रथा को अपना लिया। अब कोई भी बौद्ध भिक्षु किसी भी रुकावट के बिना गृहस्थाश्रम मे प्रवेश कर सकता था। इस प्रकार बौद्ध धर्म चीनियो के जीवन में ओत प्रोत हो गया, जैसा कि आजकल भी है।

तिब्बत मे बौद्ध धर्म का प्रचार कुछ आकस्मिक कारणों से हुआ। ई० स० ६३२ के लगभग वहाँ स्ट्रागसेन नामी सशक्त और महत्त्वाकाक्षी राजा राज्य करता था उसकी इच्छा चीन व नेपाल से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने की हुई, जहाँ के राजा पूर्णतया बौद्ध थे। इसलिए, वहाँ की राजकुमारियों के लिए उसे भारत से बौद्ध भिक्षु बुलवाने पडे। सुप्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यूएनसेग के समय में तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रचार प्रारम्भ हो चुका था। उसने तिब्बत के उस राजदूत को देखा था, जो अपने देश को बौद्ध साहित्य ले जाने के लिए भारत आया था। स्ट्रागसेन से छठी पीढी के राजा के राजत्वकाल मे नालन्दा का पद्म सम्भव नामी बौद्ध भिक्षु बौद्ध धर्म की देख-भाल के लिए तिब्बत बुलवाया गया था। बिहार व बङ्गाल के बौद्ध धर्म पर तान्त्रिक प्रभाव पडने के कारण तिब्बत का बौद्ध धर्म विकृत हो गया। वहाँ ई० स० ७४९ मे पहला बौद्ध मठ बनवाया गया। उस समय तिब्बत का राष्ट्रीय धर्म 'बॉनपूजा' था। इसमें भूत, पिशाच, शिव आदि की पूजा की जाती थी, तथा मनुष्यों को भी बलि दिया जाता था। ऐसी भूमि मे बौद्ध धर्म सरलता से अपने पैर जमा सका, किन्तु वहाँ का मौलिक धर्म पूर्णतया निकाला न जा सका। ईसा की ९वीं शताब्दी मे बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद तिब्बती भाषा मे किया गया, तथा भिक्षु व भिक्षुणियों को राजोचित अधिकार दिये गए। ईसा की १०वीं शताब्दी मे बौद्ध धर्म

के विकास को जरा धक्का लगा, क्योंकि उस समय का राजा बौद्ध धर्म के विपरीत था, किन्तु थोडे ही समय मे वह मार डाला गया। ईसा की १३वी शताब्दी मे तिब्बत मगोलो के अधिकार में गया। मगोलों सम्राट कुबलाखाँ बौद्ध धर्म के राजनीतिक महत्त्व को समझ गया और उसने मगोलिया मे इसके प्रचार का आदेश दिया। इस इकार मगोलिया मे भी तिब्बती बौद्ध धर्म ('लामाइज्म) का प्रचार हो गया। ईसा की १५ वीं शताब्दी मे साग-कापा लामा ने बौद्ध धर्म को सुधारा और उसके सगठन को अधिक कडा बनाया। उसने इस सिद्धान्त को प्रतिपादित किया कि प्रत्येक लामा पद्मसम्भव का अवतार है। इसके पश्चात् की शताब्दी मे लामा 'अवलोकितेश्वर बाधिसत्व' का अवतार माना जाने लगा।

ई० स० ३७२ के लगभग चीनियों ने कोरिया में बौद्ध धर्म का प्रचार किया। उस समय कोरिया के तीन विभाग थे। उन तीनों विभागो ने धीरे-धीरे बौद्ध धर्म अपना लिया। पचास वर्ष मे पूरे देश ने इस नये धर्म को अपना लिया। ई० स० ९१२ में तीनों राजवश एक हो गए। यह नया राजवश बौद्ध धर्म का इतना हिमायती था कि उसने यह राजनियम बनाया कि किसी भी व्यक्ति के तीन पुत्रो मे से एक को बौद्ध सङ्घ मे अवश्य ही प्रविष्ट होना चाहिए। ईसा की १६वीं शताब्दी मे इस राजवश का अन्त हुआ। उसके पश्चात् जो राजवश आया, उसने बौद्ध धर्म को राजधर्म स्वीकार नही किया। इस प्रकार कोरिया मे बौद्ध धर्म का पहला प्रभुत्व न रहा, तो भी आज वह वहाँ बहुत शक्तिशाली है।

कोरिया से जापान भेजे गए बौद्ध प्रचारको का पहले अच्छा स्वागत नही किया गया। किन्तु ईसा की ७वीं शताब्दी मे जापान के राजा ने बौद्ध धर्म का पक्ष ग्रहण किया और बौद्ध धर्म का प्रचार बढ़ने लगा। ईसा की आठवीं शताब्दी मे वहाँ ऐसा राजनियम बनाया गया कि शिन्तो देवता बोधिसत्व के अवतार ही है। इस प्रकार ईसा की

१७वीं शताब्दी तक बौद्ध धर्म जापान के सास्कृतिक जीवन का केन्द्र रहा। ईसा की १७वीं शताब्दी मे उच्च वर्ग के लोगो ने कन्फ्यूसियस के सिद्धान्त मान लिए, किन्तु साधारण जनता तो बौद्ध सिद्धान्तो को ही मानती रही। ई० स० १८६७ तक बौद्ध धर्म का यह स्थान बना रहा। उसी वर्ष जापान मे क्रान्ति हुई और उसके परिणामस्वरूप 'शिन्तोइज्म' को राजधर्म स्वीकार कर लिया गया। इससे बौद्ध धर्म को बडी ठेस लगी। फिर भी आज तक जापान मे बौद्ध धर्म का प्रभुत्व बना ही हुआ है, यहाँ तक कि ईसाई मत भी उसकी बराबरी नहीं कर सकता।

बौद्ध ग्रन्थ दिव्यादान से मालूम होता है कि अशोक ने सोण व उत्तर को बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए ब्रह्मदेश मे भेजा था। इसके परिणामस्वरूप, पेगु व अराकान मे बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। ब्रह्मदेश की जनश्रुति के अनुसार ईसा की पाँचवीं शताब्दी मे सिहलद्वीप के बुद्धघोष ने वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार किया। यह बुद्धघोष पहले मगध मे रहता था। सिहलद्वीप मे उसके जीवन के बारे मे जो-कुछ जनश्रुति प्रचलित है, उसमे उसके ब्रह्मदेश मे प्रचार का कोई उल्लेख नही है। कदाचित् उसका कोई शिष्य ब्रह्मदेश गया हो। ब्रह्मदेश के लोगो का अपना कोई धर्म नहीं था। अतएव उन्होने इस नये धर्म को एकदम अपना लिया। आज, ब्रह्मा बौद्ध धर्म ही एक-मात्र धर्म है।

चीनियों के ऐतिहासिक ग्रन्थो तथ मध्य एशिया मे की गई खोज के द्वारा यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि मध्य एशिया मे भी बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ था, जहाँ तक भारत के बौद्ध सम्राट् कनिष्क का राज्य विस्तार था। ईसा की प्रथम छ या सात शताब्दियो तक वहाँ बौद्ध धर्म का प्राबल्य रहा। चीनी यात्री यूएनच्वेङ्ग (ईसा की ७वीं शताब्दी) ने इस देश का अच्छा वर्णन किया है। लौटती बार वह चीनी यात्री काशगर, खोटान, यारकन्द आदि होता हुआ चीन गया।

उसने प्रत्येक स्थान में बौद्ध धर्म को बहुत शक्तिशाली पाया। उस समय वहाँ के बौद्ध मठों मे हजारों बौद्ध भिक्षु रहते थे। यूएनच्वेङ्ग ने लिखा है कि वहाँ के लोगो में किसी प्रकार की समानता न थी। उनकी वेश-भूषा, भाषा, लेखन-शैली, रीति-रिवाज आदि सब भिन्न-भिन्न थे। उनमे केवल बौद्ध धर्म की ही समानता थी। तुर्कों ने उन सबको जीता और उन्हे एकता के सूत्र मे बाँध दिया। फिर भी पूर्वी तुर्किस्तान धार्मिक दृष्टि से तो भारत का ही एक अग था। धीरे-धीरे वहाँ ईसाई मत ने भी प्रवेश किया। किन्तु, वहाँ शीघ्र ही इस्लाम का पदार्पण हुआ और उसने धीरे-धीरे बौद्ध धर्म को धर दबाया। ईसा की १४वीं शताब्दी के पश्चात् से इस्लाम प्रबल हो गया। ई० स० १७५० मे मध्य एशिया चीन के अधीन हो गया, किन्तु धर्म मे कोई परिवर्तन न हुआ।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वीय देशों मे बौद्ध धर्म का प्रचार कब व कैसे हुआ। इस सम्बन्ध में कनिङ्घम ('एन्शएट जॉग्राफी ऑफ इण्डिया' भूमिका, पृष्ठ ३५-३६) लिखते हैं—"हाल ही मे की गई खोज के द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ बौद्ध प्रचारकों का कितना प्रभाव था। तिब्बत, चीन, जापान, मचूरिया आदि के साथ भारत का जो सम्बन्ध रहा, उस पर कोई टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है। यहाँ तक कि मचूरिया के दूरवर्ती लॉर्ड नॉर्थ द्वीप मे भी बौद्धो ने अपने धर्म का प्रचार किया था।"

ब्राह्मण-धर्म का प्रचार—ईसा की प्रथम व द्वितीय शताब्दी मे पूर्वी द्वीप समुदाय मे ब्राह्मण धर्म का प्रचार प्रारम्भ हो गया था। प्राचीन तामिल साहित्य मे उन द्वीपों तक की जाने वाली समुद्र-यात्रा का उल्लेख आता है। वाल्मीकि रामायण (किष्किन्धा काण्ड ४०।३०) मे यव द्वीप के नाम से जावा का उल्लेख किया गया है। पूर्वी बोर्नियो में मूल वर्मा नामी किसी राजा के ईसा की चौथी शताब्दी के चार यूपलेख ढूँढे गए हैं, जिनमे ब्राह्मणों के एक उपनिवेश का उल्लेख

है, जिन्होने शुद्ध वैदिक रीति से वहाँ यज्ञ किया था। चीनी यात्री फाहियान के उल्लेख से भी मालूम होता है कि ईसा की चौथी शताब्दी में जावा मे ब्राह्मण रहते थे। फाहियान (लेगी—'फाहियान' अ० ३६) ने लिखा है—"इस प्रकार ६० दिन तक आगे बढने पर वे 'जवद्वीप' नामी देश मे पहुँचे, जहाँ नाना प्रकार के भ्रमपूर्ण मत व ब्राह्मण-धर्म प्रचलित हैं। बौद्ध धर्म का तो नाम भी नहीं लिया जा सकता।" जावा में ब्राह्मण धर्म के प्रभाव के बारे मे 'इन्टरनेशनल ज्यॉग्रफी' (एच० एल० मिल द्वारा सम्पादित, पृष्ठ ५६२) मे लिखा है—"जावा का पश्चिमी भाग सुण्डानीज लोगो से बसा हुआ है, इस के पूर्वी छोर पर मदुरा द्वीप मदुरीज लोगों से बसा हुआ है। सब-के-सब मलायिज है, किन्तु जावानीज मे हिन्दू-रक्त का अश है। इनके अतिरिक्त बहुत से चीनी, अरब और अन्य राष्ट्रो के लोग भी यहाँ रहते हैं। यहाँ की तीन मुख्य भाषाएँ हैं, जो कि परस्पर भिन्न है। जावानीज भाषा सबसे अधिक विकसित व बृहत् है। इसके दो रूप है—साहित्यिक और बोल-चाल का रूप। इसकी अपनी एक लिपि भी है, जिसका उद्गम भारत में हुआ है। ये सब लोग मुसलमान है, किन्तु पश्चिम मे 'पेगेनिज्म' और पूर्व में 'ब्रह्मनिज्म' से प्रभावित हैं। • मलाया लोगों के बाद, जहाँ तक ज्ञात है, सर्वप्रथम भारतीय यहाँ आकर बस गए। ई० स० १४७८ मे मुसलमानो द्वारा हराये जाने के लगभग ८०८ वर्ष पूर्व भारतीय वहाँ आये। उन्होने अपने धर्म और अपनी ऊँची संस्कृति का जावा व बाली द्वीपो में प्रचार किया, जोकि प्राचीन मन्दिरो और नगरो के खण्डहरो से स्पष्ट हो जाता है।"

बाली द्वीप मे भी प्राचीन ब्राह्मणो ने अपना उपनिवेश स्थापित किया था। यहाँ आज भी कितने ही प्राचीन हिन्दू-मन्दिर वर्तमान है। वर्तमान बाली-निवासियो का धर्म 'ब्राह्मण धर्म' से बहुत मिलता-जुलता है। आज भी वे हिन्दू देवता तथा हिन्दू साहित्य को पूज्य मानते है। वे गाय को पवित्र मानते हैं व उसका दूध तक नही पीते। इस सम्बन्ध मे

'इण्टरनेशल ज्यॉग्रफी' (पृष्ठ ५६३) मे लिखा है—"बालिनीज़ मलायोज है और उनमे हिन्दू-रक्ताश है। ये अभी भी ब्राह्मण-धर्म को मानते है, जोकि द्वीप समुदाय में कही नहीं बच पाया। उनका साहित्य उन्ही की भाषा में है, जो जावानीज से कुछ भिन्न है।"

इसके अतिरिक्त स्याम, कम्बोडिया, इण्डोचाइना आदि देशों पर भो भारतीय संस्कृति का पर्याप्त प्रभाव पडा है, जिसके कुछ चिह्न आज भी दृष्टिगोचर होते हैं।

इस प्रकार प्राचीन भारतीयो ने अपनी संस्कृति को विश्व के विभिन्न भागों मे फैलाया था।

१५

उपसंहार

मानव-सस्कृति—भारतीय सस्कृति के बारे मे पिछले पृष्ठो मे जो कुछ लिखा गया है, उससे इस प्राचीन सस्कृति का महत्त्व समझ में आ जायगा। इस संस्कृति पर ऐतिहासिक तथा आलोचनात्मक दृष्टि डालने से स्पष्ट होता है कि यद्यपि यह अत्यन्त ही प्राचीन है, तथापि एक प्रकार से नवीन ही है। ऋग्वेद की उष के समान यह भी 'युवति पुराणी' कही जा सकती है। यह सस्कृति ऐसे सिद्धान्तो पर आश्रित है, जो पुराने होते हुए भी नये हे। जिस प्रकार सूर्यादि पुराने होते हुए भी आज तक मानव-जीवन के लिए हितकारी हैं, अतएव नये कहे जा सकते हैं, ठीक वही हाल भारतीय सस्कृति का भी है। यदि बारीकी से विचार किया जाय तो मालूम होगा कि इस सस्कृति की जड में वे सिद्धान्त हैं, जिनसे किसी देश-विशेष या जाति-विशेष का ही नहीं, अपितु समस्त मानव-जाति का सतत कल्यण हो सकता है। भारत के प्राचीन ऋषि-मुनियों के सामने यही बृहत् दृष्टिकोण उपस्थित था किस प्रकार मानव-समाज् का कल्याण हो और मनुष्य-मात्र सुखी हो। प्राचीन भारत के आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक आदि सिद्धान्तों को यदि इस कसौटी पर कसा जाय, तो निस्सदेह वे खरे उतरेंगे। ये ही सिद्धान्त इस सस्कृति के प्राण हैं, तथा देश-कालादि से अबाधित हैं। इस दृष्टि से यदि इस संस्कृति को देश-कालादि से सम्बन्धित न करते हुए मानव-सस्कृति कहा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा। यथार्थ में, सब विश्व व सब काल मे केवल दो ही सस्कृतियाँ

हो सकती है, जैसे मानव-सस्कृति, जो गीता मे वर्णित दैवी सम्पत्ति के धरातल पर और दानव संस्कृति, जो गीता में वर्णित आसुरी सम्पत्ति के धरातल पर स्थित रहती है।

जीवन-शक्ति व विश्व-व्यापी प्रभाव—मानवता के सिद्धान्तो पर स्थित होने के कारण ही भारतीय सस्कृति इतनी प्राचीन होते हुए भी आज वर्तमान है, चाहे काल के प्रताप से उसका स्वरूप विकृत भले ही हो गया हो। किन्तु आज भी उसमें वह अग्नि है, जिसको यदि देदीप्यमान किया जाय, तो उसके प्रकाश से समस्त विश्व पुन जगमगा उठेगा। इसी जीवन-शक्ति के कारण उसने कितने ही आघातों को सहन किया और अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखा। पहले-पहल तो यह सस्कृति इतनी दृढ़काय तथा जीवन से परिपूर्ण थी कि उसने समस्त विश्व में अपना प्रकाश फैला दिया था। प्राचीन काल की अन्य सस्कृतियाँ उसके प्रकाश में चौंधिया गई थीं। प्राचीन भारतीय वेदों का पवित्र सदेश लेकर विश्व के विभिन्न भागों मे पहुँचे और मानव-जाति के लिए कल्याणकारी सस्कृति का पाठ पढ़ाने लगे। कुछ अग्निहोत्री ब्राह्मण जाकर ईरान में बस गए, तथा वहाँ उन्होंने सस्कृति का सूर्योदय किया। इसी सास्कृतिक प्रकाश से यहूदी, ईसाई, इस्लाम आदि मतों ने प्रेरणा प्राप्त की। भारत के क्षत्रिय प्राचीन बेबिलोनिया, सीरिया, मिस्र आदि देशों में पहुँचे और उन्होंने वहाँ अपना राज्य स्थापित किया तथा वहाँ के लोगों को अपनी सस्कृति का पाठ पढाया। प्राचीन यूनान रोम आदि देशों में भारतीय आर्य पहले ही से बस गए थे। इस प्रकार पाश्चिमात्य जगत् इस सस्कृति से प्रकाशित होने लगा था, जिसके कुछ अंश को आज भी यूरोप में देखा जा सकता है। आज से लगभग २३०० वर्ष पूर्व भारतीय सम्राट् अशोक ने पश्चिमी एशिया, अफ्रीका, यूरोप आदि में बौद्ध प्रचारक भेजकर इस सस्कृति के प्रकाश को अधिक देदीप्यमान किया। पौर्वात्य देशों का भी यही हाल रहा। भारतीय संस्कृति ने बौद्ध धर्म के रूप में मध्य एशिया, तिब्बत, मगोलिया,

चीन, कोरिया, जापान आदि देशो को सास्कृतिक जीवन प्रदान करके अपने तेज से उन्हे प्रकाशित किया। ब्राह्मणो ने यही काम जावा, सुमात्रा, बोनियो, बाली आदि द्वीपो में किया। इस प्रकार प्राचीन भारतीयो ने अपनी सस्कृति को विश्व-व्यापी बनाने का प्रयत्न किया।

संस्कृति पर प्रहार—ऐतिहासिक काल मे इस सस्कृति पर कितने ही प्रहार हुए। ईसा की १२वीं शताब्दी तक तो इन प्रहारों का इसके सुदृढ़ कार्य पर कोई असर न हुआ। इसके विपरीत आघात-कारियों को ही इसके चरणो मे बैठकर इसका शिष्यत्व स्वीकार करना पडा। यूनान का सिकन्दर विश्व-विजेता बनकर भारत जीतने आया। वह पञ्जाब की ब्यास नदी तक गिरते-पडते पहुँच गया, किन्तु जब वहाँ उसके सिपाहियों ने सुना कि पूर्व मे एक बडा भारी साम्राज्य है, तो उनके छक्के छूट गए। आगे बढ़ने की इच्छा रहते हुए भी उसे वापिस लौटना पडा। भारतीय संस्कृति पर सिकन्दर के आक्रमण का कोई प्रभाव नहीं पडा। इसके विपरीत उसे ही तक्षशिला के नगे फकीरों से बुरी तरह हार खानी पडी। इसके पश्चात् यूनानी, पार्थियन, शक आदि विदेशी जातियाँ भारत के पश्चिमोत्तर भाग में बसने लगीं। ये जातियाँ राजनीतिक दृष्टि से भले ही कुछ समय तक विजयी रही हों किन्तु सास्कृतिक दृष्टि से तो भारत ने उन्हें पूर्णतया जीत लिया था। बैक्ट्रियन आक्रमणकारी मीनन्दर ने बौद्ध-सिद्धान्तों के सामने अपना सिर झुकाया और परिणामत 'मिलिन्द पञ्हो' के साहित्य का जन्म हुआ। यूनानी राजा एण्टीयाल्कीडास का राजदूत विदिशा जाकर वैष्णव बन गया, तथा उसने अपने को 'परम भागवत' पदवी से विभूषित किया। शक, यूशी आदि विदेशी जातियाँ भी इस सस्कृति द्वारा पचा ली गईं। कनिष्क, वासुदेव आदि यूशी जाति के रहते हुए भी सास्कृतिक दृष्टि से पूर्णतया भारतीय ही थे, जैसा कि शकक्षत्रप रुद्रदामा के गिरनार-लेख से स्पष्ट होता है। हूणों का भी यही हाल हुआ। तोरमाण मिहिरगुल आदि हूण राजा पक्के शैव बन गए, जैसा कि उनके

स्तम्भ-लेखों से स्पष्ट है। इस प्रकार ईसा की १२वीं शताब्दी तक भारतीय सस्कृति की पाचन-क्रिया बहुत ही अच्छी थी। किन्तु उसके पश्चात् वह बिगडने लगी।

मुस्लिम आक्रमण—राजनीतिक और सास्कृतिक दृष्टि से मुस्लिम आक्रमण भारत के लिए अवश्य हानिकारक थे। सास्कृतिक दृष्टि से मुस्लिम आक्रमणकारी भारतीयो से ऊँचे तो नही थे, किन्तु उनमें स्वमत-प्रचार का जोश था। इस समय काल-गति से भारतीय संस्कृति का कलेवर जर्जरित हो गया था। इसलिए इन जोरदार आक्रमणों की चोट से वह सहम गया। परिणामत ये आक्रमणकारी पचाये न जा सके। भारतीयों में से कुछ इस्लाम की भेंट चढ़े। इस आघात के पश्चात् भी यह सस्कृति बहुत सँभली। समय के फेर से इसे नये रूप की आवश्यकता थी। कबीर, तुलसी, नरसिह मेहता, चैतन्य, तुकाराम, वल्लभ आदि मध्यकालीन सन्तों व भक्तों ने इस कमी को पूरा किया। ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि की भक्ति रूपी त्रिवेणी नये सिरे से बहाई गई। इसमें भारतीय सस्कृति का वही प्राचीन अमृत था, जिसने पुन भारत के सास्कृतिक जीवन को सजीव बना दिया।

अग्रेजी साम्राज्य की स्थापना—ईसा की १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध मे इस जर्जरित काय भारतीय सस्कृति पर एक और जबरदस्त आघात पडा, और वह था अग्रेज़ी साम्राज्य की स्थापना के परिणाम स्वरूप इसका पाश्चात्य संस्कृति से संघर्ष। इस सघर्ष के कुछ समय बाद तक ऐसा मालूम होता था कि कदाचित् यह सस्कृति सदा के लिए ससार से विदा हो जायगी, किन्तु मानवता के सनातन सिद्धान्तों पर आश्रित सस्कृति में जीवन क्षीण नहीं हुआ था। इस जबरदस्त आघात से कुछ समय के लिए मूर्च्छा अवश्य आ गई थी। किन्तु इसे पुनः चेत आया और वह उठ बैठी। राजा राममोहनराय, स्वामी दयानन्द, स्वामी रामतीर्थ, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द आदि दिव्य विभूतियों ने इस सस्कृति मे पुनः चेतना-शक्ति भर दी। भारतीय जाग

है। ऐसी विकट परिस्थिति मे विश्व को भारत मे ही आशा की किरण दिखाई देती है। विश्व के दूरदर्शी विचारकों का यह विश्वास है कि प्राचीन भारतीय सस्कृति ही मानवता की रक्षा कर सकती है। ऐसी परिस्थिति में भारतीयो का उत्तरदायित्व बहुत बढ जाता है। उन्हे चाहिए कि वे अपनी प्राचीन सस्कृति को समझें और यह जानने का प्रयत्न करें कि किस प्रकार इसके द्वारा मानव-जाति का कल्याण किया जा सका था। साथ ही, उन्हे इसके मूलभूत सिद्धान्तो को अपने जीवन में ओत-प्रोत करना चाहिए। वे अपने पूर्वजो के गौरवशील कर्मों से अपने लज्जास्पद कर्मों की तुलना करें और उससे कुछ शिक्षा प्राप्त करके अपना उद्धार करें। इसी प्रकार वे भारतीय संस्कृति के तत्त्वों को आत्मसात् कर सकते हैं और यन्त्र-युग-जन्य स्वार्थपूर्ण आर्थिक अहमहमिका तथा अणु-बम आदि महा भयकर अस्त्र-शस्त्रों को जन्म देने वाली दानव-सस्कृति से परित्रस्त विश्व को औपनिषदिक ऋषि, बुद्ध और गान्धी को जन्म देने वाली मानव-सस्कृति का अमृत पिलाकर शाश्वत शान्ति का अनुभव करा सकते हैं।

सस्कृति के दोष—भारतीय सस्कृति के गुणों के साथ-साथ काल-वशात् जो उसमे दोष आ गए हैं, उन्हें भूलना नही चाहिए। समाज को सगठित और सुव्यवस्थित बनाने के लिए आयोजित वर्ण-व्यवस्था आज बहुत ही बिगड गई है। उसी से समाज में ऊँच-नीच का भाव बढ़ गया है तथा परिणामस्वरूप भारतीय सस्कृति पर अस्पृश्यता का बडा भारी कलङ्क लग गया है। यदि भारतीय सस्कृति को पुन विश्व-विजयी बनना है, तो यह कलङ्क जल्दी ही धुल जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त धर्मान्धता, अन्ध-विश्वास, सामाजिक रूढ़ियों आदि के रूप में और भी दोष व त्रुटियाँ इस सस्कृति के जीर्ण और जर्जरित कलेवर में समा गई हैं, जिनके कारण जीवन-शक्ति क्षीण होती जाती है।

भारतीय सस्कृति की विश्व को देन—पिछले पृष्ठों में स्पष्ट रूप से समझाया गया है कि प्राचीन भारतीय संस्कृति ने लोक-हित व विश्व-

कल्याण के लिए कितने ही तत्त्व, सिद्धान्त, आयोजनाएँ आदि उपस्थित कीं, उनमे से निम्नाङ्कित अधिक महत्त्वपूर्ण है, जिनसे विश्व आज भी लाभ उठा सकता है। साराश में यही भारतीय संस्कृति की विश्व को देन है—

(१) भारत के ऋषियों ने जीवन-मरण की पहेली सुलझाने के लिए पुनर्जन्म का सिद्धान्त ढूँढ़ा और योग के रूप मे सच्चे जीवन की एक योजना उपस्थित करके आत्मतत्त्व की सर्वोपरि सत्ता स्थापित की।

(२) प्राचीन भारत ने वर्णाश्रम के समान सुन्दर सामाजिक व्यवस्था का सिद्धान्त ढूँढ़ा, जिसको अपनाने से आज भी विश्व के कितने दु ख दूर हो सकते हैं।

(३) भारत के प्राचीन विद्वानो ने गणित विद्या के परमावश्यकीय सिद्धान्त 'सशून्य-दशाशगणनाविधि' को जन्म देकर विश्व का बड़ा भारी उपकार किया। समस्त विश्व ने उक्त गणना-विधि को अपना लिया है।

(४) प्राचीन भारत के आयुर्वेद के सिद्धान्तो को पाश्चिमात्य जगत् ने अपनाया। आयुर्वेद के कितने ही ग्रन्थ अरबी तथा अन्य प्राचीन भाषाओं में अनुवादित किये गए।

(५) प्राचीन भारत के धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्त पौर्वात्य व पाश्चात्य देशों द्वारा अपनाये गए।

(६) प्राचीन भारत की भाषा ने पाश्चिमात्य देशों की भाषाओ को प्रभावित किया।

(७) भारत के ब्राह्मणो ने पूर्वीय द्वीप-समुदाय में कितने ही उपनिवेश स्थापित किये।

(८) प्राचीन भारत के व्यापारियों ने पाश्चिमात्य देशों से व्यापार किया और वहाँ अपनी संस्कृति का प्रचार भी किया।

(९) प्राचीन भारत के कथा-साहित्य ने मध्यकालीन यूरोप के

साहित्य पर खूब ही असर डाला। पञ्चतन्त्र का अनुवाद एशिया और यूरोप की कितनी ही भाषाओं में हुआ।

(१०) प्राचीन भारत का चतुरङ्ग (शतरञ्ज) का खेल मध्यकालीन यूरोप मे फैल गया और वहाँ अत्यन्त ही लोकप्रिय बन गया।